सहजानंद शास्त्रमाला

सुभाषित रत्न संदोह प्रवचन

भाग-3

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

श्री पार्श्वनाथ पुस्तकालय
(DR. N. C. JAIN'S HOME LIBRARY)
गली पार्श्वनाथ, मौ० ठठेरवाड़ा

सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन

तृतीय भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

(१३वां परिच्छेद–अनित्यताका वर्णन)

कार्याणां गतयो भुजंगकुटिलाः स्त्रीणां मनश्चंचलं
नैश्वर्यं स्थितिमत्तरंगचपलं नृणां चयो धावति ।
संकल्पाः समदांगनाक्षितरला मृत्युः परं निश्चितो
मत्वैवं मतिसत्तमा विदधतां धर्ममतिं तत्वतः ॥३१९॥

(१) अनित्यसमागममें न रमकर परमार्थधर्मका आश्रय लेनेका कर्तव्य—इस जगतमें कर्मोंकी गति सर्पके समान कुटिल है अर्थात् ये कर्म कभी तो अनुकूल कार्य करने लगते हैं और कभी ऐसे दुःखोंको लाकर सामने पटक देते हैं कि जिनका स्वप्नमें कभी ध्यान भी न किया गया हो। तो ये कर्म अतीव कुटिल हैं, एक समान स्थिति इस जीवकी कहाँ रह पाती क्षणमें सुखी क्षणमें दुखी। बड़ों बड़ोंकी भी यह ही स्थिति है। इस पर कोई क्या करे ? कर्मका स्वभाव ही ऐसा है। दूसरे पदार्थोंका सम्पर्क कभी समता नहीं उत्पन्न कर देता। यह कर्मगति विचित्र है। दूसरी बात स्त्रियोंका मन बड़ा चंचल है तभी तो वे अपरिमित अनुराग दिखाने लगती है और कभी बेहद रुष्ट हो जाती हैं। जिनपर ये जीव मोहित हैं ये इसके वश कहाँ हैं ? कब प्रसन्न हो कोई, कब रुष्ट हो कोई। उसके कषायके आधीन तो कभी कोई रह नहीं सकता। ऐश्वर्य धन धान्य आदिक सम्पत्तियाँ वायुसे प्रेरित लहरोंके

http://sahjanandvarnishastra.org/

समान चंचल हैं, जैसे समुद्र अथवा बड़ी नदियोंमें लहरें उठती है बड़ी तेज हवासे उन लहरों का चलना होता है तो वे लहर क्षण भरमें कहींसे कहीं पहुंचती हैं। अभी हैं और थोड़े समयमें नष्ट हो जाती हैं, ऐसे ही ऐश्वर्य धन धान्य आदिक सम्पदायें आज हैं, कल नष्ट हो जाती हैं। यह मनुष्योंका समुदाय जिसमें यह मनुष्य राजी रहता है, कुटुम्ब मानता, मित्र मानता कि यह समुदाय भोगने वाला है, ये, तो किसी स्वार्थके कारण ही निकट है और स्वार्थके ही कारण सेवा करते हैं और उनका स्वार्थ जब सध जाता है तब वे दूर चले जाते हैं, फिर इनकी अपेक्षा नहीं करता। यह संकल्पविकल्प विचारकी परम्परा मदमत्त स्त्रीके नेत्रके समान चंचल क्षणिक विनाशीक है। विचारसे निरखिये अपने आपमें कभी किसी बातका चिन्तन चल रहा है, थोड़ी देरमें ही अन्य बातका चिन्तन चलने लगता है। तो इस जगतमें जितना सारा समागम है वह अनित्य है। नित्य तो अथवा निश्चित तो केवल एक मृत्यु ही है, अतएव जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे कभी नष्ट भृष्ट न होने वाले सच्चे धर्ममें, आत्मस्वभावमें प्रीति करते हैं और उसी स्वभावमें संलग्न रहा करते हैं। इस छन्दमें बताया गया है कि यह मनुष्य स्वयं क्षण स्थायी है। इसका जीवन सदा टिकने वाला नहीं है और इसको जो भी समागम मिला है वह भी क्षण स्थायी है। सदा रहने वाला नहीं है, क्योंकि सारा समागम कर्माधीन है, पुण्यपापके योगसे प्राप्त होता है। ऐसा सदा कहाँ रह सकता ? योग अनुसार थोड़े समयको निकट होता है, अन्तमें वियोग हो ही जाता है। तो यह पर्याय विनाशीक है, जो समागम मिला वह विनाशीक है तो ये विनाशीक मनुष्य यदि अपने को समझें कि मैं सदा रहूंगा और इन विनाशीक परिग्रहोंको समझें कि ये मेरे साथ सदा रहेंगे तो यह उनकी कितनी मूढ़ता है। जो लोग अपने आपके विश्रामको तजकर, आत्मीय आनन्दरूपी आरामको तजकर बाह्य पदार्थोंमें अपने उपयोगको फंसाते हैं वे महामूढ़ हैं।

श्रीर्विद्युच्चपला वपुर्विधुनितं नानाविधव्याधिभिः
सौख्यं दुःखकराक्षितं तनुमतां सत्संगतिर्दुर्लभा।
मृत्युध्यासि तमायुरत्र बहुभिः किं भाषितैस्तत्त्वतः
संसारोऽस्ति न किंचिदंगिसुरवकृत्तस्माज्जना जाग्रत ॥३२०॥

(२) **सकल समागमोंकी असुखकारिता**—इस संसारमें चेतन अचेतन, दासी दास धन धान्य आदिक स्वरूप वाली लक्ष्मी विद्युतकी तरह चंचल है याने मुख दिखाकर क्षण भर में नष्ट हो जाने वाली है। जिस सम्पत्तिको निरखकर, मोहित होकर अपने स्वरूपको भूले हैं वह सब सम्पत्ति चंचल है। उसके लगावमें आत्माको लाभ नहीं है और जो शरीर है, जो चलता फिरता दिखाई दे रहा है वह अनेक प्रकार व्याधियोंसे असमर्थ हुआ सामर्थ्यहीन हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जाने वाला है । अर्थात् शरीरमें क्षण भरमें कोई न कोई रोग आकर इसे घेर लेता है। शरीर तो व्याधियोंका मंदिर है। इस शरीरमें जितने रोम हैं उससे भी अधिक इसमें रोग लगे हुए हैं। तो इस शरीरका भी क्या व्यामोह करना ? पौद्गलिक है यह शरीर अपने स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न है और फिर जितने भी कष्ट हैं वे इस शरीरके सम्पर्कके कारण ही तो हैं। यदि यह आत्मा जैसा ज्ञानस्वरूप है अकेला ही रहे, इसके साथ परद्रव्यका सम्बन्ध न रहे तो इसको कोई कष्ट नहीं। तो यह शरीर है वह भी इसको दुःखका घर है। तीसरी बात इन्द्रियजन्य जो सुख है वह दुःखसे मिला हुआ है। ऐसा संसारमें कौनसा सुख है जिसमें दुःख न मिला हो। जैसे घर गृहस्थीमें लोग लड़का आदिकको देखकर सुख मानते हैं और साथ कितने दुःख और लगे हुए हैं। कोई भी इन्द्रियजन्य सुख हो उसके साथ दुःख जरूर लगे हुए हैं और नहीं तो इतना तो है ही कि इन्द्रियजन्य सुख थोड़े समयका सुख है, अन्तमें विरस हो जाता है सो वह ही दुःखके बराबर हो जाता है। तो जो कुछ साधन मिले हैं, लक्ष्मी है, देह है, इन्द्रियजन्य सुख हैं ये सब दुःखके घर हैं। हाँ सज्जनोंकी संगति मिलना बहुत मुश्किल है, वह बड़े भाग्यसे ही किसी-किसीको मिलती है क्योंकि जो संसार देह, भोगों से विरक्त पुरुष हैं, सज्जन हैं, उनकी संगतिसे, उनके सद्वचनसे सन्मार्गकी प्राप्ति होती है और सन्मार्गमें फिर कोई संकट नहीं रहता। तो सज्जन पुरुषोंकी संगति मिलना बहुत कठिन है, किसी किसीको मिलती है। यह जो आयु है, जिसके उदयसे जीवित चल रहे हैं वह आयु मृत्युसे आक्रान्त है। जब आयु है, जीवन है तो मरण निश्चित है। सो यह जीवन अधिक समय तक नहीं टिक पाता, इस कारण हे बुद्धिमान मनुष्य इस संसारमें निरखो कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो सदा चिरस्थायी हो और जीवको सुख देने वाला हो। अतः समझिये चित्तमें विवेक लाइये, उठाइये और अपने कर्तव्यको संम्हालिये। अपना कर्तव्य है अपने आत्माके सहज स्वरूपका श्रद्धान् ज्ञान और आचरण। इनमें उपयोग रमेगा तो इस जीवका कल्याण है।

यद्येताः स्थिरयौवनाः शशिमुखीः पीनस्तनीर्भामिनीः
कुर्याद्यौवनकालमानमथवा धाता रतं जीवितं।
चितास्थैर्यमशोचमंतविरसं सौख्यं वियोगं न तु
को नामेह विमुच्य चारुधिषणः कुर्यत्तपो दुश्चरं ॥३२१॥

(३) युवती जीवन इन्द्रियसुख आदिकी अनित्यता जानकर विवेकियोंका तपश्चरण में प्रवर्तन—इस मनुष्यको जो समागम मिले हैं वे सब अनित्य हैं। लोग स्त्रीजनोंके प्रसंगमें सुख समझते हैं, पर ये स्त्रीजन ये भी अनित्य हैं। एक तो इनका शरीर यौवन यह क्षणिक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, इनका जीवन क्षणिक है, अपना जीवन भी क्षणिक है। इन्द्रियजन्य सुख जो इन मनुष्यों को, प्राणियोंको इष्ट हो रहा है वह सब भी क्षणिक है। यदि यह दैव चन्द्र समान मुख वाली मनोहारी स्त्रियोंके यौवनको स्थिर कर देता और जीवनको कभी समाप्त न करता और नाना प्रकारकी चिन्तावोंकी स्थितिको दूर कर देता, इन्द्रियसुखोंका कभी नाश न करता कभी भी इष्टवियोग न होने देता तो फिर ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो इन्हें छोड़कर दुर्धर तपश्चरण करता ? ये सब विनाशीक हैं। चिन्तावोंका प्रवाह इन्हींमें चलता है। इन्द्रियसुख नष्ट हो जाते हैं, इष्टका वियोग होता रहता है, सो इन पदार्थोंके समागममें इस जीवका कल्याण नहीं है। इसी कारण महापुरुष इन सर्व समागमोंको त्यागकर बाह्य आभ्यंतर परिग्रहका त्यागकर आत्माके सहज चैतन्य स्वरूपमें चित्तको रमाते हैं और मोक्षसुख की साधना किया करते हैं। यहांका समस्त समागम नियमसे जीवका अहित करने वाला है। जिन जिनको इष्ट मान रखा है वे नियमसे दुःख देने वाले हैं और फिर अनिष्टोंके समागम भी होते रहते हैं। तो एक निज अंतस्तत्त्वको छोड़कर बाकी कोई भी पदार्थ इस जीवके लिए ध्यानके लायक नहीं है। तो आत्माके लिए सभी बाह्य पदार्थ बेकार हैं। उनके लगावमें, सम्बन्धमें केवल कष्ट ही कष्ट है, इस कारण जिनको हित और अहितका विवेक नहीं है वे पुरुष उस मोक्षसम्बन्धी नित्य सुखकी ही अभिलाषा रखते हैं और उसीके ध्येयसे श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं और इन थोथे असार पदार्थोंके समागममें अपना उपयोग नहीं फंसाते हैं, इस ही में आत्माका हित है, यही सन्मार्गपर गमन है। इसके विरुद्ध तो सब कष्टोंका केवल घर ही है और जन्म-मरणकी परम्पराको बढ़ाने वाला है।

कांताः किं न शशांककांतिधवलाः सौधालयाः कस्यचि-
त्कांचीदामविराजितोरुजघना सेव्या न किं कामिनी।
किं वा श्रोत्ररसायनं सुखकरं श्रव्यं न गीतादिकं।
विश्वं किं तु विलोक्य मारुतचलं संतस्तपः कुर्वते ॥३२२॥

(४) **अवश्य छूटने वाले पदार्थोंको ज्ञानबलसे पहिले ही छोड़ देने पर नित्यसुखकी संभवता**—अच्छे-अच्छे महल ये लोगोंको इष्ट हैं, चन्द्रमाकी कान्तिके समान सफेद वर्ण वाली हवेलियाँ किसे प्रिय नहीं लगती। क्या सज्जन, क्या दुर्जन सभी उन महलोंमें रहना चाहते हैं। लेकिन मिल भी जायें ऐसे स्वच्छ महल तो भी ये सब अनित्य हैं, सदा इस जीवके साथ नहीं रहते, हम कब तक रहेंगे इस महलमें ? तब ही तो इन महलोंको लोग धर्मशाला कहते हैं। धर्मशालामें तो मंत्री आदिकसे निवेदन करने पर कुछ दिन और भी ठहरनेकी इजाजत

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिल जाती है। पर इस महलमें आयुकर्मका क्षय होनेपर एक पल भी ठहर नहीं सकते। तो जो सबको प्रिय हैं ऐसे बड़े-बड़े महल ये सब अनित्य हैं। सुन्दर युवती समूह किसको प्रिय नहीं होती, सभी उनका सेवन करना चाहते हैं, लेकिन उनके समागम भी अनित्य हैं, वे भी नष्ट हो जाने वाले हैं। ये गीत वादित्र आदिक जो कानोको रसायनके समान मधुर लगा करते हैं ये किसको सुख नहीं पहुंचाते ? सभी उनके सुननेका सुख अनुभव करना चाहते हैं। जो जो प्रसंग मिले हैं वे सब अनित्य हैं, ये कुछ काल बाद हमसे अलग हो जायेंगे। तो जब इन पदार्थोंकी अनित्यता विदित होती है, ये सर्वथा ऐसे ही न रहेंगे, इस बातका भले प्रकार जिनको निर्णय है तो सज्जन लोग इन भोगोंसे घबड़ा जाते। अर्थात् भोगना नहीं चाहते। इनका भोगना उन्हें बुरा लगता है और वास्तविकता यह है कि यह उपयोग आत्माके वास्तविक सहजस्वरूपमें लगे और उस स्वके आश्रयमें जो अलौकिक आनन्द मिलता है उस आनन्द का जिसने अनुभव कर लिया है उसको संसारका कोई भी समागम इष्ट नहीं हो सकता। सज्जन पुरुषोंका यह निर्णय है कि ये संसारके सारे समागम जब एक न एक दिन हमें छोड़ ही देंगे तो फिर हम इनको पहलेसे ही क्यों न छोड़ें ? यदि हम इन्हें नहीं छोड़ते तो भी ये छूटेंगे ? अगर इस दुर्दशासे ये छूटे तो कोई लाभ नहीं है बल्कि संसारमें अनन्त दुःख भोगने पड़ेंगे और यदि हम ही खुद विवेक करके हित अहितकी समझ बनाकर इस सब अहितको छोड़ दें और निज हित आत्मस्वरूपमें लगें तो नित्य मोक्षसुख मिलेगा, ऐसा जिसके निर्णय है वह ज्ञानी पुरुष इन समस्त संग प्रसंगोंको छोड़कर परमार्थ तपश्चरण करने लगते हैं। परमार्थ तपश्चरण है निज सहज आत्मस्वरूपमें अपने आपके आत्माका अनुभव करना कि मैं यह हूं शाश्वत ज्ञानानन्द स्वरूप।

कृष्टेष्वासविमुक्तमार्गणगतिस्थैर्यं जने यौवनं
कामान्क्रुद्धभुजंगकायकुटिलान्विद्युच्चलं जीवितं।
अंगारानलतप्तसूतरसवद् दृष्ट्वा श्रियोऽप्यस्थिरा
निष्क्रम्यात्र सुबुद्धयो वरतपः कर्तुं वनांतं गताः ॥३२३॥

(५) यौवन जीवनकी क्षणभंगुरताका परिचय कर निर्ग्रन्थ होकर परमार्थताकी आराधनामें ज्ञानियोंकी प्रगति—ज्ञानी पुरुषने यह निर्णय किया कि आज तो हमारा यौवन काल है इस कारण मौज उड़ा रहे हैं परन्तु यह यौवन समय शीघ्र ही चढ़े हुए धनुषसे बाण के समान वियुक्त हो जाने वाला है। जैसे कोई पुरुष बाण चला रहा हो तो उस चढ़े हुए धनुषपरसे बाण शीघ्र ही निकल जाता है, अलग हो जाता है, ऐसे ही यह जवानी भी शीघ्र ही दूर हो जाती है, क्षणिक है, विनाशीक है। आज जो मनमाने भोग भोगनेमें आ रहे हैं वे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्रुद्ध हुए भुजंगके शरीरके समान टेढ़े हैं अर्थात् शीघ्र ही विपरीत हो जाते हैं। जो भोग भोगे जा रहे हैं इनका परिणाम खोटा ही निकलेगा। जो लक्ष्मी अभी दृष्टिगोचर हो रही है, जिसको हम अपनी समझते हैं वह अंगारेसे तपाये गये पारेकी तरह चंचल है, क्षण भरमें उचटकर अलग हो जाने वाली है। यह जो हमारा जीवन है वह भी बिजलीकी चमकके समान अस्थिर है। जैसे बिजलीकी चमक होती है, थोड़ी देरको हुई, फिर विलीन हो जाती है ऐसे ही यह जीवन भी विलीन हो जाता है। कुछ पता नहीं कि कब नष्ट हो जाय। इस कारण परमार्थ तपश्चरणकी साधना करना ही श्रेष्ठ है। आत्माके लिए हितकारी है, ऐसा निर्णय करके जो उत्तम पुरुष हैं, विवेकी जन हैं वे सर्व परिग्रहोंका त्यागकर केवल एक सहज आत्मस्वरूपकी आराधनामें ही लग जाते हैं और उस आनन्दसे भव-भवके कर्मोंका विध्वंस कर देते हैं।

वपुर्व्यसनमस्यति प्रसभमंतको जीवितं
धनं नृपसुतादयस्तनुमतां जरा यौवनं।
वियोगदहनं सुखं समदकामिनीसंगजं
तथापि बत मोहिनो दुरितसंग्रहं कुर्वते ॥ ३२४ ॥

(६) **क्लेशकारी पदार्थोंमें मोही जीवोंकी रति**—इस संसारमें राज, यक्षमा आदिक अनेक रोग इस शरीरको नष्ट कर देने वाले हैं। एक तो शरीर स्वयं ही शीर्णताकी ओर चलता है फिर इसमें बड़े-बड़े राज, यक्षमा आदिक रोग लग जायें तो शरीरको ये नष्ट कर ही देते हैं। दूसरी बात—यमराज सरीखे बलवान शत्रु प्राणोंके नाश करने वाले हैं। जब आयुका क्षय होता है तब प्राण शरीरमें नहीं टिक पाते। तीसरी बात—भाई बंधु पुत्र राजा आदिक हिस्सेदार या चोर डाकू आदिक लुटेरे इस धनको छीन लेने वाले हैं, जिस धनको ये प्राणी अपने प्राणोंके समान प्रिय मानते हैं। यह मनुष्य, यह धन भी सदा रहनेका नहीं। चौथी बात—जब जीवित रह रहे हैं तो वृद्धावस्था तो आयगी ही। तो वृद्धावस्था इस यौवनकी शत्रु है, यौवन आया है और वही बना रहे, जवानी ही बनी रहे ऐसा नहीं होता। जिसको जवानी आयी है वह जीवित रहेगा थोड़ा तो वृद्धावस्था ही तो आयगी। और अंतिम बात—युवतियोंके संगसे उत्पन्न होने वाला सुख वियोगरूपी अग्निसे भस्म हो जाने वाला है। ऐसा तो यह सारा समागम है, परन्तु यह प्राणी इन समागमोंमें ऐसा मूढ़ बन रहा है, मोहके नशेमें ऐसा चूर हो रहा है कि जो घटनायें बीत रही हैं इस क्षणविध्वंसताका कुछ ध्यान नहीं देता और पापका बोझ ही अपने सिरपर लादे रहा करता है। सब कुछ अनित्य है, सब कुछ धोखा देने वाला है, किन्तु यह भोगोंसे विरक्त नहीं होता और उन विषयोंमें ही आसक्त रहकर कर्मोंका बोझ लादे रहता है। भविष्यमें भी जन्ममरणके दुःखोंकी परम्परा यह प्राप्त

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करता रहेगा।

अपायकलिता तनुर्जगति सापदः संपदो
विनश्वरमिदं सुखं विषयजं श्रियश्चंचलाः।
भवंति जरसाऽरसास्तरललोचना
योषितस्तदप्ययमहो जनस्तपसि नो परे रज्यति ॥३२५॥

(७) **अन्तस्तत्त्वकी सुधसे शून्य मोही जीवोंकी सापद संपत्तिमें विनश्वर लोकसुखमें चंचल लक्ष्मी आदिमें व्यामोह**—यह शरीर नाना अपायोंसे सहित है, इसमें अनेक विघ्न पड़े हुए हैं और अचानक ही यह कभी भी नष्ट हो सकता है। यह समुदाय जो पौद्‌गलिक है, भिन्न है, फिर भी यह नेत्रोंको सुन्दर लगता है, मनको तृप्तिकारी जंचता है। ये सारी सम्पत्तियाँ आपत्तियोंसे वेष्ठित हैं। कैसा इन प्राणियोंको मोह लगा हुआ है कि आपत्तियाँ झेलते जाते हैं और सम्पत्तिकी तृष्णा करते जाते हैं। इस सम्पत्तिकी तृष्णासे, इसके सम्पर्कसे नाना आपत्तियाँ आती हैं, पर उन आपत्तियोंको यह देखता ही नहीं है और इन सम्पत्तियोंके संग्रह करनेमें लगा हुआ है। ये समस्त सम्पत्तियाँ आपत्तियोंसे भरी हुई हैं। ये विषयजन्य सुख ५ इन्द्रियमें अथवा मनके विषयोंमें जो भी सुख मालूम किए जाते हैं वे समस्त सुख विनाशीक हैं। अपनेसे अंदाज कर सकते हैं कि इस जीवनमें अब तक कैसे कैसे विषयसुखोंको भोगा मगर वह सुख, वह आनन्द आज भी है क्या? वह सब सब विनश्वर है, यह लक्ष्मी विभूति सब चंचल है, सदा नहीं टिकती। ये यौवनके मदसे मस्त हुई स्त्रियाँ बुढापेसे ग्रस्त हो जाती हैं। आखिर वृद्धावस्था उन स्त्री जनोंको भी आती है और उस बुढापेमें विरस हो जाती हैं, सुन्दरता सब खतम हो जाती है, बल्कि और भयानकरूप बन जाता है, सो ऐसा तो इस संसारका यह कार्य है लेकिन यह प्राणी इन्हीं पदार्थोंमें अनुराग बनाये रहता है, आत्माका जो श्रेष्ठ कार्य है परमार्थ तपश्चरण, अपने आपमें अपने सहज स्वरूपको निरखना और यह मैं हूं, ऐसा अपने आपको अनुभवना, इसमें जो आनन्द प्रकट होता है उसमें ऐसा सामर्थ्य है कि भव-भवके बाँधे हुए कर्म इसके खिर जाते हैं। सो जो अपना वास्तविक कार्य है, अपने लिए हितकारी है, सुगम है, स्वाधीन है, जिसमें कष्टका नाम नहीं है, बल्कि अलौकिक आनन्द जगता है ऐसे अपने कार्यकी ओर, इस परमार्थ तपश्चरणकी ओर तो ध्यान नहीं देता और इन विनश्वर चीजोंमें ही अनुराग बना रहता है। कोई पुरुष किसीसे एक बार धोखा खाये तो वह उसका दुबारा नाम नहीं लेता, पर इन सामग्रियोंसे हम निरन्तर धोखा खाते रहते हैं, दुःख पाते रहते हैं फिर भी इन सुख सामग्रियोंमें ही व्यामोह बनाये रहते हैं, यह इस आत्मापर बड़ा भारी संकट है। अज्ञानके समान संकट और कुछ नहीं है। अज्ञान,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मोह, मिथ्यात्व ये सभी एकार्थवाचक हैं। जहाँ वस्तुवोंके स्वतंत्र सत्त्वका निर्णय नहीं है, एकका दूसरेपर अधिकार जान रहे हैं वहाँ नाना विकल्प उठेंगे ही और जहाँ ऐसे विकल्प जगते हैं वहाँ इसको कष्ट होगा ही। तो जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे समग्र पदार्थोंको छोड़कर शाश्वत सहज निज चैतन्यस्वरूपमें उपयोग रमाकर आनन्द पाते रहते हैं।

भवे विहरतोऽभवन् भवभृतो न के बांधवाः
स्वकर्मवशतो न केऽत्र शत्रवो भविष्यंति वा।
जनः किमिति मोहितो नवकुटुंबकस्यापदि
विमुक्तजिनशासनः स्वहिततः सदा भ्रश्यते ॥ ३२६ ॥

(८) **खुदगर्ज लोकमें भ्रान्त प्राणीका व्यामोह कर कर परिभ्रमण**—इस संसारमें अनादिकालसे परिभ्रमण करते हुए इस जीवके कितने कौन-कौन बांधव नहीं हुए और स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए कौन-कौन मित्र नहीं हुए और स्वार्थ न सधनेके कारण कौन-कौन शत्रु नहीं हुए ? इस लोकमें यह जीव अनादिसे ही परिभ्रमण करता चला आया है। न तो जीव की आदि है न कर्मसम्बंधी आदि है, न समयकी आदि है, अनन्तकाल व्यतीत हो गया। तब से कितने ही भव धारण किये। उन अनन्त भवोंमें कभी किसी जीवके साथ, कभी किसी जीव के साथ अनेक रूपोंमें संयोग हुआ। सो कितने बंधु हुए होंगे और कितने ही लोग स्वार्थ सिद्ध करने वाले हुए होंगे, मित्र हुए होंगे, और स्वार्थसिद्धिमें बाधा आयी हो तो शत्रु भी बन गए। शत्रु और मित्र वस्तुतः कोई मोही मोहीका नहीं बनता। जहाँ स्वार्थसिद्ध हुआ वहाँ तो वह मित्र हो जाता है, जहाँ स्वार्थसिद्धिमें बाधा आयी वहाँ वह शत्रु हो जाता है। तो यह प्राणी इस तरह मोहके फंदेमें फंसकर अब भी नवीन-नवीन कुटुम्बकी वृद्धि करता चला जाता है। जब अनन्त प्राणी इसके बंधु हो गए तो ये ही जीव तो प्रायः अनेक बार संगमें आते रहते हैं। इतने कुटुम्ब पाये फिर भी नवीन-नवीन कुटुम्बकी यह वृद्धि करता चला जाता है। हर भवमें यह संतानको, पुत्रादिकको तरसता है, हुए कितने ही, कितनोंका ही वियोग हुआ, सारी आफतें सही, फिर भी इसकी अभिलाषा शान्त नहीं होती और उस कुटुम्ब वृद्धिके सम्बंधसे आयी हुई विपत्तियोंको अपने सिरपर लादता रहता है, ऐसी उस घटना परिस्थितिमें विह्वल होता रहता है, यही कारण है कि वास्तविक हितकारी जो जैन-शासन है जहाँ पर वस्तुका सही-सही स्वरूप दिखाया गया, जिसके अध्ययनसे, मननसे इस जीवका मोह संकट, समस्त संकट नष्ट हो जाते हैं। उस शासनको भूलकर यह जीव इधर-उधर भटकता है और सतत कष्ट भोगता रहता है। यह मोह ऐसा कठिन दुःखदायी है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दृढोन्नतकुचात्र या चपललोचना कामिनी
शशांकवदनांबुजा मदनपीडिता यौवने।
मनो हरति रूपतः सकलकामिनां वेगते
न सैव जरसार्जिता भवति वल्लभा कस्यचित् ॥३२७॥

(६) प्रेमपात्र युवती जनोंकी वृद्धावस्थामें विड्रूपता—लोगोंको इन्द्रियसुखोंमें सबसे अधिक प्रिय लगता है स्पर्शन इन्द्रिय सुख। सो स्त्रियोंकी संगतिको यह मोही बहुत पसन्द करता है। सों वे स्त्रियाँ युवावस्थामें बड़े दृढ़ सौन्दर्य वाली थीं, जिनका शरीर भोग काम चाहने वाले पुरुषोंको पीड़ा देने वाला है। दृढ़ उन्मत्त स्तन वाले कामकी बाधासे जिनके नेत्र सदैव चंचल रहते हैं वे ही स्त्रियाँ जब वृद्धावस्थामें आती हैं तो भयंकर दिखने लगती हैं। बताते हैं अथवा निरखते हैं कि स्त्रियोंके नेत्र चंचल होते हैं, उस चंचलताका कारण उनको बाधा है। और विशेषकर कामकी बाधा है, और ऐसे ही उनके गुप्त अंग हैं कि जिनमें ऐसी पीड़ा रहती है जिसके कारण उनके नेत्र चंचल रहा करते हैं। तो जिसे कामी जन सुन्दरता समझते हैं वह तो उन स्त्रियोंके लिए पीड़ा और विडम्बना बनी हुई है फिर भी ये मोही जन उनमें आसक्त होते हैं। तो ये युवती जन जिनकी जवानीमें मुखकी सुन्दरतासे चन्द्रमाके बिम्बको भी लज्जित कराया जाता है, जो अपने सुन्दर सुघड़ शरीरके संगठनको देखते ही कामी पुरुषोंके मनका हरण कर लेती है। ये स्त्री जन जब वृद्ध हो जाती है उस समय किसीके भी मनका हरण नहीं कर सकतीं। मन हरण करनेकी तो बात दूर रही फिर उनकी तरफ कोई ताककर भी नहीं देखता। स्त्रीजनोंका शरीर पुरुष शरीरसे अधिक सुगम और सुन्दर नहीं हुआ करता, किन्तु कामवासनासे पीड़ित पुरुष ऐसा निरखते हैं। करीब-करीब सभी जातिमें पशु हों, पक्षी हों, मनुष्य हों, ऐसा देखा जाता है कि पुरुष जातिका शरीर दृढ़ और सुन्दर होता है। स्त्री जातिका शरीर किसी भी भवमें पुरुष शरीरकी अपेक्षा सुन्दर नहीं है लेकिन कामासक्त पुरुषोंके द्वारा वह स्त्रीशरीर सुन्दर होता जाता है, सो जब वह स्त्रीशरीर वृद्धा हो जाता है तो कामी पुरुषोंके लक्ष्यकी चीज तो रही नहीं। तब वह शरीर एक तो प्रकृत्या ही बेडौल था, अब वृद्धावस्थाके आनेसे वह अधिक बेडौल हो गया। अब इस शरीरकी ओर कोई पुरुष ताककर भी नहीं निरखता। तात्पर्य यह है कि जिस संग को पुरुष तरसते हैं वे युवती भी विनाशीक हैं, उनका रूप विनाशीक है, उनके प्रति मुग्ध होना यह अज्ञानियोंका व्यापार है। विवेकी पुरुष तो उनसे उपयोग हटाकर सहज सुन्दर निज सहज परमात्मतत्त्वकी धुनमें लगा करते हैं और वहीं बसकर सहज आनन्दका अनुभव किया करते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इमा यदि भवंति तो गलितयौवना नीरुचस्तदा
कमललोचनास्तरुणकामिनी: कोऽभुचत् ।
विलासमदविभ्रमान भ्रमति लुंटयित्री जरा
यतो भुवि बुधस्ततो भवति निस्पृहस्तत्सुखे ॥३२८॥

(१०) **वस्तुत: बाह्यार्थोंसे रंच हेलमेल न होनेपर भी मोहीका अज्ञानवश उनमें व्यामोह**—कामी पुरुषोंके द्वारा चाहा गया युवती शरीर यौवन स्थितिसे जीर्ण शीर्ण कान्तिरहित हो जाता है। यदि इस संसारमें स्त्रियाँ यौवन अवस्थासे कभी न गिरतीं अर्थात् सदा युवती बनी रहतीं, कान्तिरहित न होती तो इन्हें फिर कोई पुरुष न छोड़ता, परन्तु ऐसा है ही नहीं। जब वृद्धावस्था आती है तब उन युवतियोंके समूहका विलास यह वृद्धावस्था लूट लेती है। अब वहाँ विलास शृङ्गार उनकी मदमस्तीका विभ्रम अंगोंका उस प्रकार हिलना डुलना, चंचलता ये सब नष्ट हो जाते हैं। सो यह वृद्धावस्था नियमसे आती ही है और समयपर वह अवश्य ही युवतियोंको विलास, मद आदिकसे रहित कर देती है। इसी कारण विद्वान लोग जिनको विवेक है और वस्तुस्वरूपका बोध है वे युवतियोंके सुखसे सदा विमुख ही रहते हैं। काल्पनिक पराधीन विडंबनामय सुखकी आकांक्षा उन्हें नहीं रहती, और जब काल्पनिक सुखकी आशा छोड़ दी है तो वे विवेकी पुरुष कभी भी स्त्रियोंसे अपना हेलमेल नहीं बढ़ाते। उनमें स्पृहा नहीं रहती। कहाँ तो यह भगवान आत्मा सहज ज्ञानानन्दका निधान और कहाँ अपने स्वरूपको भूलकर खोटे वीभत्स अपवित्र गंदे स्त्रीशरीरमें ये अज्ञानी जन प्रीति करते हैं। यह पवित्र और अपवित्र आत्माका बहुत बड़ा अन्तर है। विवेकी जन अपवित्र कार्योंसे मुख मोड़ते हैं और आत्माके सहज पवित्र चैतन्यस्वरूपके अनुभवकी ओर ही अपने उपयोगको बढ़ाते है और संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूटनेमें सफल हो जाते हैं।

इमा रूपस्थानस्वजन तनयद्रव्य वनितासुता-
लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमति प्रीति धृतय: ।
मदांधस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपला: सर्वमविनामहो
कष्टं मर्त्यस्तदपि विषयान् सेवितुमना: ॥ ३२९ ॥

(११) **अनित्य भिन्न अशुचि शरीरमें प्राणीका व्यर्थ व्यामोह**—संसारमें जितने भी पदार्थ हैं, जिनको यह जीव विषय बना बनाकर भोग रहा है ये सभी पदार्थ विनाशीक हैं। मोही जीवोंको इन विषयोंमें प्रीति है, उनके विषयमें सही ज्ञान नहीं है। यह पर्याय भी नष्ट होगी। यहाँ जो कुछ समागम मिला है यह भी नष्ट होगा, यह बुद्धि उनकी नहीं बनी है। उनकी दृष्टिमें यह श्रद्धा है कि ये सदा रहेंगे। जो कुछ मिला है यह मेरेको छोड़

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कर कहां जायगा, यह सदैव रहेगा ऐसी उनकी श्रद्धा है, किन्तु निष्पक्ष दृष्टिसे देखें तो जो कुछ भी मिला है, प्रथम तो अपने शरीरकी ही बात लो, शरीर मिला है, जवान हुए, सुन्दरता है, कान्ति बिखर रही है, इस शरीरकी क्या हालत हो जायगी ? थोड़े ही दिनोंमें यह शरीर कान्तिहीन हो जायगा वृद्ध हो जायगा और की तो बात क्या यह कभी भी नष्ट हो सकता है । फिर इस शरीरसे प्रीति क्यों ? अब भले ही शरीर स्वस्थ हुए बिना धर्मसाधना न हो सके, मन न लग सके, लेकिन इस शरीरको एक सेवककी तरह जानकर इसका पालन हो वह तो कर्तव्यमें आ जायगा, मगर यही मैं हूं, उसे ही देखकर अहंकार जगना, उस हीमें अपना मन रमाना, यह तो संसारमें जन्ममरण करते रहनेका उपाय है सही श्रद्धामें आना चाहिये कि मैं क्या हूं ? उसका सही बोध हुए बिना बाह्यपदार्थोंका सही निर्णय नहीं बना सकते । मैं एक अमूर्त चैतन्यस्वरूप पदार्थ हूं । सबसे निराला हूं । देखते ही हैं कि शरीरको छोड़कर चला जाता है यह जीव । कोई निकल गया शरीरसे, इसी अपने शरीरको छूकर भी आप बात कर सकते हैं । यही शरीर किसी दिन पड़ोसियों द्वारा, बंधुवों द्वारा श्मशानमें इस तरह जला दिया जायगा जैसे कि हम आपने दूसरोंके शरीरोंको जलाया है । सो इस शरीरमें क्या आसक्ति रखना ? उसे यह मैं हूं, ऐसा मानना एक तीव्र व्यामोह है ।

(१२) शरीर कुटुम्ब आदिके प्रति निर्मोह हुए बिना धर्मपालनका अभाव—धर्मपालन तब तक प्रारम्भ न होगा जब तक निर्मोह स्थिति श्रद्धामें न आयगी । शरीरको माना कि यह मैं हूं, कुटुम्बको माना कि ये मेरे ही हैं । ये ही मेरे सर्वस्व हैं, ऐसी तो भीतर श्रद्धा बनी रहे और मंदिर आयें, पूजा पढ़ें और मान लिया कि मैंने धर्म कर लिया, तो यह कोई संतोष माननेकी बात नहीं है । हां थोड़ा एक अच्छे काममें लगे हैं तो आगे उम्मीदवार तो अच्छा है, कोई समय ऐसा आ सकता है कि सही ज्ञान जग जाय, पर वर्तमान हालत तो ठीक नहीं है । मोही जीव शरीरको देखकर मानता कि यह मैं हूं, कुटुम्बको समझ रखा कि ये ही मेरे सर्वस्व हैं, धन वैभवके संयोगमें उसे मान लिया कि यह ही मेरा ऐश्वर्य है, ऐसी श्रद्धा वालोंको धर्मपालन हो ही नही सकता, क्योंकि धर्म नाम है आत्माके यथार्थस्वरूपका । जब उसकी दृष्टि ही नहीं है, समझमें ही नहीं है तो कैसे वह यह भाव बना सकता है कि हमें तो शरीररहित बनना है । जब तक यह शरीर जीवके साथ लगा है तब तक संकट ही संकट है । खूब निरख लीजिए, अगर कहीं अपमानका संकट समझते हैं तो जब शरीरको मान रखा कि यह मैं हूं और मुझको इसने ऐसा अपमान किया है, ऐसा कष्ट दिया है, ऐसे वचन बोला है, अपमानका संकट मिला तो इस शरीरके सम्बंधके कारण । भूख प्यासका संकट रहता है तो इस शरीरके कारण । रोगका संकट है शरीरके कारण, इष्टवियोगका संकट

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है तो शरीरके कारण। अमूर्त आत्मासे किसका संयोग, किसका वियोग ? जब शरीरको मान रखा कि मैं यह हूं तो दूसरेके शरीरको मान रखा कि ये मेरे बंधु हैं, ये मेरे मित्र हैं, कभी वियोग अवश्य होगा। ऐसा कोई नहीं है संयोग जिसका वियोग न होता हो। वियोग होनेपर दुःख मानता है। तो वियोगजन्य दुःखका कारण है यह शरीरका सम्बंध। अनिष्ट संयोगमें जो दुःख माना जाता है उसका भी कारण शरीरका सम्बंध है, जितने कष्ट हैं वे इस शरीरके सम्बंधके कारण हैं, पर यह मोही जीव इस शरीरको ही मानता है कि यही मेरा सर्वस्व है, दुःखदायी है। इस शरीरको इस जीवने अपनाया है। यह सुन्दरता, यह शरीर, ये सब नष्ट हो जाने वाले हैं।

(१३) **स्थान स्वजन परिजनका व्यर्थ व्यामोह**—यह स्थान जो आज मोहियोंके प्रबंधमें राज्यमें रजिस्टर्ड हुआ है, यह मकान मेरा ही है, यह मकान इसका ही है, यह सब मायारूप है। स्वप्नमें देखे हुए की तरह है। यदि यह स्थान मकान भगवानके ज्ञानमें रजि-स्टर्ड होता, उनके ज्ञानमें झलका होता कि यह इसका मकान है तब तो वह पक्की बात थी। यहाँ तो मोही मोहियोंका प्रबंध है जो अपने ढंगके कानून बनाया है। उसमें व्यवस्था बन गई कि यह इसका है, यह इसका नहीं है, पर वह स्थान, यह सब ठाट-बाट वैभव यह भी भिन्न है, विनाशीक है, जिसमें व्यर्थ ही लोग प्रीति करके वहीं एक संकुचित बन जाते हैं। अपने आत्मतत्त्वकी ओर नहीं निहार पाते। ये कुटुम्बी जन जिसको अपना बड़ा प्रिय समझते हैं, बाहरी दृष्टिसे विचार करें तो जब तक सम्बंध है तब तक आत्महित कहाँ हो रहा आत्मा का ? राग मोहके स्थान बनकर यह इसको संकट ही तो उत्पन्न करता है। इस कुटुम्बके कारण ही तो इतनी चिन्ता, इतना भार, इतना पाप, ऐसी कल्पनायें उठायीं तो उससे मिला क्या ? तिसपर भी वह अनित्य है, विनश्वर है, वियोग नियमसे होगा। जितने पुत्र पुत्री आदिक माने गए जीव हैं वे इस आत्माका क्या हित कर देते हैं ? उनके ममत्वके कारण इस जीवका अनिष्ट ही हो रहा है, तिसपर भी यह जीव उनको सही नहीं समझ पाता। अनित्य हैं, भिन्न हैं, मेरे जीवसे इनका कोई सम्बंध नहीं है, ये स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं, इनका परिण-मन इनके आधीन है, इनमें मेरा रंच लगाव (सम्बंध) नहीं है, ऐसा नहीं मान पाता यह जीव और इस मायामें रच-पचकर यह अपने जीवनके दुर्लभ क्षणोंको बेकार कर देता है। स्त्री, शोभा, कान्ति, कीर्ति, ये सब काल्पनिक हैं, विनश्वर हैं।

(१४) **किसकी कीर्ति**—कीर्ति किसका नाम है ? क्या कहीं आत्माकी कीर्ति गायी जा रही है ? आत्मा तो अमूर्त ज्ञानमात्र है, उसे दृष्टिमें लेकर कोई कीर्ति गा रहा है क्या ? कीर्तिका आधार बना है यह शरीर। जैसे स्टेचू बनाना, फोटो बनाना, नाम लिखाना आदिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जो कुछ भी बने, कीर्तिके प्रसारमें जो कुछ भी किया जाता है वह सब इस शरीरके कारण ही तो किया जा रहा है। यह शरीर मायारूप है, माया कहते हैं उसे जो अनेक द्रव्योंसे मिलकर बने। यह अनन्त परमाणुवोंका मिलकर एक पुञ्ज बन गया है। यह माया है, बिखरेगा। इसमें परमार्थ तो केवल एक परमाणु है। वह परमाणु नष्ट नहीं होता, पर जो एक माया (सकल) बन गई है वह नष्ट हो जाती है। किसकी कीर्ति, कहाँ कीर्ति, कितने समयको कीर्ति, किनमें कीर्ति? इन सभी प्रश्नोंका उत्तर लीजिए तो सही। कीर्ति लोग पैदा करना चाहते हैं इस विनश्वर पर्यायका। इस सहज ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्वकी कीर्ति क्या कहीं बाहर की जाती है? उसकी कीर्ति तो अपने आपके आत्माके अन्दर ही होती है और वह सहज आनन्द को उत्पन्न करती हुई होती है। उसका परिचय केवल एक इस स्वानुभव करने वाले को ही रहता है। दूसरेको तो पता ही नहीं है। जिसको संसारकी कीर्ति कह रखी है वह सब माया है। इस विनश्वर पर्यायके सम्बन्धकी चीज है। सो यह कीर्ति असार है।

(१५) **किनमें कहां कब तक कीर्ति**—लोग किसमें कीर्ति चाहते हैं? लोगोंमें, इन मायामयी पर्यायोंमें जो स्वयं विनाशीक हैं, कर्मोंके प्रेरे हैं, दुःखसे भरे हैं, मोह अंधकारमें यत्र तत्र भटक रहे हैं, उनमें कीर्ति चाहते हैं। इसमें कुछ लाभ है क्या आत्माको? किसकी कीर्ति चाहना इस दुनियामें? कितनी बड़ी है दुनिया? ३४३ घनराजू कहा जाता, इतना बड़ा विशाल विस्तार है। जैसे समग्र दुनियाके आगे आज हम आपकी परिचित दुनिया विशाल समुद्रके आगे एक बूंद बराबर है। इस बिन्दु बराबर जगहमें यह मनुष्य कीर्ति विस्तारना चाहता है और इसीके चक्करमें यह ऐसा कर्मबन्ध करता है कि जन्ममरणकी परम्परा ही इसे भोगनी पड़ती है। कहाँ कीर्ति चाहते? कितने समयको कीर्ति चाहते? किसीसे कहा जाय कि तुम्हारा नाम २० वर्ष तक रहेगा। बादमें मिटा दिया जायगा, तो उसको पसंद नहीं आती यह बात। जैसे किसीने पहले फर्श लगा रखी हो किसी मंदिर आदि में अपने नामसे, अब पुरानी हो जाने से उसे कोई उखाड़ कर दूसरी फर्श लगवाना चाहे तो उस फर्शको उखड़वाने में उस लगवाने वाले के कुटुम्बी लोग इन्कार करते हैं, कह देते हैं कि इस नामको इस जगहसे क्यों मिटाया जा रहा है? यह तो हमारे पुरुषोंका नाम है। तो इस जीवके चित्तमें यह है कि सदा मेरी कीर्ति रहे, पर सदाका ख्याल है। अनन्त काल कितना कहलाता है, उस अनन्त कालके आगे यह १००–५० वर्षका समय क्या कीमत रखता? यह समय तो एक विशाल समुद्रके आगे बिन्दु बराबर भी स्थान नहीं पाता। यह परिचित क्षेत्र तो चाहे बिन्दु बराबर गिनतीमें आ सके क्योंकि परिमित क्षेत्र है पर काल तो

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनादि अनन्त है। उस अनन्त कालके सामने यह १००–५० वर्षका समय तो एक बिन्दु बराबर भी तुलनामें नहीं आ पाता। तो कितने कालके लिए कीर्ति? कीर्तिका चक्कर इस जीवके लिए कल्याण होनेका बाधक है।

(१६) अहङ्कारमर्दक विवेकी जनोंके उद्धारकी संभवता—यशचाहका रोग इस मनुष्य को विकट लगा है जिसके कारण उत्तम साधन समागम, उत्तम जिनशासन पाकर भी यह अपना कल्याण नहीं कर पाता। इस मनुष्यपर्यायमें मान कषायकी मुख्यता है। लोग तो कहते हैं कि लोभकी मुख्यता है, लोगोंमें लोभकी भावना अधिक दिखाई दे रही है ऐसा बोलते हैं लोग, पर लोभकी मुख्यता नहीं है। लोभ भी जो मनुष्य कर रहा है वह अपने मानकी पुष्टिके लिए कर रहा है। मूलमें कषाय देखिये मनुष्यने किया है मान कषाय। मान के वश होकर यह जीव अपनी हत्या तक कर डालता है। मेरा मान रहे, मेरी कीर्ति रहे, लोगोंमें मेरा नाम रहे, इसके लिए जो चाहे अनर्थ कार्य तक करनेको तैयार रहता है। मान कषायका जिन्होंने मर्दन किया वे ही अपने अंतःप्रकाशमान सहज स्वरूपको निरख सकेंगे। नहीं तो इस मानका ऐसा विसम विष है, ऐसा आवरण है कि इसको फिर आत्मस्वरूपका दर्शन ही नहीं हो सकता। तो यह कीर्ति, जिस कीर्तिके लिए यह मनुष्य अपना सब कुछ नष्ट कर रहा है अनित्य है, बेकार है, अनित्य है, संसारमें रुलनेका साधन है। एक बार भी यदि यह मनुष्य सोच ले कि मैं आज मनुष्यभवमें आया तो हूं पर न भी आता, जैसे अन्य अन्य भव हैं उन भवोंमें होता, कीड़ा मकोड़ा आदिक कुछ भी होता तो मेरे लिए फिर ये समागम कुछ भी तो न थे। जिन्हें देखकर मान जगता है, जिनको देखकर मनुष्यके योग्य कार्य करनेके भाव हुआ करते हैं, फिर तो ये कुछ न थे। थोड़ा यों ही मान लो कि मैं इस मनुष्यभवमें न होता, किसी अन्य भवमें होता और मनुष्यभवके जो योग्य कार्य करनेके हैं वे जागृत रखें।

(१७) बुद्धि धैर्य आदिके बिगाड़में जीवकी प्रकट असहायता—भैया, अपनेको मान लें कि मैं दुनियाके लिए कुछ नहीं हूँ, क्यों होऊँ कुछ दुनियाके लिए? दुनियाके लोग मेरा क्या हित कर देंगे? जब मेरा भाग्य बिगड़ेगा, मैं दुःखी होऊँगा तो उस दुःखमें कोई मदद-गार न होगा। आज बुद्धि ठीक है। धन कमाते हैं, आपसे लोगोंका स्वार्थ सधता है, लोग पूछने वाले हैं। कदाचित् किसी वक्त दिमाग खराब हो जाय तो कुटुम्बके लोग जानेंगे कि अब तो यह बेकार है मेरे लिए, यह तो पागल हो गया, तो उसके प्रति किसीकी प्रीति नहीं रहती। कैसा ही कुछ उसपर बीते, पर किसीको उसकी कुछ परवाह नहीं रहती। तो यह सारा स्वार्थमयी संसार है। विवेक इसमें है कि हम अपने सच्चे स्वार्थका काम निकाल लें।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हमारा सच्चा स्वार्थ है आत्माके निज सहज स्वरूपको समझ लेना और उसकी धुन बनाकर, उस सहज ज्ञानमय स्वरूपको ज्ञानमें लेकर ज्ञानका अनुभव कर लेना जिससे कि अलौकिक आनन्द प्रकट होता है, यह काम यदि जीवनमें किया जा सके तब तो यह जीवन सफल है अन्यथा अनन्त जीवन पाये, उन्हींकी तरह यह भी जीवन समझो। संसारमें जो कुछ भी नजर आता है बुद्धि, कीर्ति, धैर्य, वैभव ये सभीके सभी अनित्य हैं। तो विवेकी जनोंका कर्तव्य है कि वे उनके सेवनेकी इच्छा न करें और अपने शाश्वत सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टि करके अपने आपमें ही मग्न होकर अलौकिक आनन्दका लाभ लें। खास इसीलिए ही जीवन समझें, यह जीवन विषय भोगनेके लिए नहीं है, क्योंकि उनमें सर्वत्र आकुलता है। ये सब तो संसारमें रुलनेके साधन हैं। उनका विकल्प छोड़कर आत्मा और परमात्माके स्वरूपका ध्यान करें इनके स्वरूपदर्शनमें ही अपने ज्ञानको बसायें, बस यही एक अलौकिक आनन्द पानेका सच्चा उपाय है।

सहात्र स्त्री किंचित्सुतपरिजनैः प्रेम कुरुते
वश प्राणो भोगो भवति रतये किंचिदनया।
श्रियः किंचित्तुष्टिं विदधाति परां सौख्यजनिकां
न किंचित्पुंसां हि कतिपयदिनैरेतदखिलं ॥३३०॥

(१८) **समागत इष्ट अर्थोंके शीघ्र वियोगकी अवश्यंभाविता**—इस लोकमें स्त्री पुत्रादिक कुटुम्ब जो कुछ भी प्रेम करते हैं वह सब थोड़े दिनोंकी ही बात है। कुछ दिनके बाद वह अवश्य ही नष्ट हो जायगा। वर्तमानमें जिन्हें स्त्री पुत्रादिक कुटुम्ब मान रखा है वे जगतके अनन्त प्राणियोंकी तरह एक भिन्न प्राणी हैं, उनके कर्म, उनका सत्त्व, उनका कार्य, उनका भाव सब उन ही में है। उससे इस मनुष्यका कोई सम्बंध नहीं। तब जो कुछ भी प्रेम करता है वह क्या किसीके लिए प्रेम करता है? वह स्वयं अपने सुखके लिए चेष्टा करता है। उन्हें जब यह दिखता है कि आज्ञा माननेमें मेरेको सांसारिक सुखका लाभ है तो वे आज्ञा मानते हैं, प्रीति दिखाते हैं, सो संसारमें स्त्री पुत्रादिक जो कुछ भी प्रेम करते हैं वह सब थोड़े दिनोंकी बात है। कुछ दिन बाद ये न रहेंगे। दूसरी बात—अपने आधीन हुए इन्द्रियभोग जो भी अनुराग पैदा करते हैं वे सब भी थोड़े दिनोंके ही हैं। कुछ दिनोंके बाद वे सब भी नष्ट हो जायेंगे। घरमें रहते हैं, इन्द्रिय भोगके अनेक साधन जुटे हैं, जब चाहे जिस इन्द्रियका सुख भोगते हैं। घरके कमरेमें ही सिनेमा जैसे टेलीविजन लगे हैं, घर घर गान-तान सुननेके लिए रेडियो हैं। देखनेके सब सुख हैं, सुननेके सब सुख हैं। सभी इन्द्रियों के साधन घरमें बसा रखा है और उन भोग साधनोंमें अपना मन बहलाते हैं, जब चाहे स्त्री

http://sahjanandvarnishastra.org/

संग किया, जब चाहे मिष्टान्न रसायन खाया, फूल इत्र आदिकसे अपने कमरेको सजाते हैं, मनमाने भोग साधन जुटाते हैं और ये इन्द्रियभोग जो कुछ भी अनुराग पैदा करते हैं वह सब थोड़े दिनोंका ही है। कुछ दिन बाद ये साधन न रहेंगे, ये भोगने वाले दुर्बल हो जायेंगे, यह लक्ष्मी वैभव जो कुछ भी सुखदायिनी मालूम होती है, कुछ संतोष उत्पन्न करतीसी है वह भी सब थोड़े दिनकी बात है। कुछ दिनका समागम पौद्गलिक ठाठ अन्तमें वियोग होगा ही। और ये सब अवश्य नष्ट हो जायेंगे। तो इन सब समागमोंको अनित्य जानकर उनमें प्रीति न करना और शाश्वत आनन्दधाम निज सहज तत्त्वकी आराधना करना यह ही सत्पुरुषोंका कर्तव्य होता है।

विजित्योर्वी सर्वां सततमिह संसेव्य विषयान्
श्रियं प्राप्यानर्घ्यां तनयमवलोक्यापि परमं।
निहत्यारातीनां भुवि वलयमत्यंतपरमं
विमुक्तद्रव्यो हि मुषितवदयं याति मरणं ॥३३१॥

(१६) मृत्यु द्वारा लूटे गये बलशाली पुरुषोंका भी चुपचाप पलायन—यह प्राणी अपने जीवनमें अपनी कषायवासनामें अनुसार सब कुछ कलायें खेलता है। समस्त पृथ्वीको जीतकर अपने आधीन कर लेता है। कुछ ऐश्वर्य है, पुण्यबल है, देहबल है, कुछ चतुराई आयी तो यह सारी पृथ्वीपर अपना राज्य जमा लेता है। ऐसे ऐसे अनेक काम कर डालता है, पर मृत्युपर वश नहीं चलता। यह प्राणी नाना पद्धतियोंसे नाना विषयोंका सेवन करता है। काम, भोग कितने ही साहित्यिक ढंगोंसे, कितनी ही कलावोंसे करता है। अनेक प्रकार के गीत भजन न जाने किस किस विधिसे बना-बनाकर गाते हैं, नाना विधियोंसे नाना विषयों का सेवन कर लेते हैं। कुछ पुण्ययोग है, कुछ उसका बल है, सो यह प्राणी विघ्नरहित नाना प्रकारकी लक्ष्मीको कमा लेता है। भले प्रकार बैंकोंमें जमा करता, जिनमें कोई विघ्न नहीं सम्भव हैं, अपने ही नाम सब जायदाद पड़ी है, उसे दूसरा कोई कैसे छीन सकता है? बड़े कानूनसे, ढंगसे इस लक्ष्मीकी कमाई की है, उसका अधिकारी बना हुआ है, यह बड़े प्रतापशाली श्रेष्ठ पुत्रको भी पा लेता है। दुनियामें बड़े बड़े काम कर डालता है। यह प्राणी प्रचण्ड से प्रचण्ड शत्रुवोंके समूहको भी तितर-बितर करके छिन्न भिन्न कर डालता है, पर जब इसका मृत्युसमय निकट आता है तब इसको रंच भी ऊधम नहीं चल पाता और उस समय ऐसा चुपचाप सारी विभूतिको छोड़कर चल देता है जैसे मानो यह इसी तरह लूटा गया है कि यह चुपचाप यहांसे चल दे। उस समय इसको कुछ भी ऊधमबाजी नहीं चल पाती। तो पुण्ययोग है, कुछ इन्द्रियबल प्राप्त हुआ है, सो यह चाहे मनमाने ऊधम कर ले, जब तक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आयु है, इन्द्रियबल है तब तक जैसी चाहे प्रवृत्ति कर लें, पर जब मरणकाल आता है तो बस सब कुछ छोड़कर चुपचाप हो इसे इस देहसे अलग होना ही पड़ता है अर्थात् कुछ भी कर डालें वह सब बेकार है, अनित्य है, इस जीवके लिए लाभदायी नहीं है।

श्रियोपायाघ्रातास्तृणजलचरं जीवितमिदं
मनश्चित्रं स्त्रीणां भुजगकुटिलं कामजसुखं।
क्षणध्वंसी कायः प्रकृतितरले यौवनधने
इति ज्ञात्वा संतः स्थिरतरधियः श्रेयसि रतः ॥ ३३२ ॥

(२०) **अनित्यसे हट कर नित्य स्वमें ज्ञानीकी रुचि**—जो पुरुष विवेकी हैं, अपना हित समझते हैं, जिनकी बुद्धि स्थिर है वे अपने विचारोंको संतुलित रखा करते हैं। वे जानते हैं कि इस संसारकी समस्त विभूतियाँ नाश सहित हैं। आखिर पौद्गलिक हैं। ये स्वयं मायारूप हैं, खुद भी बिखरने वाली हैं, और जहाँ चाहे चली जाने वाली हैं। ये सर्वविभूति नाश सहित हैं, अपने जीवनके बारेमें भी समझते हैं कि यह जीवन तृण (घास) के ऊपर पड़ी हुई ओसकी बूँदके समान चंचल है। जैसे घासपर ओसकी बूंद पड़ जाय तो प्रथम तो वह घास ओसकी बूंदका भी वजन नहीं सह सकती, वह गिर जाती है और फिर जरा सी देरमें वह बूँद नष्ट हो जाती है, तो जैसे घास पर पड़ी हुई ओसकी बूंद नष्ट हो जाती है इसी प्रकार यह जीवन भी नष्ट हो जाता है, चंचल है, विवेकी पुरुष समझते हैं कि स्त्रियोंका मन विचित्र है और इसी कारण वे स्त्रियोंके आधीन नहीं होते, उनसे विरक्त बुद्धि रखते हैं। भले प्रकार उन्होंने जीवनमें समझा, इन युवतियोंका मन क्षण-क्षणमें पलटने वाला है। कभी प्रेम दिखायेंगी, कभी रोष दिखायेंगी। जब जैसा मौका देखा तब तैसा रोष-तोष किया करती हैं। विवेकी जन जानते हैं कि इन इन्द्रियोंसे भोगा गया सुख सर्पकी गतिके समान कुटिल है। जैसे सर्प सीधा गमन कोई नहीं कर पाता, जो भी सर्प गमन करता है। तो जैसे यह गमन कुटिल है ऐसे ही इन्द्रियजन्य सुख भी कुटिल है, खोटे परिणाम वाला है। यह शरीर जिसे देखकर मोही प्राणी प्रफुल्लित रहा करते हैं, यह पलभरमें नष्ट हो जाने वाला है। यह जवानी जिसे पाकर यह विवेक खो देता है और अविवेकमयी वृत्तियाँ कर लेता है यह स्वभावसे ही चंचल है, जवानी सदा किसको रह पायी ? यह धन भी जिसके पानेसे मदिरापायी पुरुषकी तरह मदसा चढ़ा रहता है वह धन भी स्वभावसे ही चंचल है, ऐसा विवेकियोंने जाना। अतः वे कल्याणलाभकी इच्छासे तपश्चरण आदिक कार्योंमें स्थिरचित्त होते हैं और इस विकार बाह्य अर्थकी संगतिसे विरक्त होते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गलत्याप्यर्देहे व्रजति विलयं रूपमखिलं
जरा प्रत्यासन्नी भवति लभते व्याधिरुदयं ।
कुटुंबस्नेहार्त्तः प्रतिहतमतिर्लोभकलितो
मनो जन्मोच्छित्यै तदपि कुरुते नायमसु मान् ॥३३३॥

(२१) **जन्म मरणके कठिन कष्ट भोगकर भी प्राणीका जन्ममरणके विनाशके उपाय के पौरुषका अभाव**—ये मोही प्राणी कैसी अज्ञान भरी स्थितिमें रह रहे हैं कि इस जीवकी आयु गलती चली जा रही है तो भी यह ऐसा बुद्धिहीन बना है कि अपने इस मरणके नाश करनेका उपाय इसको नहीं सूझता, जन्म लेना, फिर मरना, फिर जन्म लेना, ऐसा कार्य करते रहना ही क्या इसके लिए भला है ? यही तो महान् संकट है । यह जन्ममरण छूट जाय बस वह ही कल्याण है । सो आयु गलती जा रही है, मरता जा रहा है, फिर भी जन्म मरणके नाश करनेका उपाय यह नहीं कर पाता । इस जीवके शरीरकी सुन्दरता आदिक गुण नष्ट हो जाते हैं । शरीरमें जब दुर्गन्ध आती तब शरीर खुदको भी दुःखकारी हो जाता । ऐसे शरीरके कारण अनेक कष्ट होते रहते हैं । शरीरके गुण नष्ट होते जाते हैं फिर भी यह जीव इनसे विरक्त नहीं होता और धर्मकी बुद्धि नहीं लाता । यह बुढ़ापा दिन प्रतिदिन समीप ही तो आता जा रहा है । जीवकी आयु बढ़ती है तो इसका अर्थ यह है कि शेष जीवन घट रहा, मृत्यु निकट आ रही है । सो भले ही यह मरेगा, पर अपनी आकांक्षावोंको नहीं छोड़ता, धर्ममें बुद्धि नहीं लाता । इस जीवके शरीरमें नाना तरहकी नई-नई व्याधियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, पर यह अपनी इच्छावोंका पुलावा बाँधता रहता है । अपनी बुद्धिका अपने हितके लिए कुछ प्रयोग नहीं करता, बल्कि कुटुम्बके मोहमें फंसा हुआ यह लोभसे खिंचा खिंचा फिरता है । इसकी तृष्णा नहीं गलती । बुढ़ापा और तृष्णा बढ़ने लगता है । यह जन्म मरणके नाश करनेका क्या उपाय करेगा ? यह तो इन क्लेशकारी बाह्य पदार्थोंमें ही आशा कर करके फंसता रहता है । विवेकी जन इन समग्र घटनावोंको अनित्य जानकर इनमें मुग्ध नहीं होते और अपने स्वभावमें ही सन्तुष्ट होकर परमार्थ धर्मका पालन करते रहते हैं ।

बुधाब्रह्मोत्कृष्टं परमसुखकृद्वांछितपदं
विवेकश्चेदस्ति प्रतिहतमलः स्वांतवसतौ ।
इदं लक्ष्मीभोगप्रभृति सकलं यस्य वशतो
न मोहग्रस्ते तन्मनसि विदुषां भावि सुखदम् ॥३३४॥

(२२) **ज्ञानियोंकी ध्रुव ब्रह्मस्वरूपमें रुचि**—हे विवेकी पुरुषों, अब विवेकका प्रयोग करनेका समय है । संसारमें परिभ्रमण करते करते अनन्त काल खो दिया । अब अंतरंगमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विवेक करके यह बात समझ लो कि मेरेको परम सुखदायी इष्ट पद यह परम ब्रह्म परमात्मा है। स्थितिकी अपेक्षा तो दोषरहित आत्मगुणोंका जिसमें विकास है ऐसा परमात्मपद ही इष्टपद है और इसका आधार क्या है उपाय क्या है ? ऐसा परमात्मत्व प्रकट हो वह उपाय है निज अन्तः प्रकाशमान परमब्रह्मका आश्रय करना। सो इस बातको जान लीजिए कि मेरा हितकारी केवल मेरे स्वरूपकी उपासना यही स्वरूप परमब्रह्म है। इस परमब्रह्ममें लीन होने पर मनका मोह नष्ट हो जाता है अर्थात् उस जीवमें फिर मोह नहीं रहता। मोह और अज्ञान ये एकार्थक शब्द हैं। जहाँ अज्ञान बसा है वहाँ मोह है। जहाँ मोह बसा वहाँ अज्ञान है। यहाँ अज्ञानसे मतलब ज्ञानावरणके उदयसे होने वाली स्थिति न लेना, वह भी साथ है किन्तु मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे वस्तुस्वरूपका सही भान न होना यह अज्ञान जिसके बसा है वह पुरुष दुःखी है। यह अज्ञान नहीं रहता निज परम ब्रह्मस्वरूपकी आराधना होने पर, सत्य अनुभव हो जाता है। मेरा यह सहजस्वरूप परम पिता है, यही मेरा वास्तविक धाम है। इसमें ही उपयोग रमे तो यही मेरा कल्याण है। जब ऐसे परम ब्रह्मस्वरूपका अनुभव होता है तब मोह नहीं रहता और मोह नहीं रहा, परम ब्रह्म स्वरूपका अनुभव हुआ इसकी पहिचान क्या है कि उस समय लक्ष्मी भोग आदिक जितने पदार्थ हैं वे रंच भी सुखदायी विदित नहीं होते, क्योंकि वास्तविक आनन्द अपने आत्माका इस ज्ञानीने अनुभव कर लिया है। अब वह झूठे कल्पित सुखोंको कैसे भोग सकेगा ? तो जब मोह नष्ट हो जाता है तब लक्ष्मी भोग आदिक पदार्थ रंच भी सुखकारी नहीं मालूम होते हैं और उन्हें इन सब पदार्थोंका लगाव, सम्बन्ध, सम्पर्क दुःखदायी ही विदित होता है। सो अपने आपपर दया करके अनित्य समागमोंको अपने से जुदा करना और शाश्वत् आनन्दधाम निज सहज परमात्मतत्त्वकी आराधना करना यह ही कल्याणका उपाय है।

भवंत्येता लक्ष्म्यः कतिपयदिनान्येव
सुखदास्तरुण्यस्तारुण्ये विदधति मनः प्रीतिमतुलां।
तडिल्लोला भोगा वपुरपि चलं व्याधिकलितं ॥
बुधाः संचिंत्येति प्रगुणमनसो ब्रह्मणि रता ॥३३५॥

(२३) **भेदविज्ञानसे हित अहितका परिचय कर ज्ञानियोंकी सहजब्रह्ममें रति**—यह जगतकी लक्ष्मी कितनों दिनोंके लिए सुखदायिनी होती है। प्रथम तो इस धन वैभवके कमानेमें कष्ट। धन वैभव आ जाय तो उसकी रक्षा करनेमें कष्ट और रक्षाके अनेक प्रयत्न करते भी यह नष्ट हो जाय तो उसके वियोगका महा दुःख। यह लक्ष्मी कितने दिन तक सुखदायिनी हो सकती है। ये युवतियाँ तरुण स्त्रियाँ अपने यौवनकालमें ही चित्तको विशेष प्रफु-

http://sahjanandvarnishastra.org/

ल्लित करती हैं, सो इनका भी क्या ठिकाना ? इनकी जवानी सदा न रहेगी। ये भी वृद्धावस्थाको प्राप्त होंगी। ये सुखदायी कैसे हो सकतीं ? सुखदायी तो कभी भी नहीं हैं पर कामी जीव कल्पनायें करके अपनेमें सुख मानते हैं, सो उन युवतियोंके वृद्धावस्था आती है। कामी पुरुषोंके चित्तमें उस प्रकारकी कल्पना भी नहीं जग सकती। ये भोग कितने समय तक इस जीवको सुख देने वाले हैं ? ये भोग भोगते ही क्षणभर बाद विरस हो जाते हैं। एक कहावत प्रसिद्ध है कि घाटी नीचे माटी। कोई भी मिष्ठान्न जब तक कंठके निकट है। जीभका सम्पर्क है तब तक कुछ सुखदायी मालूम होता है। जैसे ही यह गलेके नीचे उतर जाता, छातीके नीचे चला जाता फिर उसका रस विदित नहीं रहता। ऐसी ही समस्त भोगों की बात है। कुछ ही समय जब वह भोगकाल है उस समय कुछ सुखकारी प्रतीत होता है। प्रथम तो संसारका सुख भी क्या, क्योंकि जब इच्छा होती है तब भोग नहीं है और जिस समय भोगका भोगना है उस समय वह इच्छा नहीं रहती, अन्य प्रकारकी इच्छा आ जाती है और दुःखी रहना है। यह बात तो साथ लगी है, मगर इच्छाके समय भोग नहीं है। तो ये भोग कुछ ही समयको सुखके निमित्तभूत हैं यह शरीर कब तक सुखदायी मालूम होता रहेगा, जब तक कि इसमें कोई व्याधि नहीं आ सताती। व्याधि आने पर यह शरीर बड़ा दुःखदायी मालूम होता है। उस समय जरूर ख्याल आता है कि यदि शरीर ही साथ न होता जीवके तो यहाँ कोई संकट न होता। यह शरीर भी जब तक कोई रोग नहीं सताता तब तक ही यह सुखदायी मालूम देता है, बादमें ये सभी पदार्थ दुःखके देने वाले निश्चित ही हैं, ऐसा जिसने निर्णय किया है वह बुद्धिमान पुरुष अपने मनमें भले प्रकार हित अहितका विवेक रखता है और अहितका त्यागकर हितरूप अपने सहज परमात्मतत्त्वके ध्यान में लगता है।

न कांता कांताते विरहशिखिनो दीर्घनयना
न कांता भूपश्रीस्तडिदिव चला चांतविरसा।
न कांतं ग्रस्तांतं भवति जरसा यौवनमृतः
अयं ते ते संतः स्थिरसुखमयीं मुक्तिवनिताम् ॥३३६॥

(२४) सर्व लौकिक इष्टोंकी कष्टकारिताका परिचय कर ज्ञानियोंका मुक्तिमार्गमें वर्णन—ये दीर्घ (लम्बे) नेत्र वाली युवतियाँ जिन्हें बड़े घरकी स्वामिनी कहा जाता है, जिन्हें देखकर ये पुण्यशाली लोग अपने मनमें बड़ा सुख मानते हैं, ये ही युवतियाँ आखिर अन्त समयमें मनुष्योंको कष्टका ही साधन बनती हैं। जब ये मर जाती हैं तो उनके विरहरूपी अग्निसे पीड़ित मनुष्योंको बड़ी दुःखदायिनी हो जाती हैं। इष्टका वियोग होनेपर मनुष्यका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चित्त विकराल हो जाता है और इतना तीव्र व्याकुल हो जाता है कि जिस व्याकुलतामें अपनी कोई सुध नहीं और विकट कर्मका बंध होता है। यह लक्ष्मी भी तब तक ही अच्छी मालूम होती है जब तक कि यह बिजलीके समान नष्ट नहीं होती। मेघका, बिजलीका उजाला हुआ तो क्षणभरमें ही वह नष्ट हो जाता। उस उजेलेमें कुछ यहाँ प्रकाश जगता है, कुछ भलासा लगता है। मगर वह बिजली खत्म तो यहाँका प्रकाश भी खतम। तो ये लक्ष्मी विभूति, काञ्चन आदिक सम्पदा ये तब तक ही अच्छे लगते जब तक कि वे साथ हैं और अलग नहीं हैं, किन्तु जैसे ही वे अलग होती हैं, नष्ट होती हैं तो यह लक्ष्मी अपरिमित दुःख देने वाली है। जैसे किसीके लाखोंका धन है और वह लुट जाय, छिन जाय, गरीब हो जाय, तो वह कितना कष्ट मानता है, इससे अच्छा तो ऐसा ही शुरूसे होता, गरीब ही होता तो किसी भी प्रकार जीवन चलाकर सुखमय अपने आपको अनुभवता, पर जिनके लक्ष्मीका संयोग हुआ है उन्हें लक्ष्मीका वियोग होनेपर महान् कष्टका अनुभव होता है। ऐसी ही इस जवानीकी दशा है। यह जवानी कब तक सुखदायी मालूम होती है ? खूब प्रखर जठराग्नि है, मनमाना रसास्वादन किया जा रहा है, शरीरमें बल है तो अनेक प्रकारके भोग भोगे जा रहे हैं। तो इस जवानीमें होने वाला सुख यह कब तक रहेगा ? यह सुख भी तब तक ही रह पाता है जब तक कि यह जवानी नष्ट नहीं होती। ज्यों ही बुढ़ापा आया कि फिर इसे क्या आनन्द ? बल्कि खाया नहीं जाता, अनेक रोगोंने घेर लिया, भले प्रकार बैठ भी नहीं सकता, निद्रा गायब हो गई, अनेक प्रकारके कष्ट भोगता है। तो संसारमें इन सब अनित्य पदार्थोंका समागम इस जीवके लिए कष्टका निमित्तभूत ही हो रहा है, इसी कारण जिसको हित अहितका विवेक है, जिसने निज सहज अंतस्तत्त्वका अनुभव किया है उसके आनन्दलाभके बाद जिसको यह स्पष्ट विदित है कि संसारके किसी भी बाह्य पदार्थसे मेरेको आनन्द कभी प्राप्त ही नहीं हो सकता, ऐसा जिसके हित अहितका विवेक है वह पुरुष इन समग्र अनित्य पदार्थोंके समागम को त्यागकर सदाकाल रहने वाले मोक्षरूपी लक्ष्मीको ही वर्तता है अर्थात् अष्टकर्मोंसे रहित केवल पवित्र दशाको ही चाहता है, ऐसी परम ज्ञानज्योतिके पानेका ही उद्यम करता है। लोकमें इस जीवकी शरीररहित स्थिति केवल अपने आपकी सत्तासे ही रहने वाले समस्त पर द्रव्योंके लेपसे रहित धर्मादिक द्रव्योंकी तरह पवित्र स्थिति ही कल्याणमयी स्थिति है और ऐसी कल्याणमयी स्थितिको पा लेनेका साधन अभी वर्तमानमें ही केवल अपने सत्त्वमात्र चैतन्य-तत्त्वको निरखना है। तो विवेकी जन अपने अन्तः प्रकाशमान सहज परमात्मतत्त्वके आलम्बन से शरीररहित केवल गुणविकासमय निर्दोष आत्माकी स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, जिन्होंने यह शरीररहित ज्ञानज्योतिकी स्थिति पायी वे ही पुरुष धन्य हैं, आदर्श हैं, पूज्य हैं, उस ही के

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ध्यानमें योगियोंका चित्त रमा करता है।

वयं येभ्यो जाता मृतिमुपगतास्तेऽत्र सकलाः
समं यैः संवृद्धा ननु विरसतां तेऽपि गमिताः।
इदानीमस्माकं मरणपरिपाटी क्रमगता
न पश्यंतोऽप्येवं विषयविरतिं याति कृष्णाः ॥३३७॥

(२५) **माता पिता भाई बन्धु मित्र व स्वयं सबकी मृत्युकी निश्चितता**—हम लोग जितने उत्पन्न हुए हैं वे सभी मृत्युको प्राप्त हुये हैं, हमारे बाबा पिता आदिक अनेक पुरषा जिनकी परिपाटीमें हम इस भवमें उत्पन्न हुए हैं वे सब मृत्युको प्राप्त हुए, और यही बात चली आ रही है जिसके साथ हम रह रहे हैं, बढ़े हैं, खेलते खाते हैं, वे सब विरसताको प्राप्त हो रहे हैं। उनका शरीर ढल गया, वृद्ध हो गया, कान्तिहीन हो गया। अब जो दशा उन सबकी हुई है वही दशा हमारी भी चल रही है, और मरणकी परिपाटी क्रमसे चलती हुई हमारे सामने आयी है अर्थात् जैसे हमारे पुरषा लोग रहे और उनके साथके लोग नीरस हुए, ये कुटुम्बके बड़े पुरुष हुए वही हमारी स्थिति है, ऐसा देखते हुए भी ये विषयोंके लोलुपी पुरुष कैसा कृपण हैं, आत्मदयासे हीन हैं कि वे विषयोंकी विरक्तिको प्राप्त नहीं होते। जो कुछ भी यह दुर्दशा हुई है यह विषयोके लोभमें हुई है, क्योंकि विषयोंकी आसक्तिमें जो मलिन परिणाम हुए हैं उन मलिन परिणामोंसे ऐसा खोटा बन्ध होता है कि इनको जन्म मरण करते ही रहना पड़ता है। और जन्म मरण भी पेड़ पौधा कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी नरक जैसी दुर्गतियोंमें करना पड़ता है। सो हे विवेकी जन सत्य बात समझकर अब विषयोंमें अनुराग मत हो। यह विषयोंका अनुराग असार है, अपवित्र है, हानिकारक है। वह निज परमात्मतत्त्वके अनुकूल बात नहीं है। इसलिए विषयोंसे विरक्त हों और अपने आत्मपदमें लीन हों।

स यातो यात्येष स्फुटमयमहो यास्यति मृतिं
परेषामत्रैव गणयति जनो नित्यमबुधः।
महामोहाघ्रातस्तनुधनकलत्रादिविभवे
न मृत्युं स्वासन्नं व्यपगतमतिः पश्यति पुनः ॥३३८॥

(२६) **अन्य सबके विनाशका चिन्तन करने वाले स्वयंके विनाशपनेकी बेसुधी**—इस जीवकी ऐसी बहिर्मुखी दृष्टि हो रही है कि बाहरमें जो पदार्थ हैं उनके बारेमें तो विचार करता रहता है। यह भी जानता है कि जो कुछ ये पुरुष आदिक हैं ये सब मृत्युको प्राप्त होते हैं। अमुक पुरुष नष्ट हो गया, यह मर गया, यह चीज विघट गई, पर अपने बारेमें नहीं सोच पाता, अपनी बाह्य वस्तुके बारेमें नहीं सोच पाता कि वे भी मरेंगे। मेरा समागम भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विघटेगा और अपने आत्माके विषयमें तो कुछ भी सुध नहीं ले पाता है। लोकमें सर्व जगह दृष्टि पसारकर छान लीजिए कि कौनसा स्थान ऐसा है कि जिसमें रमनेसे आत्माको शान्ति प्राप्त हो ? अपने जीवनके अनुभवसे भी पहिचानें, जगतमें जितने भी जीव हैं वे सब मेरी सत्तासे अत्यन्त भिन्न हैं। कोई सम्बंध भी है क्या रंच ? कोई गुँजाइस भी नहीं है। अगर एक पदार्थका दूसरा पदार्थ कुछ लगता होता तो आज जगत शून्य हो जाता। ये बाह्य पदार्थ अब तक टिके हैं, यही इस बातका प्रमाण है कि किसीको सत्ता किसी दूसरेमें मिली हुई नहीं है। तब ही तो ये अब तक हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरेका परिणमन नहीं कर पाता तब ही तो सब पदार्थ अब तक हैं। यदि कोई पदार्थ किसी दूसरेका विनाश कर दे तो वह तो स्वयं कुछ परिणमा नहीं फिर इसका भी कोई परिणमन कर दे यह भी न रहा। अब सर्व अव्यवस्था है, जगत शून्य हो जायगा। ये पदार्थ अब तक मौजूद हैं, यह ही एक काफी प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र अपनी सत्ता वाले हैं। अपने बारेमें सोचिये कि मेरा इन कुटुम्बी जनोंमें किसी भी जीवसे क्या सम्बन्ध है। क्या कर्मका लेनदेन है, क्या भावका लेनदेन है। कोई गुंजाइस भी है क्या कि जिससे यह कहा जाय कि ये मेरे सम्बंधी हैं, अत्यन्त भिन्न सत् हैं, स्त्री पुत्रादिक जो भी परिणमन करते हैं वे अपने भावयोग्यताके अनुरूप परिणमन करते हैं, अपने लिए परिणमन करते हैं। कोई मेरे सुखके लिए परिणमन नहीं करता, हो ही नहीं सकती यह बात। चाहे कोई कितना ही विश्वास दिलाये कि हम आपसे बहुत प्रेम रखते हैं, हम आपके लिए ही सब कुछ करते हैं, आपके लिए ही हमारी जान हाजिर है, किन्तु सारी बात पूरी मिथ्या है यह हो ही नहीं सकता।

(३०) **कषायमिलनकी लौकिक मित्रता बन्धुता**—होता क्या है कि खुदके भावमें यह बात पड़ी हुई है और मित्र भी कोई यों बन गया है कि जैसा जीव मेरा है वैसा ही जीव दूसरेका है, वह भी उस कार्यको वैसा देखना चाहता है, यह मैं भी उस कार्यको वैसा ही देखना चाहता हूं। मित्रता हो गई पर वस्तुतः एक जीवका दूसरे जीवसे सम्बंध बन गया हो सो बात नहीं है, किन्तु उद्देश्यमें लक्ष्यमें एकता आ गई है। कुटुम्बी जनोंमें भी यह चाहता है कि मेरा यह कुल अच्छा चले, पुरुष भी यह चाहता कि यह कुल अच्छा चले, जब एकसा ही भाव बन गया तो वह मित्रताका वातावरण बन गया, पर जीव जीवका कुछ लगता हो इस कारण यह बात बन गई हो सो बात नहीं है। तो जब एकदम स्पष्ट एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न है और साथ ही मेरे किएका फल केवल मैं ही पाता हूं, मैं जैसे भाव बनाता हूं वैसा ही संसारमें परिभ्रमण करता हूं, जैसा शरीर मिलता है समझिये उसके अनुकूल मैंने पहले भाव किया था जिससे ऐसा ही कर्मबंध हुआ और इस तरहका यह समागम मिला है। हमारी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सारी दृष्टि हमारे ही भावोंपर निर्भर है, दूसरेके भावोंपर निर्भर नहीं है ऐसा जानें। जो जानता है ऐसा उसका कभी भी व्यामोह परपदार्थमें नहीं होता। घर गृहस्थी तो एक गुजारे का साधन है। घरमें रहने वाले लोग तो एक गुजारा कमेटी है, उसका यह अनिर्वाचित मेम्बर है जो अपनी योग्यताके अनुसार स्वयं ही कोई मुखिया कहलाता है, कोई घरका प्रबंधक कहलाता, कोई किसी विभागको सम्हालने वाला कहलाता है। सब अपने आप बन जाते हैं। तो एक तरहकी वह गुजारा कमेटी है। जैसें किसी संस्थाकी सम्हाल एक कमेटीसे चलती है ऐसे ही परिवारकी सम्हाल, यह भी एक कमेटी द्वारा चलती है। कमेटीका कोई सदस्य उस सम्पत्तिका मालिक नहीं कहलाता किन्तु प्रबंधक कहलाता है इसी तरह अपना अपना गुजारा करनेके लिए गुजारेका काम चल रहा है, पर यहाँ कोई मालिक नहीं है। जो कुछ भी मिला है वह नियमसे विघटेगा। या घात कोई करे तो विघट गया या पापका उदय आ गया तो अपने जीते जी विघट गया, पर जिसका संयोग हुआ वह सदा साथ न रहेगा, वियोग होगा तो क्या हालत होगी इस मोही जीवकी ? अनादिसे जो हालत चली आ रही सो हालत होगी।

(२८) **प्राप्त सुयोगका मोहमें व्यर्थीकरण**—आज इतना श्रेष्ठ मनुष्यभव पाया, उत्तम कुल पाया, उसमें भी साधन अच्छे पाये, बुद्धि विशेष पायी। जैनशासनका शरण मिला, तत्त्वज्ञ पुरुषोंकी संगतियाँ भी मिलती हैं, इससे बढ़कर और समागम क्या होगा हमारे कल्याण के लिए, पर इतना सब कुछ पाकर भी हम इसको ऐसा गंवा देते हैं जैसे जंगलकी भीलनियाँ जंगलमें कोई गजमोती या अमूल्य मोती पा लें तो उसे वे पत्थर जानकर उससे पैरके मलको साफ करती हैं, उसकी महिमा वे नहीं समझ पातीं, इसी तरह जितने समागमके बीच हम आये हुए हैं उन समागमोंका हम कोई मूल्य नहीं समझ पाते। भले ही कुल परम्पराके कारण हम मंदिर भी आते, धर्मध्यान भी करते, पर जब तक मोह अज्ञान नहीं मिटा है, आत्माका सहज वास्तविक स्वरूप क्या है यह खुदकी दृष्टिमें नहीं आया है और स्वयंके सहज स्वरूपका अनुभव पाये बिना आनन्द भी नहीं मिल सकता है। धर्मके नामपर बाहरमें जो कर्तव्य किए जाते हैं वे केवल थोड़े पुण्यफलको ही दे सकते हैं, पर मोक्षफलको नहीं दे सकते। जब तक मुक्तिका मार्ग नहीं मिलता, संसारमें बड़ासे बड़ा होकर भी ये क्या लाभ पा लेंगे ?

(२९) **लौकिक बड़प्पनका क्या महत्त्व**—आज भी जिनको हम इस राष्ट्रका बहुत बड़ा अधिकारी समझते हैं, मिनिस्टर समझते हैं उनकी भी क्या हालत है ? जो पहले अधिकारी थे, आज अधिकारी न रहे तो उन पर क्या गुजरती है ? जो मौजूद हैं अब भी उनको कितनी शल्य लगी हुई है। चित्त चंचल है। जितना समागम मिला है उतनी ही चिन्ता।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उतना ही रक्षाका भार, उतना ही शल्य, वहाँ भी शान्ति कहाँ मिली ? जिसको योग्य कुटुम्ब मिला हुआ है यदि सपूत हैं, योग्य हैं तो उनके प्रेममें निरन्तर आकुलता बनाये रहते हैं। मैं इतना कमा जाऊँ कि ये सब बैठे बैठे आरामसे खायें। ये बड़े प्रिय हैं—यदि कोई खोटे निकले तो उसकी प्रतिकूलता समझकर निरन्तर आकुलता मचाते हैं। तो संसारकी कौनसी स्थिति है ऐसी जो इस जीवका हित कर ले ? और प्रधानतया शरीरको ही निरखलो। जिस शरीरमें इतना व्यामोह है इस जीवका कि शरीरको ही अपना सर्वस्व समझते हैं यह ही मैं हूं। अपना भिन्न अस्तित्व कुछ नहीं जानते। जो कुछ करते हैं वह सब शरीरके लिए ही करते हैं। इतना शरीरमें अहंकार बसा है कि जितने क्लेश हो रहे हैं वे सब इस शरीरके कारण हो रहे हैं। किसीने गाली दे दी तो उससे अमूर्त ज्ञानस्वरूपपर क्या बीत गया ? क्यों बुरा मानता है यह, पर यह अमूर्त ज्ञानस्वरूप इसकी दृष्टिमें कहाँ है ? इसकी दृष्टिमें तो यह शरीर ही मैं बना हुआ है। तब शरीरका सम्बन्ध है इन्द्रियसे। इन्द्रियसे ही ज्ञान किया जा रहा, मूर्तका ही ज्ञान होता है, मूर्तसे ही लगाव चलता है तो यह बुद्धि बन गई कि इसने गाली दी मुझको मायने इस देहको, इस शरीरको तब गाली सुननेसे निन्दा सुननेसे जो कष्ट होता है वह शरीरके कारण ही तो होता है। यदि मैं अकेला ही होता, शरीर न होता, जो मेरा परमार्थ स्वरूप है, निजकी सत्ता है, एतावनमात्र मैं होता तो कोई कष्ट था क्या ? सारे कष्टोंको परख लीजिए एकसे लेकर सौ तक सारे कष्ट इस शरीरके सम्बन्धके कारण हैं। तब यह अभिलाषा होना चाहिए कि मेरा शरीर ही न रहे। अब मेरा शरीर आगे न बने, मैं शरीर रहित हूं, अपने आपके सत्त्वसे हूं, इतना ही मात्र मैं रहूं, यह भावना होनी चाहिये न कि संसारमें मेरा ऐसा नाम हो, मेरा यश हो लोग मुझे समझें, लोगोंमें मेरा अग्रपना हो, मेरे ऐसी सम्पत्ति हो, लोग जान जायें कि यह सबसे बड़े हैं, ये दुर्भावनायें न होनी चाहिए। ये इस जीवको कष्ट देने वाली हैं। भले ही मोहमें ये बातें आज बड़ी सुखकारी मालूम होती हैं मगर इनके साथ दुःख लगा हुआ है और कुछ ही काल बाद एकदम स्पष्ट दिख जायगा। इसीका ही तो फल है कि नाना तरहके शरीर मिलते हैं, कीड़ा मकोड़ा बनते हैं, पेड़ पौधे बनते हैं, पानी, आग आदि बनते हैं। निगोदके दुःख तो बहुत ही कठिन बताये गए हैं। वे भव भी इस मोहके कारण प्राप्त होते हैं। आज मनुष्य हैं, मनुष्यके बाद क्या कीड़ा मकोड़ा बनना पसंद है ? यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि मरण होनेके बाद जीवन जरूर होगा, कोई जन्म जरूर मिलेगा। आगेका कैसा जन्म चाहिये ? यदि कीड़ा मकोड़ा पेड़ पौधेका जन्म इष्ट हो तब तो मनमानी प्रवृत्तियाँ करते ही रहना चाहिये। खूब भोग भोगें, अपने आपको भूल जायें, मनमाना अन्याय करे, जैसा चाहे दिल बनायें, आर्तध्यान रौद्ध्यान में बसा करें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

फिर तो जैसा करते आये हैं वही इसकी औषधि है कि खूब जन्म मिलते रहें। जन्म, शरीर का सम्बन्ध यह दुःखका आधार है, किन्तु शरीरसे प्रीति है। आज शरीर मिला है तो जैसे कोई दुष्टका प्रसंग मिल जाय तो अपने कामकी सिद्धिके लिए उस दुष्टकी भी कुछ अंशमें आवभगत की जाती है। आज इस दुष्ट शरीरका समागम मिला है। हम आप असंयममें अपना समय बिताते हैं और संसारमें रुलते हैं।

(३०) **शरीररहित आत्मस्थितिकी प्रतीक्ष्यता**—हमको चाहिए कि इस संसारमें रुलना हमारा छूट जाय। इन शरीरादिक पर सम्पर्कोंसे रहित हो जाय, ऐसी स्थिति पानेके लिए हमें आत्मसाधना करना चाहिए और आज शरीरसे इतना विकट एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है कि शरीरमें व्याधि आ जाय तो धर्मध्यानमें मन लगना कठिन है। हम आगे अपनी आत्मसाधनामें बढ़ नहीं सकते इसलिए इस शरीर सेवक इस दुष्ट शरीरको हमें स्वस्थ रखना पड़ता है, थोड़ी परवाह रखना पड़ता है, मगर उद्देश्य तो सही जानें कि किसलिए हमको, शरीरको ठीक रखनेकी आवश्यकता है? शरीरके लिए शरीरको ठीक नहीं रखना, आत्मसाधनाके लिए शरीरको ठीक रखना, हमारे जीवनका ध्येय मात्र सहज परमात्वतत्त्वकी साधना रहे, दूसरा ध्येय न रहे, ऐसा अपना पक्का निर्णय बना लें। दूसरा कोई ध्येय होना ही न चाहिये जीवनका। मैं अमुक कलावोंके द्वारा इस लोकमें लोगोंका प्रेमपात्र बन जाऊं, इसकी आवश्यकता नहीं है। ये सब संसारमें जन्म-मरण करनेके उपाय हैं। मैं दुनियाके लिए कुछ नहीं हूं, न दुनियाके लिए मैं कुछ रहना चाहता हूं। मैं तो सबके लिए शून्यकी तरह हूं। मैं केवल अपने सम्यक्त्व ज्ञान और आचरणके लिए हूं। इसीके अर्थ मेरे जीवनके क्षण हैं, जीवन है, यह हमारा पक्का निर्णय होना चाहिए। रही बाह्य साधनोंकी बात, जिसका परिणाम ऊँचा है, जिसकी धर्ममें प्रीति है उसके साथ इतना पुण्योदय तो है ही कि जब तक उसे संसारमें रहना होता है तब तक वह अच्छी विधिसे रह सके, ऐसा उसके समागम चलता है। कदाचित् मानो न चले तो फिर दृढ़ता कहते किसे हैं? बड़े बड़े मुनिराजोंपर भी उपसर्ग आये, पार्श्वनाथ जैसे तीर्थंकर महाराजपर भी मुनि अवस्थामें उपसर्ग आये, अन्य भी बड़े-बड़े राजा महाराजा सब कुछ त्यागकर मुनि हुए हैं, उनपर कितना कठिन उपद्रव आया, असाताका ही तो उदय था, किन्तु वे अपने ध्येयसे नहीं चिगे। वे अपने सहज आत्मस्वरूपके ध्यानमें अडिग रहे। कोई परवाह नहीं की, इतना अद्भुत ज्ञानबल बढ़ाया कि सदाके लिए संसारके संकटोंसे छूट गए। इतना प्रबल उत्साह रखना चाहिये और एक मात्र निर्णय रखना चाहिए कि मेरा जीवन आत्मानुभवके लिए है, उसका उपाय बनानेके लिए है, अन्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कार्योंके लिए मेरा जीवन नहीं है। अन्य कार्योंसे हमें लाभ क्या मिलता ? किन किनकी सेवा अब तक नहीं की, किन किनको दिल नहीं लगाया, कहाँ कहाँ क्या क्या भटकना नहीं की, पर उससे आत्माको कुछ लाभ नहीं मिला। बाह्य पदार्थोंके लिए मेरा जीवन नहीं है। मेरेमें नित्य अंतः प्रकाशमान जो जो ज्ञानज्योति है, जो इसका सहज स्वरूप है, अपने ही सत्वके कारण अपने आप है, उसके अनुभवके लिए मेरा जीवन है, अन्य कार्यके लिए मेरा जीवन नहीं है, यह निर्णय जिसका पक्का है वह धर्ममार्गमें चल सकता है। जिसका यह निर्णय नहीं है वह बाह्य पदार्थोंके लिए अटकेगा, भटकेगा और उसका अपने देखनेका जो धर्म है वह सब लौकिक सम्पदाके माफिक है, उसमें वास्तविकता नही है। वास्तविकता तब ही आयगी जब हम सत्य निर्णय करके अपने सहज स्वरूपका अनुभव पा लेंगे।

(३१) अनित्यसे उपयोग हटाकर शाश्वत स्व नित्यमें उपयोग लानेका कर्तव्य— जगतके ये सब पदार्थ विनाशीक हैं, नष्ट होते हैं, मुझसे भिन्न हैं, सारहीन हैं, मेरे कामके ये रंच भी नहीं हैं, यह निर्णय बनायें और जो मेरा हित है उस निज स्वरूपमें आदर करें। जिसको आज पोजीशन कहते हैं, इज्जत कहते हैं और जिसकी लोकमें इज्जत नहीं है उसे तुच्छ समझते हैं और अपने आपके बारेमें महत्ताका अनुभव करते हैं। मेरेमें ऐसी कला है। मैं इस तरहसे लोकमें अपनी पोजीशन रखता हूं, इज्जत बनाता हूं, जो औरसे न बने वह काम करता हूं, इस ओर ही जिसकी बुद्धि हैं और अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी सुध नहीं है तो भले ही वह अपनेको चतुर मानता है लेकिन यह रंच भी चतुराई नहीं है। इन बाहरी चक्रों के विकल्पमें इस जीवका कभी उद्धार नहीं हो सकता। प्रयास करना चाहिए अपने आपके अनुभवका। पूजा करें तो इसी उद्देश्यसे कि परमात्माके गुणविकास उसकी दृष्टिमें आयें, और वह गुणविकास जब ज्ञानमें आयगा तो वह ज्ञान भी तो वहाँ ही है। जैसा प्रभुका विकास है उस ही स्वरूपमें तो है। यदि विकास ज्ञानमें आये तो उसके ही ज्ञानस्वरूपका स्पर्श होगा, वह आत्मानुभवके किए ही पूजा है, स्वाध्याय करें, जो भी पढ़ें उसका अर्थ इस ही प्रकार चलेगा ज्ञानका कि जिससे वह अपने स्वरूपकी ओर पहुंचे। व्रत, तप आदिक जो भी आचरण करे वह इस ही विराग बुद्धिसे करेगा कि उसकी दृष्टि सहज अपनी शुद्ध ज्ञानज्योतिपर आये। जैसे प्रकाश शुद्ध होता है, प्रकाशमें रंग नहीं रहता और है वह प्रकाश। भले ही कोई प्रकाश हरा है, कोई नीला है, कोई लाल है तो प्रकाशमें स्वयं ये कोई रंग नहीं होते। उसका जो स्वरूप है वह स्वच्छता मात्र है, पर उसपर जिस रंगका कागज लगा, काँच लगा, रंग लगा बस उस रंगका प्रकाश बन जाता है। तो शुद्ध प्रकाश किसे कहेंगे ? जिसमें कोई रंग नहीं है, मात्र स्वच्छता है, ऐसे ही शुद्ध ज्ञान किसे कहेंगे ? जिसमें विकल्प नहीं, इष्ट अनिष्ट भाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं, विचार तरंग परिवर्तन नहीं, केवल विशुद्ध जाननमात्र है, वह है अपनी सहज कला, जहाँ यह सहज कला प्राप्त हो वहाँ आकुलता ठहर नहीं सकती। पर कर्मविपाकका जो मालिन्य है, उसकी छाया, उसके ज्ञानपर पड़ती है। आवरण बनता है और मैं उस कर्मकी छाया को अपने रूप मान लेता हूं और इस तरह नटकी भाँति विचित्र चेष्टायें करता रहता हूं।

(३२) भेदविज्ञान द्वारा अन्यसे भिन्न अपनेको निरखकर आत्मसर्वस्वके उपादानका कर्तव्य—भेदविज्ञानसे ही धर्मका प्रारम्भ चलेगा। भेदविज्ञान कहाँ करना? इस ज्ञानप्रकाश और कर्मविपाकका मिलना यह यहाँ भेदविज्ञान करना है। यहाँ भेदविज्ञान होने पर जो निज स्वच्छ स्वरूपका भान होगा उससे कल्याण जगेगा। बाहरी बातोंके विचारसे यह मुक्ति मार्ग न मिलेगा। अन्तर्दृष्टि करके अपने आपको मानें कि जो केवल प्रतिभास मात्र है, जानन मात्र है, जिसमें निज परकी कल्पना नहीं है, अच्छे बुरेका विचार नहीं है, ऐसा केवल जाननहार वह तो है मेरे कुलकी कला और उसके अतिरिक्त जितने भी विचार तरंग इष्ट अनिष्ट बुद्धि कल्पना जाल हैं वह सब कर्मकी छाया है। मैं इसमें क्यों बँधूं? यों अपने ही विकारसे उपेक्षा करें, अपने आपको स्वच्छ ज्ञानमात्र निज स्वरूपकी आराधनामें लगायें, यह कार्य यदि इस जीवनमें बन सका तब तो बड़प्पन है नहीं तो जैसे जो जितना ऊँचे पर्वतपर चढ़ेगा वह वहाँसे गिरेगा तो उतना ही अधिक चोट पायगा। ऐसे ही लोकमें कोई कितना ही ऊँचे चढ़ गया, पर उसका गिरना निश्चित है। जो जितना ऊँचेसे गिरेगा वह उतना ही अधिक दुःखी होगा, इसलिए इन बाह्य पदार्थोंमें जो सहज हो तो हो। मैं तो अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी धुन के लिए ही जीवन समझता हूं। चाहे कुछ कर सकूं, कम कर सकूं, कितना ही कर सकूं, पर लक्ष्य एक ही है। मेरा जीवन मेरे ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप एक स्वानुभूतिके लिए ही है, अन्य कार्यके लिए मेरा जीवन नहीं है। ऐसा निर्णय करने वाले पुरुष इन अमूल्य जीवनके क्षणोंसे लाभ लेंगे। अन्यथा अज्ञानी जीव दूसरोंकी बात तो देखते रहेंगे कि यह मरा, इसका नाश हुआ, पर मैं मरूँगा, मेरा विनाश होगा, ये सब कुछ न रहेंगे, इस ओर ध्यान नहीं देता, और जो मिला उस ही में रति करके अपने जीवनभर कष्ट पाता है और आगे जन्म मरणकी परिपाटी चलती है।

सुखं प्राप्तुं बुद्धिर्यदि गतमलं मुक्तिवसतौ
हितं सेवध्वं भो जिनपतिमतं पूतचरितं।
भजध्वं मा तृष्णां कतिपयदिनस्थायिनि धने
यतो नाप्तं संतः कमपि मृतमन्वेति विभवः ॥३३९॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(३३) शाश्वत आत्मीय आनंदके लाभके लिये धर्मका शरण ग्रहण करनेका कर्तव्य– हे आत्महित चाहने वाले पुरुषो, यदि तुम बाधारहित नित्य आत्मीय सुख चाहते हो, मोक्ष-सुख चाहते हो तो सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदेशे गए परम हितकारी धर्मका आश्रय करो। इस संसारमें सर्व परिस्थितियोंमें कष्ट ही कष्ट है। और उन कष्टोंका आधार शरीरका लगाव है। जीव अपनी-अपनी सत्ता रख रहे हैं, उन अनन्त पुद्गलोंका पुञ्ज है, पर कषाय चिकनाईके कारण ऐसा दोनोंका बन्धन बन गया है कि इस शरीरके सम्बंधसे यह जीव दुःखी हो रहा है। भला हो कि शरीरका सम्बंध हट जाय और वह आत्मा जैसा अपने अस्तित्वसे स्वतः सिद्ध है वैसा ही रह जाय, इस ही स्थितिमें मोक्ष कहलाता है। आत्मीय सुख मिलता है। केवल आत्माके आलम्बनसे आत्मामें ही मग्न होकर जो आनन्द मिलता है वह शाश्वत मिलता है और उसमें कोई बाधा देने वाला नहीं होता। बाधा तो पराधीन सुखमें आया करती है, जिन जिन वस्तुवोंके आधीन सुख है उनका वियोग हो जाय, बाधा आ गई अथवा कोई प्रतिकूल बात आ जाय, मगर आत्माके आलम्बनसे जो आनन्द उत्पन्न होता है उसमें बाधा किस प्रकार आ सकती है? सो ऐसा मोक्षसुख निराबाध है। शाश्वत है। यदि मोक्षसुख चाहिये तो प्रभुने जो धर्मोपदेश किया उसका आश्रय करना चाहिए। प्रभु का उपदेश यही है कि हमारा धर्म, हमारा शाश्वत स्वरूप जो अपने सत्त्वसे अपने आप है वह केवलमें है, सो यहाँ केवल अपने आपके आत्माको निहारो, यह ही धर्मका आश्रय कहलाता है और इसका फल है मोक्षका सुख मिलना। अब हे कल्याणार्थी पुरुषों थोड़े दिनों तक रहने वाले इस धन आदिक वैभवमें तृष्णा मत करो। जो चीज छूट जायगी उससे मोह पहलेसे ही छोड़ दें तो वह आत्मीयनिधि प्राप्त होने लगेगी और यदि इन बाह्य वस्तुवोंमें तृष्णा कर रहे तो संक्लेश किया सो तो है ही और आगामी कालमें कष्ट ही मिलेगा। अतः पाये हुए इन समागमोंमें मोह न करें। अधिक लालचसे उस धन सम्पत्तिके पैदा करनेमें मत लगे रहें। पुण्योदयसे सहज जो आता है बस उसीमें ही व्यवस्था बनायी जा सकती है। जिसमें इतना साहस नहीं है कि जो स्वतः प्राप्त हो उस ही में व्यवस्था बना सके वे धनसे तृष्णा कर करके कभी भी अपनी शान्तिकी व्यवस्था नहीं बन सकते, क्योंकि सांसारिक समु-दाय किसीके भी साथ मरनेपर नहीं जाता और उनके बढ़नेकी कल्पनाकी कोई सीमा नहीं है, फिर बाह्य वस्तुवोंका लगाव तजें और आत्मीय एकत्व स्वरूपमें अपना उपयोग लगायें।

न संसारे किंचित्स्थिरमिह निजं वास्ति सकले
विमुच्यार्च्यं रत्नत्रितयमनघं मुक्तिजनकं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अहोमोहार्तानां तदपि विरतिर्नास्ति भवतस्ततो
मोक्षोपायाद्विमुखमनसां नात्र कुशलं ॥ ३४० ॥

(३४) **रत्नत्रयकी मुक्तिजनकता**— इस संसारमें कुछ भी चीज स्थिर नहीं है। जो भी बाह्य वस्तुवें हैं वे मेरे साथ सदा कैसे रह सकतीं ? यद्यपि पदार्थ सब स्थायी हैं। उनकी अवस्थायें बदलती रहती हैं मगर संयोग जो हुआ करता है वह परमार्थका संयोग नहीं होता, पर्यायोंका संयोग होता है और ये पर्यायें विनाशीक हैं। इस कारण जगतमें कुछ भी चीज स्थायी नहीं हो सकती। स्थायी तत्त्व है तो केवल आत्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय। सम्यक्त्व मायने है आत्माका जो सहज चैतन्यस्वरूप है उस ही में यह मैं हूं ऐसी आस्था होना और सम्यग्ज्ञान है इस ही प्रकारके विशुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान करते रहना और ऐसा ही ज्ञाता दृष्टा रहे जायें, इस ज्ञानमें रागद्वेषकी तरंग न आ पाये इस प्रकार आत्मामें मग्न होना यह सम्यक्चारित्र है। तो यह रत्नत्रय आत्माका ही स्वभाव रूप है। सहज रूप है। यह रूप कैसे विनष्ट हो सकता, क्योंकि केवल वस्तुमें होने वाली बात कैसे नष्ट हो सकती है ? वही परिणति नष्ट होती है, विसम होती है। बदलती है। परिवर्तित होती है जो निमित्त पाकर हुई है। जैसे रागद्वेषादिक विकार ये रागद्वेषादिक कर्म प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं अतएव वे नष्ट हो जायेंगे। परन्तु रत्नत्रय तो आत्मा में आत्मा ही से उत्पन्न हुआ है। जो यह बतलाया करते हैं कि ७ प्रकृतियोंके क्षय आदिकसे सम्यग्दर्शन होता है, चारित्रमोहमें क्षयसे सम्यक्चारित्र होता है। ज्ञानावरणके क्षयसे केवलज्ञान होता है, सो वास्तविकता यह है कि केवलज्ञान तो आत्मामें शक्ति है, स्वरूप है, ज्ञानावरणका उदय होनेपर वह स्वरूप प्रकट न हो सके और अज्ञान बन जाय, विरुद्ध ज्ञान होने लगे तो ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे यह बात हुई सो उनका क्षय होनेपर ये विकृतियां मिट गईं। अब केवलज्ञान स्वयं हुआ है तो ज्ञानावरणके क्षयसे अज्ञानदशा मिटती है। वस्तुतः केवलज्ञान नहीं जगता। केवलज्ञानसे तो जानना ही था, अज्ञानका क्षय होते ही, जिसे कहो ७ प्रकृतियों के क्षयसे सम्यग्दर्शन होना। वे सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियाँ मिथ्यात्वको बनाये रखती थीं। उनके उदयपर मिथ्यात्व बना रहता था। तो उनका क्षय होनेपर मिथ्यात्वभाव न रहे, विपरीत अभिप्राय न रहे बात यों हुई क्षयसे। ऐसा हो तो सम्यक्त्व होना स्वाभाविक बात है, वह तो अपने आप आयगा। इस प्रकार चारित्रमोहके उदयसे अविरतभाव रहता है, पापभाव आता था। चारित्रमोहका क्षय होनेपर अविरतभाव खत्म हो गया। अब आत्मविकास, आत्मलीनता यह तो स्वाभाविक बात है, वह सहज हो गई थी। तो यों रत्नत्रय निमित्त नहीं है, किन्तु स्वाभाविक वस्तु है, अतएव वह स्थायी चीज है। रत्नत्रयको छोड़कर बाकी कुछ भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इस जीवका, स्थायी नहीं है, न इसका कुछ है, परन्तु यह प्राणी ऐसे मोहसे पीड़ित है, अज्ञान के नशेमें चूर होकर इन अनित्य पदार्थोंसे विरक्त नहीं होता। इन अनित्य पदार्थोंके परिहार की कोशिश नहीं करता। यही कारण है कि अपने स्वभावभावसे विमुख पुरुषोंका इस संसार में कल्याण नहीं हो सकता। हम दुःखी रहते हैं। और दुःखको दूर करनेका उपाय मुझमें सहज है, वह नहीं किया जा सकता, तो ऐसी दुर्बुद्धिका कौन इलाज करने आयगा? स्वयंको ही तो सम्हालना पड़ेगा। अपने केवल स्वरूपको निरखिये—जो इस शरीरसे अत्यन्त जुदे हैं, कर्मोंसे अत्यंत जुदे हैं, अपने स्वभावसे केवल प्रतिभास मात्र है उस स्वरूपको उपयोगमें लिया जाय, फिर कल्याणमें कुछ भी विलम्ब नहीं है। सो हे प्रियतम अपने आपपर दया करिये और अपने आपके सुगम सहज स्वरूपको दृष्टिमें लेकर आनन्दामृतका पान करिये।

अनित्यं निस्त्राणं जननमरणव्याधिकलितं
जगन्मिथ्यात्वार्थैरहमहमिकालंघितमिदं ।
विचिंत्यैवं संतो विमलमनसो धर्ममतयस्तप:
कर्तुं वृत्तास्तदपसृतये जैनमनघं ॥ ३४१ ॥

(३५) **जगतकी अनित्यता निस्त्राणता व जन्ममरणव्याधिकलितता**—यह संसार अनित्य है, जो कुछ दिख रहा है यह कुछ भी स्थायी नहीं है। ये सब अवस्थायें हैं और विकृत अवस्थायें हैं, और आँखों दिख रहा है वह सबका सब विकार। न परमार्थ चीज आँखों दिखती है, न परमार्थ वृत्तियाँ आँखों दिखती हैं। तो जो दृश्यमान जगत है वह सब बेकार है, अनित्य है, कभी स्थिर नहीं रह सकता। अनित्यताके अतिरिक्त यह जगत निस्त्राण है। रक्षारहित है, इसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। जिस पदार्थका, जिस जीवका जैसा परिणाम बनता है उस परिणामके अनुसार वह अपनी दशायें भोगता है। उसको दुर्दशासे बचानेके लिए कोई समर्थ नहीं है, यह जीव जन्ममरण आदिक अनेक धर्मोंसे भरा हुआ है। इस संसारमें कोई मरता है, कोई जन्म लेता है। यही तो हो रहा है और मरण और जीवन के बीच जितनासा जीवन है उस जीवनमें नाना प्रकारके कष्ट भोगता है। बस संसारी जीवों का यह सही परिचय है। जन्म लेना, कुछ दिनोंको जीवन पाना, उस जीवनमें इस शरीरके आधारसे नाना प्रकारके निरन्तर दुःख ही भोगता रहना और अन्त कालमें मरण कर जाना फिर नया जीवन पाना, नये शरीरके आधारसे सारे जीवनभर कष्ट सहना, फिर मर जाना, बस यही धारा जन्म मरणकी रात-दिन निरन्तर चलती रहती है और इस विपरीत धारामें यह जीव निरन्तर कष्ट पाता रहता है। इस जीवनमें कोई पुरुष नाना रोगोंसे पीड़ित होकर नाना दुःख भोग रहा है, और यदि कोई पुरुष व्याधियोंसे पीड़ित नहीं है, शरीर हट्टा कट्टा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है तो वह यह मेरा है, यह मेरा है, ऐसे ममतापूर्ण मिथ्या अभिप्रायोंके कारण निरन्तर बेचैन रहा करता है। इस तरह कोई हँस रहा है, कुछ रसीले भोजन करके मौज मान रहा है। अपने प्रिय माने हुए कुटुम्बी जनोंको देखकर खुश हो रहा है तो वहाँ यह अपनी सुध भूला हुआ है और जो अपने ज्ञानानन्द स्वभावकी सुध नहीं रखे हुए हैं उनको आराम क्या, आनन्द क्या ? वे निरन्तर कष्टमें ही बने हुए हैं।

(३६) **जगतकी असारता जानकर धर्मप्रीति करनेका कर्तव्य**—हे विवेकीजन, अपनी बुद्धिको निर्मल करिये और जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत इस आत्मधर्मका आश्रय करके निर्मल परमार्थ तपश्चरणमें लगिये। परमार्थ तपश्चरण है अपने आपके सहज स्वरूपका परिचय पाना और उस सहज स्वरूपमें मग्न होनेके कारण अन्तरंग बहिरंग परिग्रहोंको त्याग देना और इस चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्वमें मग्न होना यह है परमार्थ तपश्चरण। ऐसा यह परमार्थ तपश्चरण निर्ग्रन्थ हुए बिना नहीं हो सकता। कारण यह है कि यह जीव संसारमें अनादिसे विषय-वासनाओं भरी हुई नाना कुचेष्टायें करता चला आ रहा है। कदाचित् सहज आत्मस्वरूपका परिचय भी हो जाय तो उन वासनाओंके कारण यह अपने ध्यानमें स्थिर नहीं रह सकता। उन वासनाओंको मिटानेका उपाय जो कुछ पौरुष बन सकता है वह यही है कि विकारके आश्रयभूत पदार्थोंका परिहार कर दें तो इसमें बहुत कुछ सहयोग यह मिलेगा कि जब त्याग कर दिया समस्त परिग्रहोंका तो उसके विकल्प न सतायेंगे और निकट कालमें विकल्प मिट जायेंगे और यह विवेक अपने आत्मामें उपयुक्त हो जायगा। इस कारण परमार्थ तपश्चरण करने के लिए निर्ग्रन्थ व्रत धारण करके फिर समस्त व्यामोह छोड़कर परमार्थ तपश्चरणमें लगना चाहिये।

तलिल्लोलं तृष्णाप्रचयनिपुणं सौख्यमखिलं
तृषो वृद्धेस्तापो दहति स मनो वह्निवदलं।
ततः खेदोऽत्यंतं भवति भविनां चेतसि बुधा
निधायेदं पूते जिनपतिमते संति निरताः ॥३४२॥

(३७) **अनित्य वाञ्छाको छोड़कर नित्य स्वमें वात्सल्यका महत्त्व**—ये सांसारिक सुख बादलमें चमकती हुई बिजलीके समान क्षण विनश्वर है। जैसे एक रस स्वादनेका सुख देखिये जितनी देर तक जिह्वाके अग्र भागपर वस्तुका सम्बन्ध है उतनी देर यह रसका स्वाद ले रहा है और कंठसे नीचे चले जानेपर, घाटी नीचे हो जानेपर वह वस्तु माटी बन गई। अब उसका स्वाद रस सब खतम हो गया। तो रसनाइन्द्रियका सुख कितनी देरको मिला ? स्पर्शनइन्द्रियका सुख जिसमें प्रधानतया लोग काम सुख कहा करते हैं वह कितने सेकेण्डका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सुख है । बहुत आकुलता है । बादमें भी पछताता तो सभी सुख क्षणिक विनश्वर हैं। ऐसे ही घ्राण, चक्षु, कर्णइन्द्रिय और मनके सारे सुख बादलोंमें चमकती हुई बिजलीके समान अनित्य हैं, और ये सुख अनित्य हैं । मात्र इतना ही दोष नहीं है । अन्यथा यह तो दोष है ही पर यह तृष्णाकी वृद्धि करने वाला है ? कोई पुरुष यह सोचे कि सांसारिक सुख अनित्य हैं, क्षण भरको होते हैं, मिट जाते हैं, तो भले ही मिट जायें पर हम निरन्तर सुख की धारा बनाये रहेंगे और सुख मिटते जायेंगे । नये आते जायेंगे । इसकी कौन सी हानि हुई है । हम तो सुख साधनोंको बनायेंगे और इन्हीं साधनोंमें रहेंगे और विनाशीक हैं सुख तो रहने दो, हम उन नये नये सुखोंको आगे पाते रहेंगे । सो यह कल्पना भी बिल्कुल बेकार है, क्योंकि जितने बाहरी सुख भोगे जा रहे हैं अथवा सुखके साधन लगा रखा है उतनी देर तृष्णाकी ही वृद्धि होती रहती है और जहाँ तृष्णा बढ़ रही है, तृष्णाका परिणाम चल रहा है वहाँ आनन्द कहाँ है । तृष्णा और सुख ये तो परस्पर विरोधी तत्त्व हैं, तो ये समस्त पदार्थ अनित्य हैं और तृष्णाकी वृद्धि करने वाले हैं । ये पदार्थ अनित्य हैं, तृष्णा बढ़ती है, ये दो ही दोष हों इतना ही नहीं है क्योंकि इतने पर भी कोई आसक्त पुरुष ऐसा सोच सकता है कि अनित्य है तो रहने दो । निरन्तर साधन बनाये रहेंगे । तृष्णा बढ़ती है तो बढ़ने दो, साधन बढ़ानेका प्रयास करेंगे और साधन बढ़ते देखेंगे तो उसका आनन्द लुटेगा, सो इतनी ही बात नहीं है । ये अनित्य हैं । तृष्णा बढ़ती है, पर साथ ही इनके भोगनेसे भारी तृप्ति भी तो नहीं होती है । अपनी-अपनी अनुभूतिसे विचार करें, अब तक कितना सुख भोगा, कुछ सुख जुड़ा भी है क्या ? आज तकका सुख जुड़ा हुआ रखा है क्या जिससे संतोष कर सकें कि मैंने इतना सुख भोग डाला और जो भोग डाला सो भोगने पर यह तो रीताका ही रीता है, भोगनेसे कभी तृप्ति नहीं होती । भोगका सम्बन्ध किया । कल्पनासे सुख जो माना गया वह क्षण व्यतीत हो गया । अब इसके बाद यह कषायवान तृष्णावान पुरुष तो रीताका ही रीता रह गया । इन भोगोंके भोगनेसे कभी तृप्ति नहीं होती है । तृप्ति नहीं होती इतनी ही बात हो सो भी नहीं, किन्तु उन सुखोंके प्राप्त करने की सदा ही चिन्ता बनी रहती है । इन सांसारिक सुखोंके लगावमें इस जीवने क्या आनन्द मान रखा है । ये विनाशीक हैं । तृष्णा बढ़ाते हैं । इन सुखोंके भोगनेसे तृप्ति होती नहीं और सदा उनके प्राप्त करनेकी निरन्तर चिन्ता बनी रहती है । तो चिन्ता तो कष्टोंका पुञ्ज है । चिन्ता और चिताको कवियोंने समान बताया । अन्तर केवल बिन्दी होने न होने का है । ऐसी चिन्ताको चितासे भी भयंकर बतलाया । सो इन सुखोंमें इनके प्राप्त करनेकी चिन्ता रहती है, और तृष्णाकी वृद्धिसे मनको बेहद संताप रहता है । जहाँ मनका संताप है वहाँ आत्मामें शान्ति

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का नाम निशान नहीं रहता। जहाँ शान्तिका नाम निशान नहीं है वहाँ अत्यन्त दुःख भोगना पड़ता हे। तो ये सारे कष्ट सांसारिक सुखकी लालसावोंसे ही तो उत्पन्न हुए हैं, इस लिए हे आत्मदया चाहने वाले पुरुषों अपने विवेकको प्रकट करिये और सर्वज्ञ द्वारा कहे गए धर्ममें ही प्रीति करिये। इन सांसारिक सुखोंसे मुख मोड़िये और धर्म है आत्माका स्वरूप। तो आत्मस्वरूपका परिचय करें, उसका ही ज्ञान करें और ऐसा ही ज्ञाता द्रष्टा रहें। इस पवित्र आन्तरिक पौरुषमें ही आत्माका कल्याण है।

—०—

१४ वां परिच्छेद-दैवनिरूपण

यत्वाति हंति जनयति रजस्तमः सत्त्वगुणयुतं विश्वं।
तद्धरिशंकरविधि व द्विजयतु जगत्यां सदा कर्म ॥३४३॥

(३८) **जन्म जीवन मरण करनेमें दैवका विजयवाद**—जैसे यहाँ जीवोंका जन्म होता है फिर जीवन बना रहता है, फिर मरण हो जाता है, तो तीन बातें हुई ना ? जन्म हुआ, रक्षा रही मायने जीवन रहा और मरण हो गया। तो जैसे संसारी जीवोंमें ये तीन बातें हैं ऐसे ही सब पदार्थोंमें तीन बातें हैं— उत्पाद व्यय और ध्रौव्य। जिसे कहा रज, तम और सत्व। अन्य दर्शनोंमें कहा जाता है। पैदा होनेको कहते हैं रज, नष्ट होनेको कहते हैं तम और बने रहनेको कहते हैं सत्त्व। तो तीन गुणोंसे युक्त विश्व है। ये कर्म रक्षा करते हैं, मरते हैं, उत्पन्न होते हैं। यहाँ खासकर बात लेना है जीवोंके उत्पन्न होनेकी, जिन्दा रहनेकी और मरण करनेकी। सो मानो इन तीन बातसे ये कर्म हरि, शंकर और ब्रह्माकी तरह हो रहे हैं। जैसे यह प्रसिद्धि है कि विष्णु तो रक्षा करता है। शंकर संहार करता है और ब्रह्मा पैदा करता है, तो मानो उनकी तरह जैसी कि लोकमें प्रसिद्धि है, ये कर्म प्राणियोंको पैदा करते हैं, उनका जीवन रखते हैं और उनका मरण करते हैं और इसमें भी मुख्य बात, आयुके उदयसे जीवन है। जन्म है और आयुका निरन्तर उदय बना रहना सो जीवन है और आयुका विनाश हो गया सो मरण है। यह आयुकर्म जीवने पूर्वभवमें जैसा बाँधा है। वह बंध चुका है। अब उसमें बढ़वारी तो कभी हो नहीं सकती। किसी किसी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जीवकी कोई ऐसी घटना आ जाय तो पहले मर सकता है। तो पहले मरणका नाम है अकाल मौत। तब मरना होता है अकालमें जैसे मानो किसी ने १०० वर्ष तकके निषेक बांधे थे कि एक एक समयमें एक-एक निषेक खिरेंगे १०० वर्ष तक जिन्दा रहेगा। अब ४० वर्षकी उम्रमें ही मानो किसी शत्रुने आकर तलवार मारा तो बाकी बचे जो ६० वर्षके निषेक हैं वे अन्तर्मुहूर्तमें खिर जायेंगे। इसे मरण कहते हैं। जैसे कोई पेट्रोल भरकर मोटर कार ले जाय, मानो ६० मील चलेगी एक दो गैलन पेट्रोल भर देने से, पर कोई १०—५ मील ही चल पायी थी कि रास्तेमें किसी पेड़ या ट्रककी टक्कर लग जानेसे उसकी पेट्रोल टंकी फट गई तो सारा पेट्रोल बिखर गया। अब वह कार आगे नहीं जा सकती, ऐसे ही जीवके सब निषेक मान लो बीचमें ही किसी कारणसे खिर गए तो उसीको अकाल मरण कहते हैं। वैसे अकाल मौत भी प्रभुके ज्ञानमें ज्ञात हो गई कि इस समयके तो निषेक बांधेगा और इस समय ये सब खिर जायेंगे। तो जन्म लेना, जीवन बना रहना, मरण करना यह सब कर्मके बलसे होता है, इसी प्रकार और भी कर्म हैं जो सुख देते हैं। दु:ख देते हैं, कष्ट देते हैं। तो इस तरह ये कर्म सारे विश्वपर फैले हुए हैं।

भवितव्यता विधाता कालो नियतिः पुराकृतं कर्म।
वेधा विधिःस्वभावो भाग्यं दैवस्य नामानि ॥३४४॥

(३६) **भवितव्यता व विधाता दैवके नामान्तर**—यह दैवका निरूपण करने वाला परिच्छेद है। दैवके कितने ही नाम प्रसिद्ध हैं। भवितव्यता जो आगे होना है इसे कहते हैं होनहार और भाग्यका नाम लोगोंने होनहार भी रखा है, जो होनहार है सो होगा। होगा वह जैसा उदयमें आयगा, उसके अनुकूल संसारी जीवोंपर बीतेगी पर उस दैवको भवितव्यता के नामसे कहते हैं। कितने ही लोग उस दैवको विधाताके नामसे कहते हैं। जैसे प्रसिद्धि है कि विधाता ने इस दुनियाको रचा, तो ऐसी इस दृश्यमान दुनियाका रचने वाला कौन है ? वैसे तो सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं, अपना-अपना ही सब परिणमन करते हैं, पर ये जो शक्लें बनी हैं, जो हमारी दृष्टिमें आ रही हैं इनका भी निर्माण हुआ है तो कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ। पहले तो यह ही देखिये कि जो कुछ यहाँ दिख रहा है यह सब जीवोंका शरीर है। दरी, पत्थर, चौकी, कागज आदिक। जैसे यह पत्थर है तो यह पहले पृथ्वीकायिक जीवका शरीर था। पहले इसमें जीव भी था। खानमें था, खानसे निकला तो जीव रहित हो गया। आज वह पत्थर यहाँ फर्शमें लगाते हैं। चौकी, तखत जिनपर बैठकर लिख रहे हैं ये भी पहले वृक्ष थे, और वृक्षमें जीव था ही, अब वह जीवरहित हो गया। चौकी तखत आदिकके रूपमें हो गया। तो यहाँ जो कुछ दिख रहा है यह सब जीवोंका शरीर है,

http://sahjanandvarnishastra.org/

अब यह मुर्दा शरीर है। स्थावर मुर्दा हो जाय तो वह मांसकी तरह नहीं है। सड़ता गलता नहीं है, समय पाकर कमजोर तो हो जाता है मगर जैसे मांस पड़ा हो तो दिन प्रति दिन सड़े गले, तेज बदबू करे, ऐसा स्थावर जीवोंके शरीरमें नहीं होता। तो यहाँ जो कुछ दिख रहा है ये सब जीव शरीर हैं, ये बने कैसे कि उन जीवोंमें उस प्रकारके आयुकर्मका उदय था। वह शरीरका मूल बना और उसकी यह शक्ल बनी। तो इस सब विश्वकी रचनाका निमित्त कारण कर्मका उदय हुआ। इसीलिए लोग कर्मका नाम विधाता रखते हैं।

(४०) **काल नियति व पुराकृत दैवके नामान्तर**—कोई कर्मका नाम काल रखते हैं। काल आ गया, समय आ गया। जैसे कहते हैं कि उस जीवको सम्पदा मिल गई। पहले वह बहुत गरीब था, अब काल आ गया, समय आ गया, सम्पन्न हो गया। कोई सज्जन पुरुष किसी विपत्तिमें आ गया, काल आ गया मायने साता असाताका ऐसा उदय आ गया, यों ही अन्य कर्मोंका ऐसा उदय है। तो कर्मका ही नाम लोगोंने काल रखा है। इसीको कुछ लोग विपत्ति कहते हैं। निश्चित है। क्या निश्चित है कि भाई जैसा कर्मोदय होगा, जैसी जिसकी योग्यता है वैसा काम बनेगा। तो उस कर्मका नाम अनेक लोगोंने नियति रख लिया। वह तो जो होना है सो होगा। जो नियति है सो होगा। जैसा उदय होगा वैसा होगा। तो ऐसी दृष्टिसे कर्मका नाम एक नियति पड़ गया। कर्मको लोग पुराकृत शब्दसे कहते हैं। पुराकृत जो पहले किया है। क्या भोग रहा है? जो किया सो भोग रहा है। पहले जीवने भाव ही तो किया। भावके सिवाय जीव और कुछ भी नहीं कर पाता। इस जीवने तो भाव किया और उस भावके होने से जीवके साथ कर्म बंधे और जो कर्म बंधे उनका उदय आनेसे जीवको उस भवमें गमन करना पड़ा। वहाँ सुख दुःख सहना पड़ा। तो इसी कारण लोग पुराकृत शब्दसे कहते हैं।

(४१) **कर्म, वेधा, विधि दैवके नामान्तर**—कितने ही लोग इस दैवको कर्म नामसे कहते हैं। कर्मका अर्थ है—क्रियन्ते इति कर्मः जो किया जाय सो कर्म। अब जीवके द्वारा किया जाता पुण्यभाव, पापभाव। तो वास्तवमें कर्म नाम तो जीवके अच्छे बुरे परिणामका है। अब अच्छा बुरा परिणाम जब हुआ तो उसी समय साता असाता पुण्य पाप कर्मका बन्धन हुआ। तो इन पौद्गलों बंधनोंका नाम कर्म रखा गया है। सो जैसा भाव है उस प्रकारसे कर्म हैं। तो यों दैव नाम कर्मका है। कर्मके बारेमें बहुतसे लोग अभी तक भ्रममें हैं कि कर्म कोई चीज होती क्या? कोई कहता है कि लकीर है, कोई कुछ कहता है। जैन शासन बतलाता है कि जैसे यह शरीर है तो है तो मोटा पुद्गल, यह दिखनेमें आता। छूने में आता। पर कर्म हैं केवल सूक्ष्म पुद्गल। जैसे ही जीवके कषायभाव जगता है तो उस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कषायभावका निमित्त पाकर कार्माण पुद्गल कर्मरूप बन जाता है और वे जीवके साथ रहे आते हैं और जब जैसा उनका उदय आता है वैसे जीवको सुख दुःख आदिक फल मिलते हैं। तो इस दैवका नाम कर्म भी है। कितने ही लोग दैवका नाम वेधा (ब्रह्मा) मानते हैं। सो जो बात विधाता शब्दमें कहा था वही अर्थ वेधाका है। कितने ही लोग विधि नाम रखते हैं। विधि हुई, बात बन गई, वह क्या बात है ? कर्म ही तो है।

(४२) **स्वभाव व भाग्य दैवके नामान्तर**—कितने ही लोग दैवका स्वभाव नाम धरते, ऐसा ही स्वभाव है मनुष्योंको ऐसा खायें, पियें, रहें, दुःख सुख भोगें। पशुवोंका अन्य प्रकार स्वभाव है। तो वह स्वभाव नाम है वास्तवमें प्रकृतिका। प्रकृतिको अनेक लोग दैव कहते हैं, सो यह प्रकृति है ही। जैसे कोई लोग हिमालय, काश्मीर आदिमें पहुंचकर वहाँके झील, पहाड़, पुष्प आदिके दृश्योंको देखते हैं तो कहने लगते कि वाह ! कितना प्राकृतिक सौन्दर्य है। तो उस प्राकृतिकके मायने क्या ? अनेक लोग कुदरत कहते हैं, तो वह कुदरत क्या चीज होती है, इसका उत्तर जैन शासनने दिया है। प्रकृति मायने कर्म। जैसे फूल रंग बिरंगे हैं, सुहावने हैं, कई तरहके हैं तो उनका वैसा कर्मका उदय है सो वैसी उनकी रचना हुई है। जैसे यहाँ मनुष्योंको जिनके असाताका, पापका उदय है उनके शरीरके अंग सुहावने नहीं होते। जैसे अंग बताये गए उससे कुछ बिढंगे होते हैं। और जिन पुरुषोंके पुण्योदय है उनके अंग सुन्दर और सुडौल होते हैं। इसी बात पर सामुद्रिक शास्त्र बने। हाथ देखकर बताया है कि ऐसा भविष्य है। तो हाथमें और क्या बात हुई ? सकल सूरतकी सुन्दरता देखकर शुभपना देखकर उसकी बात करते हैं पुण्योदयकी। अशुभपना देखकर पापके कार्य जैसी बात करते हैं। तो यह प्रकृति कहलाती है। अनेक लोग इसका नाम भाग्य रखते हैं। तो वह भाग्य क्या चीज है ? यही दैव, यही कर्म।

(४३) **दैव और पुरुषार्थके विषयमें**—कितने ही लोग एक ऐसा प्रश्न रखते हैं कि भाग्य बड़ा है कि पुरुषार्थ ? इन दोनोंमें विशेष बलवान क्या है ? तो उसका उत्तर यह है कि इस संसारके कामके लिए तो भाग्य बड़ा है और मोक्षके कामके लिए पुरुषार्थ बड़ा है। कितने ही लोग दिन भर बड़ा कठोर परिश्रम करते। लकड़हारे, घसियारे, मजदूर आदि और वे कुछ भी खास धन नहीं कमा पाते और कितने ही लोग कुछ भी काम नहीं करते, गद्दों तक्कों पर पड़े रहा करते हैं, नौकर चाकर सब काम करते हैं और हजारों लाखोंका धन घर बैठे मिलता रहता है। तो यह अन्तर किस बातका है ? यह भाग्यका अन्तर है। जिसने जैसे पहले शुभ परिणाम किया था उसके अनुसार ऐसे ही पुण्य कर्मका बंध हुआ कि उसको अब इस भवमें सुगमता बहुत मिल गई है। अच्छा तो यह तो संसारके कामकी बात

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। जो रोजिगारमें या व्यापारमें प्रयत्न करते ही हैं तो वह प्रयत्न मुख्य नहीं है। भाग्योदय यदि ठीक है, साताका उदय आता है, पुण्यका उदय आनेको है तो वह प्रयत्न भी उसके अनुकूल बन जायगा, काम कर जायगा, और भाग्य प्रतिकूल है। असाताका तीव्र उदय चल रहा है तो उसका प्रयत्न भी सफल नहीं हो पाता। तो संसारके कामोंमें दैवकी (भाग्यकी) प्रधानता है और मोक्षके कामोंमें पुरुषार्थकी प्रधानता है। वहाँ आत्मपौरुष चाहिए। आत्मश्रद्धान, आत्मध्यान आदि चाहिए। अब थोड़ा बहुत जो संसारमें भाग्य और पुरुषार्थका जोड़ा देखा जाता है कि भाग्य भी होता, पुरुषार्थ भी होता, तो वहाँ यह समझना कि जिसका भाग्य संसारके कामोंमें सफल हो जाता तो उसका भाग्य है उस तरहका ठीक तब सफल होता। एक बार ऐसी ही घटना घटी कि दो पुरुष इसी बात पर झगड़ा करने लगे। एक कहे कि भाग्य बड़ा है और एक कहे कि पुरुषार्थ बड़ा है और उनका न्याय राजाके पास गया। तो राजाने उन दोनोंकी बात सुनी और उनकी परीक्षाके लिए क्या किया कि एक बड़े कमरेमें दोनोंको बंदकर दिया। और उसी कमरेमें कहीं बहुत ऊपर छिपाकर दो बड़े बड़े लड्डू करीब आधा आधासेरके रख दिया उनको ऐसा छिपा दिया था कि वे आसानीसे दिख नहीं सकते थे। अब दोनों ही दो तीन दिन कमरेमें बंद रहे। कमरेमें कुछ अंधेरा सा भी था। कहीं कुछ सूझता न था। अब वे क्या करें? भूखसे बड़े हैरान हो गए। आखिर भाग्यवादी तो चुपचाप बैठा रहा और पुरुषार्थवादी अपने पुरुषार्थमें लगा। इधर उधर टटोलना शुरू कर दिया। सौभाग्यसे उसके हाथ वे दोनो लड्डू लग गये। वह बड़ा खुश हुआ और विचारने लगा देखो मैं ठीक ही कह रहा था कि पुरुषार्थकी प्रधानता है क्योंकि मैंने पुरुषार्थ किया तभी तो ये दो लड्डू मिले। अगर मैं भी इस भाग्यवादी की तरह चुपचाप बैठा रहता तो कहाँसे ये लड्डू मिलते? सोचा कि अब तो विजय हमारी निश्चित ही है। कल न्याय होते समय जब राजासे यह बात बतावेंगे तो न्यायमें निश्चय ही हमारी विजय होगी। यह सोचकर उसने एक लड्डू खुद खाया और दूसरा लड्डू उस दूसरे व्यक्तिको भी खिलाया, सोचा कि आखिर यह भी क्यों भूखसे मरे। आखिर विजय तो हमारी निश्चित ही है ऐसा विचार कर एक लड्डू उस दूसरे व्यक्तिको भी खिलाया। दूसरे दिन जब न्याय होने लगा तो पुरुषार्थवादीने अपनी घटना सुनाई और कहा कि देखो मैं कहता ही था कि जगतमें पुरुषार्थकी प्रधानता है भाग्यकी नहीं। तो वह भाग्यवादी बोला—देखो तुमने तो पुरुषार्थ करके लड्डू खाया और मेरा भाग्य अच्छा था सो बिना पुरुषार्थ किये ही मुझे लड्डू खानेको मिला। आखिर न्याय दिया गया कि जगतके कामोंमें दैव की (भाग्यकी) प्रधानता है। पुरुषार्थवादीको लड्डू तभी मिला जब कि उसका भाग्य था। तो बात यहाँ यह कह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रहे थे कि इस दैवके जितने भी नाम दिए हैं उनमें कोई अन्तर नहीं है।

यत्सौख्यदुःखजनकं प्राणभृता संचितं पुरा कर्म।
स्मरति पुनरिदानीं तद्दैवं मुनिभिराख्यातं ॥३४५॥

(४४) **दैवका स्वरूप**—इस श्लोकमें दैवका स्वरूप बताया है। भाग्य किसे कहते हैं? इस परिभ्रमण रूप संसारमें डूब रहे, घूम रहे जीवोंने जैसे अपने पूर्वजन्ममें या पूर्व समयमें अच्छे या बुरे कर्म किया है, जिनके निमित्तसे उस प्रकारके पुण्य पापकर्म बंधे हैं और जिनके उदयमें सुख या दुःख उत्पन्न होता है तो ऐसे सुख और दुःख उत्पन्न करने वाले पूर्व समयमें जो जीवने कर्म किया है उनको ही लोग वर्तमान कालमें दैव कहते हैं। जो आज सुख या दुःख हो रहा है उसका निमित्त कारण पुण्य पापका उदय है। मगर उस पुण्य पाप का उदय आया कैसे? पहले बांधा था तब उदयमें आये और वे पहले बंधे कैसे थे? इस जीवने अच्छे और बुरे परिणाम किया तब वे कर्म बंधे तो वास्तवमें कर्म क्या कहलाये? वे भले बुरे भावके कर्म। ये ही वस्तुतः कर्म हैं। कर्म शब्दकी व्युत्पत्तिमें सीधा अर्थ जीवके शुभ अशुभ भावसे लेना है। जो जीवने किया सो कर्म है। अच्छा किया तो अच्छे कर्म, बुरा किया तो बुरे कर्म और जैसा किया उसीका ही यहाँ फल मिलता है। तो सुखी दुःखी होना अपने ही आधीन रहा। यद्यपि तत्काल भी पुण्य पापके उदय निमित्त हैं सो पराधीन दशा हुई, लेकिन वे पुण्य पापकर्म जो उदयमें आये वे बँधे थे हमारे भावोंके निमित्तसे ही। तो अर्थ यह हुआ कि जैसा हम करते हैं। वैसा हम फल पाते हैं। तो हमारे किएके अनुसार हमको फल मिला करते हैं, तो जो सुख दुःखको उत्पन्न करने वाले कर्म इन प्राणियोंने पहले संचित किया है उस ही को मुनिजन दैव कहते हैं। पूर्वमें किए गए कर्मको ही दैव नामसे कहा जाता है। जिसका जैसा कर्म है उसका वैसा सामने आता है। आजके प्राणी जैसे दुःख पा रहे हैं उसमें अपराध उनके ही किए गए भावका है। तो कर्म कर लेना तो आसान है—खोटे भाव बनें, क्रोधके बनें, घमंडके बनें, मायाचारके बनें। लोभके बनें, मोहके बनें, विषय-सुखोंके बनें, कैसे ही भाव करलें, आज तो यह बड़ा सरल लग रहा है, क्योंकि ऐसी योग्यता मिली है, ऐसा पुण्यबंध मिला है, मगर जो जैसा करता है उसका फल उसे आगे भोगना पड़ता है। इससे यह सावधानी रखना चाहिये कि हमारे भाव खोटे न चलें। चाहे वर्तमान में हम दुःखी हो लें, कुछ कष्ट सह लें, मगर अन्याय न करें, किसीको धोखा न दें। कोई पापके कार्य न करें। यदि ऐसा करते हैं तो उससे विकट पाप कर्मोंका बंध होगा जिससे आगामी कालमें उसका बड़ा खोटा फल भोगना पड़ेगा। वह फिर हटाया जाना बड़ा कठिन होगा। इससे जब हममें सामर्थ्य है कि आज चाहें तो अच्छा भी कर सकते, बुरा भी कर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सकते तो वहाँ यह विवेक लाना चाहिये कि मुझसे बुरे कर्म न हों और मुझसे जो भी काम हों वे भले ही काम हों। भले काम क्या हैं ? जो लोग इस संसारसे कामोंसे छूट गए, संसार शरीर भोगोंसे विरक्त हैं ऐसे जीवोंकी संगति करना, उनका स्मरण करना यह सबसे ऊंचा काम है। फिर सब जीवोंको अपने स्वरूपके समान समझना और अपनेमें सामर्थ्य है तो उनके दुःखको दूर करना ये सब भले काम हैं। तो भले कामोंमें रहें और बुरे कामोंसे बचें यही हमारे जीवनमें एक विशिष्ट कर्तव्य है।

दुःखं सुखं च लभ्येद् यद्येन यतो यदा तथा यत्र।
दैवनियोगात्प्राप्यं तत्तेन ततस्तदा तथा तत्र ॥३४६॥

(४५) दैव नियोग—जिस जीवने जिस प्रकारसे जिस समय जहाँ पर जितना दुःख व सुख उठाया होगा अर्थात् भोगा होगा उतना ही इस जीवको उससे उसी समय वहीं पर उसी प्रकार उतना ही दुःख व सुख भाग्यके वशसे मिलेगा। इस छंदमें जीवके परिणामका फल बताया है कि जिस जीवने जैसा सुख दुःख उठाया है उसी प्रकार उसके प्रति भी बर्ताव होता है। जैसा संक्लेश विशुद्ध परिणाम जिस प्रकार जिस जीवने किया उसीके अनुसार उस को कर्मबंध होता है और उसीके अनुसार उदय आने पर उसको उसका फल प्राप्त होता है। तो यह एक ऐसी धारा है कि जैसे जो परिणाम करता है उस परिणामके अनुसार ही उसके बंध होता है, उसी प्रकारकी अवस्थायें भी प्राप्त होती हैं। इस कारण जीवका विधाता यह जीव ही स्वयं है। जैसा उसने शरीर पाया है, जैसी इसने स्थिति बाँधी है उसके अनुसार ही उसका परिणाम होगा और उस परिणामके अनुसार उसकी निजमें और पर समागममें व्यवस्था बनेगी। संसारमें जो जीवोंकी विचित्रता देखी जाती है, किसीको कैसा ही शरीर मिला, किसीको कैसी ही वेदनायें होती हैं, किसीको किसी प्रकारका सुख समागम प्राप्त होता है वह सब उनके पूर्वकृत परिणामका ही फल है। ऐसा जानकर अपने आपमें यह निर्णय करना चाहिये कि चाहे सांसारिक घटना किसी भी प्रकारकी घटती हो पर अपनेको ऐसे विशुद्ध परिणाममें रहना चाहिये कि जिससे तत्काल भी शान्तिका अनुभव हो और भविष्य भी भले प्रकारसे गुजरे।

यत्कर्म पुरा विहितं यातं जीवस्य पाकमिह किंचित्।
न तदन्यथा विधातुं कथमपि शक्रोऽपि शक्रोति ॥३४७॥

(४६) कर्मका दुर्निवार वेग—पूर्व समयमें जैसे भी कर्म भले हों या बुरे हों, यह जीव कर चुका है। उसके विपरीत यदि कोई इन्द्र भी चाहे कि कोई फेर फार कर सके तो वह भी किसी प्रकार फेर फार नहीं कर सकता। जब कभी सम्यग्ज्ञानका उदय हो और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उसके बलसे पूर्व किए हुए कर्मोंमें भी फेर फार होवे तो भी उस ही जीवके परिणामके कारण हुआ है। उसे कोई दूसरा नहीं कर सकता। यह सम्यग्ज्ञान जिसे कोई विशेष आत्म-परिणाम उत्पन्न नहीं हुआ तो जैसे कर्म किया था वैसा ही फल इस जीवको भोगना पड़ता है। लोकमें भी यह बात प्रसिद्ध है कि जो जैसा बोता है वैसा ही फल पाता है। जैसे जो भाव करता है उसके अनुसार ही वह फल भोगता है। आजके समयमें तो यह विषमता देखी जाती है कि कोई काम तो कर रहा है खोटा कषायीपनेका जैसा और उसके सम्पदा, महल, वैभव, चला आदिक ये सब कुछ बढ़ रहे हैं, तो जो कुछ काल्पनिक सुख साधन मिल रहे हैं वह तो पूर्वकृत पुण्यका फल है, और वर्तमानमें जो खोटे भाव कर रहा है उनका फल वह आगे भोगेगा, क्योंकि वर्तमानमें जो कर्मबंध हो रहा है सो पूर्वकृत कर्मके उदयके अनुसार नहीं हो रहा किन्तु वर्तमानमें होने वाले परिणामोंके अनुसार हो रहा है। उसके वर्तमान परिणाम खोटे हैं ही इस कारण खोटा कर्मबंध हो रहा और उसके फलमें आगे भी खोटा ही फल प्राप्त होगा। ऐसा जानकर हे विवेकी जनो अपने इन भावोंमें परिणामोंकी उज्ज्वलता रखना चाहिये ताकि अपना भविष्य उज्ज्वल रहे।

धाता जनयति तावल्ललाभभूतं नरं त्रिलोकस्य।
यदि पुनरपि गतबुद्धिर्नाशयति किमस्य तत्कृत्यं ॥१४८॥

(४७) **दैव द्वारा उत्थान व पतन**—यदि यह भाग्य इस पुरुषको तीनों लोकमें शिरोमणि बनाकर अर्थात् दुनियावी दृष्टिमें ऊंचा बनाकर फिर निर्बुद्धि बनाकर इसको नष्ट कर देता है अर्थात् सबसे अधम बना देता है तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि भाग्यके अनुभाग विचित्र होते हैं। कभी कैसे ही कर्मका उदय होता है, कभी खोटे कर्मका उदय होता है। जब यह जीव इस दुनियावी दृष्टिमें शिरोमणि था तब उसका उस प्रकारके साता और पुण्यका उदय था, अब वह उदय अपना समय पाकर खिर गया। अब उदय आया है पापका इसलिए तत्काल ऊँचेसे गिरकर अधम स्थिति इस जीवको बन जाया करती है। जैसे बताया गया है कि ऊँचासे ऊँचा राजा भी मरकर क्षणभरमें कुत्ता, बिल्ली आदिक पशु बन जाता है और कुत्ता आदिक पशु भी मरण करके क्षणभरमें देवगतिको प्राप्त कर लेता है। तो यह सब अपने किए हुए कर्मोंका ही तो फल है। आज कोई राजा है मगर राज्य वैभवके मदमें आकर अन्याय कर रहा है, अत्याचार करता है, जैसा चाहे जिस चाहे स्त्रीको छेड़ता है, जिस चाहेकी हिंसा करता है, जिस चाहेका परिग्रह लूट लेता है इसके फल में पापकर्मका बंध होता है, जिसके फलमें वह कुत्ता, बिल्ली जैसी निकृष्ट पर्यायोंमें पहुंचता है। कोई जीव कुत्ताकी पर्यायमें है, उसके भी मन है, यदि विवेक जग जाय और अपनी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करनीका पछतावा करे, शुद्ध भावना रखे तो वह मरकर देव होकर उस देव भवके ऐश्वर्यको प्राप्त कर लेता है। तो यह दैव किसी पुरुषको लोक शिरोमणि बनाकर फिर निर्बुद्धि बनाकर अधम बना दे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

निहतं यस्य मयूखैर्न तमः संतिष्ठते दिगंतेऽपि।
उपयाति सोऽपि नापदि किं तं विधिः स्पृशति ॥३४॥

(४८) **दैव द्वारा उत्थान पतनका लौकिक वैचित्र्य**—लोकमें देखा जाता है कि जैसे सूर्यकी हजारों किरणें हैं, और वह इन किरणों द्वारा दुनियाको प्रकाश देता है, दुनियाका उपकार करता है, बीमारी नष्ट करता है, योग्य मौसम बनाता है ऐसा वह सूर्य जो अंधकार को नष्ट करके उदयाचलपर विराजमान होता है, उच्च बनता है वही सूर्य जिस समय पश्चिम समुद्रमें जाकर डूब जाता है तो क्या उसके साथ दैव नहीं रहता ? देखो दैवका कैसा परिवर्तन कि जो कभी उदित हुआ और दुनियाकी दृष्टिमें आदर्श माना गया वही दिनके अन्तमें डूब करके अस्तको प्राप्त होता है, एक यह लोकनीतिके अनुसार बात कहा है। परमार्थतः तो वह सूर्य विमान है, सुमेरु पर्वतके चक्कर लगाता है, कभी यह लोगोंको दिखता है कभी नहीं दिखता। जब लोगोंको दिखता है तो लोग उसे उदय कहते हैं। जब लोगोंकी दृष्टिसे ओझल हो जाता है तो लोग उसे अस्त कहते हैं। इसमें सूर्यका कुछ बिगाड़ नहीं है, वह तो ज्योंका त्यों है। वहाँ जो बिगाड़ है वह उसकी आयु हैं और वह अपनी आयु समाप्त करके उस देव पर्यायको छोड़ देता है। तो वास्तविक अस्त तो उसकी आयुके क्षय होनेपर कहा जाता है, पर लोकरीतिके अनुसार भी यहाँ विचारा गया है कि जो सूर्य उदयको प्राप्त होता है वही शामको ढल जाता है। ऐसी ही कर्मकी दशा सब जीवोंपर विचित्र छायी रहती है। जब साताका पुण्यका उदय होता है तब यह जीव नाना सुख साधनोंको प्राप्त करता है और जब उसका पुण्य अस्तको प्राप्त हो जाता तो यह ही जीव खोटी दशाको प्राप्त करता है। तो यह सब दैवके अनुभागका फल है। इस छन्दमें यह बताया है कि जब सूर्य जैसा प्रतापी माने गएका इतना पतन देखा गया है तो फिर अन्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या है ? दुनियामें जीवोंको जो कुछ सुख अथवा दुःख होता है वह सब दैवके अनुसार ही होता है।

विपरीते सति धातरि साधनामफलं प्रजायते पुंसां।
दशशतकरोऽपि भानुर्निपतति गगनादनवलंबः ॥३५॥

(४९) **दैवके विपरीत होनेपर साधनकी निष्फलता**—यदि जीवका, मनुष्यका भाग्य खोटा है, मनुष्यकी इच्छाके प्रतिकूल कर्मका उदय है तो यह हजारों लाखों प्रयत्न कर डाले तो भी अपने चाहे हुए कार्यमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। लोकमें जो भी दशायें देखी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जातीं वे सब कर्मोदयके अनुसार हुआ करती हैं, इसी कारण जो कुछ यहाँ दृश्य है वह सब नैमित्तिक कहलाता है। औपाधिक कहलाता है और नैमित्तिक औपाधिक है इसी कारण इसे माया भी कहा करते हैं। तो यदि किसी पुरुषका भाग्य विपरीत है तो वह अपने इष्टकी सिद्धिमें लाखों करोड़ों प्रयत्न कर डाले तो भी उसे सफलता प्राप्त नहीं होती। इस प्रकरणके लिए एक लौकिक दृष्टान्त दिया गया है कि जिस सूर्यके सैकड़ों किरणें हैं ऐसा सूर्य भी जिस समय उसकी अवस्था पूरी हो जाती है, प्रतिकूल भाग्य हो जाता है तो सहायरहितके समान वह आकाशसे गिर पड़ता है। सूर्य प्रतीन्द्र, चन्द्र इन्द्र आयु क्षयके होनेपर ये भी वहाँसे च्युत होते हैं, याने ये आकाशमें कुछ ऊपर चढ़े हुये हैं ये भी मर कर नीचे ही आकर पैदा हुआ करते हैं इसलिए वे आकाशसे गिर पड़ते हैं, ऐसा कहा गया है। ऐसे ही जिन मनुष्योंका भाग्य विपरीत हो गया, चाहे वे चक्री ही क्यों न हों, बड़ेसे बड़े नरेन्द्र क्यों न हों, जब भाग्य टेढ़ा है, पापका उदय है तो राज्य भी छिनता है। बुरी तरह मरण होता है और खोटी गति उनको प्राप्त होती है। तो यह सब संसार भाग्य प्रधान है। जिनका जैसा भाग्य हो उन जीवोंको सब कुछ प्राप्त होता है। रही पुरुषार्थकी बात तो पुरुषार्थका प्रयोग अपनी मुक्तिके लिए हुआ करता है न कि संसारकी बातोंमें यह पुरुषार्थ चलता है। हाँ पुरुषार्थ चलता भी है किन्तु दैवके अनुसार चलता है अथवा इसमें कुछ एकान्त भी न करना चाहिये कि सारी सिद्धियाँ भाग्यसे ही होती हैं। ये सारी सिद्धियाँ पुरुषार्थसे ही होती है। यदि यह एकान्त हठ किया जाय कि सारी सिद्धियाँ भाग्यसे ही होती हैं तो भला बतलावो जिस भाग्यसे सिद्धियाँ हो रही हैं वह भाग्य बना कैसे था ? वह भाग्य बना था जीवोंके परिणाम के अनुसार। यह जीवके परिणामका ही तो पौरुष है। तो पौरुषसे ही तो भाग्य बना, भाग्य से सिद्धियाँ हुई तो इसके मायने यह है कि इस जीवने जैसे पहले भावरूपी पौरुष किया था उसके अनुसार सिद्धि हुई। यदि कोई यह हठ करे कि सारी सिद्धियाँ पौरुषसे ही होती हैं। संसारमें पौरुष तो सभी जीव करते हैं, घसियारे, लकड़हारे वगैरह बड़े प्रयास करते हैं पर उनको वाञ्छित कार्योंकी सिद्धि क्यों नहीं होती ? इसलिए संसारमें तत्काल तो दैवके अनुसार बात है। उस दैवको बनाने वाला यह पुरुषका पौरुष है। तात्पर्य यह है कि दुनियामें जो कुछ होता है वह सब दैवके अनुसार हो रहा है।

यत्कुर्वन्नपि नित्यं कृत्यं पुरुषो न वांछितं लभते।
तत्रायशो विधातुर्मुनयो न बदंति देहभृतः ॥३५१॥

(५०) दैवके विपरीत होनेपर प्रयत्नकी निष्फलता—किसी कार्यकी सिद्धिके लिए यह मनुष्य रात दिन परिश्रम करता है तिस पर भी उसका प्रयत्न सफल नहीं हो पाता। इस विषयमें मुनिजन दैवका ही दोष बतलाते हैं। इसमें मनुष्यका दोष नहीं है। मनुष्यका कर्तव्य तो अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिए चेष्टायें करते रहना है। तो यह मनुष्य चेष्टायें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करता ही है। यहाँ भी यह देखा जाता कि कोई मनुष्य भाग्यके भरोसे बैठा नही रहता। भाग्य कैसा है इसकी ओर दृष्टि नहीं देता, किन्तु जिस कार्यके करनेकी बात मनमें आयी है उसकी सिद्धिके लिए चेष्टायें करता रहता है। मनुष्यका जो कर्तव्य है अपने कार्यसिद्धिके लिए चेष्टायें करना वह बराबर कर रहा है और उसका फल मिले, न मिले, कैसे मिले यह सब दैवके आधीन है। जब ऐसी स्थिति है तो यह मनुष्य अपना कर्तव्य चुका रहा है याने कर्तव्य तो पूरा कर रहा है और दैव फल नहीं दे रहा तो इसमें मनुष्यका दोष नहीं कहा जा सकता। यह तो भाग्यका ही दोष कहा जायगा। मनुष्यका कार्य यत्न करना है। उसको यहाँ दुनियावी ढंगसे बतला रहे हैं कि संसारमें सुख साधनोंके लिए यह मनुष्य प्रयत्न करता है, यह ही उसका पुरुषार्थ कहा जाता है। तो मनुष्य पुरुषार्थ करे, दैवके भरोसे न बैठा रहे दैव अनुकूल होगा तो इसके थोड़ेसे प्रयाससे ही सब काम बनेगा। और अगर दैव अनुकूल नहीं है तो कितना ही यत्न करने पर भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसमें मनुष्यका दोष न कहा जायगा। यह तो दैवका ही दोष कहा जा सकेगा। सारांश यह है कि संसारमें जो भले काम हैं उनके लिए अपना प्रयत्न बनाये रहना चाहिए। फल क्या होता है इसका विचार भी न करना चाहिये अथवा जो हो सो हो। तथा सर्वोत्कृष्ट बात तो यह है कि संसारके कार्योंके लिए भी प्रयत्न क्यों किया जाय? प्रयत्न करना चाहिये आत्माके शाश्वत आनन्द और विकास पानेका। वह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय। उसके प्रयासमें जो विवेकी पुरुष रहता है उसका पुरुषार्थ सच्चा पुरुषार्थ है।

बांधवमध्येऽपि जनो दुःखानि समेति पापपाकेन।
पुण्येन वैरिसदनं यातोऽपि न मुच्यते सौख्यैः॥३५२॥

(५१) **दैवकी अनुकूलतामें बैरियोंके मध्यमें भी समृद्धि तथा दैवकी प्रतिकूलतामें बान्धवोंके मध्यमें भी विपत्ति**—जिस जीवका जिस समय भाग्य अनुकूल होता है, पुण्यका उदय होता है उस समय बंधुवोंके बीच भी रह रहे हों तो भी नाना प्रकारके कष्ट उठाना पड़ता है। ऐसी घटनायें अनेक जगह देखनेको मिल रही हैं। पुराणोंमें भी श्रीकृष्ण नारायण का पुत्र प्रद्युम्न जिसके कि पुण्यका उदय था, जो कालसम्वर राजाके यहाँ पला था, उसके अनेक पुत्रोंने प्रद्युम्नको नष्ट करनेकी चेष्टा की। खोटी खोटी बावड़ियोंपर ले गए, कहीं गुफावों में ले गए, जहाँ मृत्यु होनेमें कोई संशय न माना जाता था, लेकिन वहाँ जाकर भी प्रद्युम्नने नाना विद्यायें प्राप्त की, नाना सम्पत्तियाँ प्राप्त की। यह तो पुण्यके उदयका फल है। जैसे किसीके पापका उदय आया तो वह बंधुवोंके मध्य भी रहकर उन्हीं बंधुवों द्वारा वह कष्ट पाता रहा। राजा श्रेणिक बड़े प्रतापी राजा थे लेकिन जब उनके पापका उदय आया तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अपने ही पुत्र कुणिकके द्वारा कैसी ही यातनाओंको सहते रहे। तो उस जीवके जैसा पाप पुण्यका उदय होता है उसके अनुसार उसे सुख दुःख भोगने पड़ते हैं। उन पाप पुण्य कर्मोंको बाँधा किसने ? बँधे तो अपने आप ही याने कार्माणवर्गणावोंमें कर्मत्व परिणति आयी मगर यह जीवके परिणामका निमित्त पाकर ही आयी। इसलिए मूलमें देखा जाय तो जीवके सुख दुःख आदिक सब बातोंका, घटनावोंका कारण जीवका ही परिणाम है। तो इस छन्दमें यह बताया गया है कि जब जीव पापके उदयसे घिर जाता है तो बंधुवोंके बीच रहकर भी उन्हीं बंधुवोंके द्वारा दुःख पाता है, और जब पुण्यका उदय होता है तो बैरियोंके घेरेमें रहकर भी उन्हीके कारण, उन्हींकी करतूत द्वारा नाना प्रकारकी सुख समृद्धियोंसे भरपूर हो जाता है।

पुरुषस्य भाग्य समये पतितो बज्रोऽपि जायते कुसुमं।
कुसुममपि भाग्यविरहे बज्रादपि निष्ठरं भवति ॥३५३॥

(५२) **दैवकी अनुकूलता व प्रतिकूलताके अन्तर**—जब पुरुषका भाग्य अनुकूल रहता है उस समय इसके सिरपर बज्र भी आ पड़े तो भी वह फूलकी तरह हो जाता है। एक कथानक है कि वारिसेण मुनि जब ध्यानस्थ थे उस समयकी घटना है कि कोई अंजन चोर किसी रानीका जगमगाता हार चुराकर लिये जा रहा था। तो अंजन चोरमें इतनी कला थी कि उस पुरुषको कोई न देख सकता था अंजन लगानेके कारण, पर वह हार तो चमकता ही था। उसे देखकर कोतवालने पीछा किया। अंजन चोर भागता गया। भागते भागते जब देखा कि अब कोतवाल पास आने वाला है तो उसने वह हार वारिसेण मुनिके आगे डाल दिया और वह स्वयं आगे भागता चला गया। जब कोतवालने आकर देखा कि यह हार इसके सामने पड़ा है तो उसे बड़ा गुस्सा आया कि यह चोर हार चुरा लाया और आरोपसे बचनेके लिए इसने मुनिका भेष धारण कर लिया। आखिर वह घटना राजाके पास तक पहुंच गई और राजाने उसे प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी। तो वे चाण्डाल लोग आये और वारिसेण पर तलवार मारने लगे। जितनी बार तलवार चलाया उतनी बार वह फूलमाला बन गई। ऐसी अन्य प्रकारकी भी घटनायें होती हैं कि जब भाग्य अनुकूल होता है तो बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ भी उसपर विराजें तो भी फूलवत् हो जातीं। प्राणघातक न होकर सुखदायक हो जाती हैं। यह इसका अर्थ है। जब इस जीवके अशुभ भाग्यका उदय रहता है उस समय फूल भी इसके ऊपर गिरें तो वे भी बज्रवत् बन जाते और बज्रकी तरह प्राण लेकर ही छोड़ते हैं। असाताका, पापका उदय आनेपर बड़ी-बड़ी सेवायें की गई बधुवों द्वारा मगर वे घातक ही सिद्ध हुईं। जैसे एक अकृतपुण्य पुत्र था राजाका, तो उसके उत्पन्न होते ही राज्य में विरोध होने लगा। प्रजाने विनती की कि इसे आप राज्यसे बाहर कर दीजिए। आखिर

http://sahjanandvarnishastra.org/

राजाने उसे राज्यसे अलग तो किया, पर वह प्रिय था, सो उसके साथ उसकी माँ साथ गई और राजाने अनेक धन भण्डार साथ लगा दिया कि इस पुत्रको कहीं तकलीफ न हो, पर वे मोहरें आग बन गईं, अनाजके दाने खिर गए। पासमें कुछ न रहा, ऐसी भी स्थितियाँ हो जाती हैं। तो जगतमें जो कुछ भी सुख दुःख हो रहे हैं वह सब दैवका प्रभाव है। इस दैव को किसी दूसरेने नहीं बनाया। यह जीव ही अपने भावोंके द्वारा बनाता है।

किं सुखदुःखनिमित्तं मनुजोऽयं खिद्यते गतमनस्कः।
परिणमति विधिविनिर्मितमसुभाजां किं वितर्केण ॥३५४॥

(५३) सुख दुःखकी विधिविनिर्मितता जानकर उनमें हर्ष विषाद न करनेका कर्तव्य—जगतमें जो भी मनुष्य खेद खिन्न होते हैं, अनेक चिन्तावोंमें पड़ जाते हैं रात दिन सुख दुःखके निमित्त जुटते रहते हैं उन संगतियोंमें रहकर निरन्तर विषाद करते हैं। वे भूल गए कि विषाद चिन्ता करना किस प्रयोजनके लिए है। संसारमें जितने भी सुख दुःख हैं वे सब दैवाधीन हैं। भाग्यके वश होते हैं, ऐसा जानकर उन्हें संतोष धारण करना चाहिये था, लेकिन यथार्थता भूलकर निरन्तर चिन्तामग्न रहा करते हैं। वास्तविकता यह है कि जगतमें जितने भी संयोग वियोग और इन दृश्य पदार्थोंका परिणमन है यह सब कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ करता है। जीवके पास सम्पदा आये, यह साता उदयके निमित्तसे होता है जीवसे इष्टका वियोग हो जाय यह असाताके उदयके निमित्तसे होता है। निमित्तनैमित्तिक भाव जीव के परिणमनमें, विकृत भावोंमें इन कर्मोंके उदय हैं। जैसे कि कर्मोंके बंधमें निमित्त कारण जीवके शुभ अशुभ भाव हैं। जितना भी विसम परिणमन है वह सब नैमित्तिक हुआ करता है। निमित्त बिना स्वयं सहज शक्तिसे अपने आप ही होने वाला परिणमन विषम नहीं हुआ करता। वह सम ही हुआ करता। जैसे पुरुषका ज्ञान दर्शन आनन्द आदिक परिणमन सम हैं, वहाँ विसमता नहीं है। रागद्वेष सुख दुःख कितनी तरहके पाये जाते हैं और अभी सुख हो रहा था अब दुःख होने लगा। अभी शुद्ध परिणाम थे अब क्रूर परिणाम होने लगे, इतनी जो विभिन्नता है, विसमता है वह नैमित्तिक ही होती है, स्वाभाविक नहीं होती। स्वभावतः तो एक समान परिणमन चलता है। तो जगतमें इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, सही शरीर मिलना, रोगादिक होना, ये सारी विसमतायें ही तो हैं, इसका कारण पुण्य पापका उदय है। ऐसा जानकर इनका ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिए, चिन्ता करनेकी क्या जरूरत है? विकारसे भिन्न ज्ञानस्वरूप अपनेको देखें और चिन्तासे मुक्त होवें।

दिशि विदिशि वियति शिखरिणि संयति गहने बनेऽपि यातानां।
योजयति विधिरभीष्टं जन्मवतामभिमुखीभूतः ॥ ३५५ ॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(५४) **पुण्योदयमें सर्वत्र अभीष्ट सिद्धि**—जिस समय दैव इस जीवके अनुकूल रहता है उस समय चाहे यह जीव किसी भी दिशामें हो, किसी भी विदिशामें रह रहा हो, वह वहाँसे अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। किसी विशेष स्थानमें रहनेसे सुख दुःख नहीं है। सुख दुःख है पाप पुण्यके उदयमें। चाहे यह मनुष्य पर्वतके ऊँचे शिखरपर बस रहा हो, चाहे गहन भयानक वनमें हो, यदि इसके पुण्यका उदय है तो इस जीवके सब प्रकारके अभीष्ट की सिद्धियां होती हैं। कोई बैरी इसे हरकर किसी जगह ले जाय, पर्वतपर ले जाय या भयानक वनमें भी फेंक दे, किन्तु उसके पुण्यका उदय है तो वहाँ ही ऐसा सुयोग प्राप्त होगा कि यह जीव अभीष्ट सिद्धिको प्राप्त होगा। ऐसे अनेक दृष्टान्त पुराणोंमें पाये जाते हैं, और देखनेमें भी आते हैं। यह जीव चाहे युद्धमें भी पहुंचा हो, यदि पुण्यका उदय है तो वहाँ भी इसको अभीष्ट कार्योंकी सिद्धि होती है। तो लोकमें जो कुछ भी सुख साधन दिखाई देते हैं, जिन्हें लोग चाहते हैं वे सब सुख साधन दैवके अनुकूल हुआ करते हैं, पर यहाँ यह न भूलना चाहिए कि वह दैव बनाया गया है जीवोंके भावोंके द्वारा ही। इसलिए सांसारिक सुखोंका भी कारण इस जीवको हस्तगत है याने इस जीवके ही आधीन है। यदि यह जीव अपने परिणाम विशुद्ध रखे तो उसका फल मिलनेमें चाहे कुछ विलम्ब भी हो, पूर्वकृत पापकर्मका उदय आनेसे उसे उसका फल अभी नहीं मिल पा रहा है, लेकिन यह निश्चित है कि निर्मल परिणामका फल इस जीवको शुद्ध ही प्राप्त होगा। एक चक्रवर्तीकी पुत्री जिसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर कोई विद्याधर उसे हरे लिए जा रहा था पर उसके पीछे बहुत लोग लग गए। परिस्थितिवश उस कन्याको एक भयानक जंगलमें विद्याधरने छोड़ दिया। तत्काल तो बड़े दुःखका वह स्थान था। भयानक जीव जंतुवोंके बीच उसका जीवित रहना अत्यन्त मुश्किल था। वहाँ पर भी उस पुत्रीने अपना साहस बनाया अपने परिणाम निर्मल किया। व्रत, तप आदिक साधनाओंमें रहने लगी, ऐसे उसके सैकड़ों वर्ष व्यतीत हुए। और अन्तमें एक अजगर सर्पने उसको ग्रस लिया। और सुयोग ऐसा हुआ कि उस कन्याका पिता चक्रवर्ती उसकी तलाशमें चलते चलते उसी जंगलमें पहुंचा और उसने अपनी पुत्रीको अजगरके मुखमें देखा तो चक्रवर्तीने उस अजगरको मारकर अपनी कन्या उससे छुड़ाना चाहा, पर उस समय पुत्रीने मना किया कि पिताजी इस बेचारे अजगरको न मारो। आखिर वह पुत्री गुजर गई और मरकर उत्तम गतिको प्राप्त कर फिर विशल्या हुई, जिसका पुण्य प्रताप इतना विशेष था कि जिसके नहाये हुए जलकी छींट यदि किसी पर पड़ जाय तो उसके असाधारण रोग भी दूर हो जाते थे, यह उस अजगरको अभयदान देनेका फल मिला। सैकड़ों हजारों वर्ष तपश्चरण करनेका फल मिला। तो कोई जीव अपने निर्मल परिणाम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रखता है तो उसकी निर्मलताका फल उसे अवश्य मिलता है। इस कारण कल्याण चाहने वाले पुरुषोंका कर्तव्य है कि प्रत्येक घटनामें अपने परिणामोंको न्यायके अनुकूल रखें, दयासे भरा हुआ रखें, किसीका बुरा न विचारें, अच्छे परिणामोंका फल अच्छा ही मिलता है और वही संसारमें यह सब देखा जा रहा है। इस कारण आत्मपरिचय करके अपने परिणामोंकी सावधानीमें अपना जीवन बिताना चाहिये।

यदनीतिमतां लक्ष्मीर्यदपथ्यनिषेविणां च कल्यत्वं।
अनुमीयते विधातुः स्वेच्छाकारित्वमेतेन ॥३५६॥

(५५) दैव द्वारा नीतिका उल्लंघन—यह दैव बड़ा ही स्वच्छंद प्रवर्तने वाला है। इसे अलंकार रूपमें आचार्य कह रहे हैं कि इस दैवके मनमें जो बात आती है उसे ही कर डालता है अर्थात् स्थिति पाकर उदयके समय अथवा उदीर्णाके समय जो अनुभाग खिलता है उसके अनुकूल जीवमें चेष्टायें हो जाती हैं। देखिये—न्यायसिद्ध बात तो यह है कि जो लोग नीति पर चलने वाले हैं, योग्य आचरणसे रहने वाले हैं उन्हें ही धनवान किया जाना चाहिये, पर विधिकी गति विचित्र है। नीति न्यायपर चलने वाले योग्य आचरणसे रहने वाले लोग दरिद्र पाये जाते हैं। वैसे इस बातकी प्रसिद्धि भी है कि लक्ष्मी और सरस्वतीका परस्पर बैर है। जहाँ सरस्वती है, बुद्धि है वहाँ लक्ष्मी नहीं है। और जहाँ बुद्धि नहीं वहाँ ही लक्ष्मी देखी जाती है। तो यह भाग्यकी विचित्रता ही तो है। किस उदयकी वहाँ बात चल रही है। कभी बुद्धिमान भी धनवान देखे जाते। तो वह दैवका स्वच्छंदाचारपना है। देखिये—जो लोग पथ्यसे रहते हैं, संयम नियम अनुसार आहार करने वाले होते हैं उन्हें तो नीरोग बनाये रहना चाहिए। यह तो न्याय नीतिकी बात, परन्तु दैवकी छटा विचित्र है। मीमांसा आहार विहार करने वाले भी रोगी रहें और यथा तथा भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक न रखने वाले लोग तंदुरुस्त रहें तो यह दैवगतिकी विचित्रता ही तो है, इसीलिए यह कहा जाता है कि यह दैव स्वच्छंद है। इसके मनमें कुछ और ही बात रहती है। यह अन्यायसे चलने वालोंको धनवान बना दे, विरुद्ध आहार विहार करने वालेको निरोग बना दे। इस चारित्र से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि यह दैव स्वच्छोकारित्व है।

जलधिगतोपि न कश्चित्कश्चित्तटगोपि रत्नमुपयाति।
पुण्यविपाकान्मर्त्यो मत्वेति विमुच्यतां खेदः ॥३५७॥

(५६) घटनावोंको दैवलीला जानकर उनमें खेद न करनेका कर्तव्य—जगतमें जो कुछ भी विचित्र कार्य हो रहे हैं वह सब पाप और पुण्यकी महिमा है, उसमें जीवने क्या किया? क्यों यह जीव खेद खिन्न होता है। यह तो अमूर्त ज्ञानमात्र अपने सत्त्वमात्र है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इसकी जो निज वृत्ति है उसकी पहिचान करें और अपने आपके स्वरूपमें आत्मत्व अनुभव करें, सारे कष्ट इसके खतम। वैज्ञानिक विधिसे यह हो रहा है कि जो पूर्वबद्ध कर्म हैं उनमें अनुभाग पड़ा हुआ है, उनका जब उदय उदीरणाकाल आता है तो उस समय जीवके उपयोग में कुछ विकार की छाया पड़ती है उसे यह अपना लेता है, दुःखी होता है। तो यह अपनाये नहीं, भले ही कुछ झलके, वह सब बाह्य तत्त्व हैं, मेरे स्वरूपकी निजकी चीज नहीं है। स्वतः सिद्ध नहीं हैं, ऐसा ज्ञान करके उसे न अपनायें, उसमें खेदकी क्या बात है? मगर यह जीव अपने स्वरूपकी सम्हाल नहीं करता और विचित्रतायें पाप पुण्यके उदयसे जो हो रही हैं उनमें ही यह अपना सुधार बिगाड़ देखता है, सो देखिये—कोई मनुष्य तो समुद्रके अन्दर डुबकियाँ लगा रहा रत्न खोजनेके लिए, पर रत्न नहीं पाता, और कोई पुरुष समुद्रमें डुबकी लगाये बिना ही केवल समुद्रके तटपर बैठा है और बैठे-बैठे ही रत्न पा लेता है। तो यह सब पुण्य पापकी ही तो महिमा है। सो इस सबको पुण्य पापकी महिमा जानना चाहिये और हर्ष बिषाद तज देना चाहिए। लोग खेद अधिक किया करते हैं। इष्ट सामग्री न मिले तो खेद करने लगते। कदाचित् इष्ट सामग्री मिल गई तो सुख मानने लगते हैं, अपराध दोनों ही हैं। विवेकी जन बाह्यपदार्थोंके मिलनेपर वे अपना कुछ सुधार बिगाड़ नहीं समझते। बाह्य पदार्थोंके बिछुड़नेपर अपना कुछ बिगाड़ नहीं समझते हैं। आत्माका सुधार बिगाड़ मूलमें यह है कि जब आत्माको अपने सहज ज्ञानज्योति स्वरूपकी सुध है और उस ही में अपना आग्रह बनाया है कि मैं यह हूं, ऐसा ही ज्ञानमात्र अपनेको अनुभव रहा है उस समय उसको कोई संकट नहीं है। और जब अपने स्वरूपकी सुध छोड़कर जो बाह्यतत्त्व हैं, विकार हैं उनको अपना रहा है और उसी प्रेरणावश इन भिन्न बाह्य पदार्थोंकी भी सुधार बिगाड़ करना चाहता है, पर इसमें सारा संकट है। सो हे विवेकी जन जगतमें जो कुछ भी अच्छे बुरे परिणाम नजर आ रहे हैं, समृद्धि विपत्ति जो कुछ ऊपर बीत रही है वह सब पाप पुण्यकी महिमा है, ऐसा जानकर खेद छोड़ देना चाहिये।

सुखमसुखं च विधत्ते जीवानां यत्र तत्र जातानां।
कर्मैव पुरा चरितं कस्तच्छक्नोति वारयितुं ॥३५८॥

(५७) **कर्मफलवारणकी अशक्यता**—संसारमें ये जीव उत्पन्न हो रहे, मर रहे, एक भवको छोड़ रहे दूसरे भवको धारण कर रहे, यह ही समस्त जीवोंकी इस संसारमें रीति चल रही है। इस ही का नाम संसार है। नया शरीर धारण किया, कुछ दिन तक यह शरीर रहा, फिर नया शरीर धारण किया, इस परिपाटीको ही संसार कहते हैं। तो संसारमें उत्पन्न हो रहे, यत्र तत्र जन्म रहे इन जीवोंको सुख दुःख सब कुछ यह दैव ही प्रदान करता

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। जब जैसे पाप पुण्यका उदय होता है उसके अनुसार यह जीव अपने भाव करके स्वयं सुखी दुःखी होता है। यद्यपि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका परिणमन नहीं करता, फिर भी यह तो देखा ही जाता है कि कोई पदार्थ यदि स्वभावके प्रतिकूल परिणम रहा है तो वह किसी परपदार्थका निमित्त पाकर ही परिणम रहा है। यदि बाह्य अर्थका निमित्त पाये बिना कोई विसम परिणमन कर ले तो वह तो स्वभाव बन बैठेगा, फिर वह स्वभाव कैसे मिट सकता? तो यही पद्धति यहाँ हो रही है। जीवने शुभ अशुभ परिणाम किया। उसका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणामें कर्मत्व आ गया। अब जब उन कर्मोंका उदयकाल आता है अथवा उदीर्णा होती है उस कालमें यह जीव स्वयं अपनेमें कल्पनायें करता हुआ सुखी दुःखी होता रहता है। इसीको उपचार भाषामें कहा जाता है कि यह दैव ही इस जीवको सुख दुःख सब कुछ प्रदान करता है। अन्य कोई नहीं। और उसकी सामर्थ्यको कोई रोक भी नहीं सकता। जो भाग्य जिसका जिस उदयमें आ रहा है उसे हटानेके लिए कौन समर्थ है। हाँ उदयक्षणसे पहले कर्म हटाये जा सकते, परिवर्तित किए जा सकते मगर वास्तविक बहुत ऊँचे तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है, यह जीव अपने आपकी सुध लेता है, अपने आत्मामें ही रमे तो इस स्थितिके निमित्तसे कर्मोंमें परिवर्तन उपशम, क्षयोपशम क्षय आदिक होते रहते हैं, किन्तु प्रायः जिसने जैसा कर्म किया वह उदयमें आता है। उसे कौन रोकनेमें समर्थ है? तो जगत का सारा परिणाम पाप पुण्यका फल जानकर उसमें अपना कर्तृत्व मत लगायें। मैं तो केवल ज्ञानभाव मात्र हूं। मैं इन समग्र पदार्थोंका, घटनावोंका करने वाला नहीं हूं। यह सब भाग्य लीला चल रही है। मैं तो विशुद्ध ज्ञानमात्र हूं ऐसी भावना करनी चाहिए।

द्वीपे चात्र समुद्रे धरणीधरमस्तके दिशामंते।
यातं कूपेपि विधी रत्नं योजयति जन्मवतां ॥३५९॥

(५८) **पुण्योदयमें सर्वत्र लाभ**—इन प्राणियोंका जिनका कि भाग्य अनुकूल है उनको सर्व समृद्धि सहज प्राप्त हो जाती है। कोई द्वीप समुद्रमें कहीं पड़ा हुआ रत्न हो, पर्वतकी शिखावोंमें, गुफावोंमें, दिशावोंके अन्तमें कुवेंके अन्दर भी गिरा हुआ रत्न हो वे सब उन्हें प्राप्त हो जाते हैं। यह सब दैवका चमत्कार है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है, हैं वस्तु सर्व स्वतंत्र अर्थात् किसी वस्तुरूप अन्य कोई न परिणम पायगा, मगर यह योग लगा हुआ है कि पदार्थोंमें विकार परिणमन हो रहा है तो वह किसी अन्य वस्तुका निमित्त पाकर हो रहा है। तो जैसे तीर्थंकर होने वाले आत्माका उस भवमें आगमन हुआ अर्थात् तीर्थंकरका जन्म हुआ तो जन्मते ही कहीं भवनवासियोंके यहाँ घंटा बजने लगता, कहीं शंखनाद होने लगता, तो इन सबको कौन करने जाता है? कैसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि पुण्यका उदय उस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्मामें आ रहा है अर्थात् वह पुण्यकर्म निकल रहा है और इतनी दूर दूर ऐसी ऐसी घटनायें चल रही हैं, यह सब निमित्तनैमित्तिक योग पुण्योदय है। पुण्योदय होनेपर कितनी ही दूर कुछ भी समृद्धि हो, किसी न किसी प्रकार इसके पास आ जाती है अथवा यह पुरुष कैसे उन सम्पदावोंके पास पहुंच जाता है, यह कोई जान-बूझकर करे तो नहीं हो सकता। तो जिनका भाग्य अनुकूल है उन जीवोंको हर जगह समृद्धिकी प्राप्ति होती हैं और जिनका भाग्य प्रतिकूल है उनके हाथपर रखे हुए भी रत्न नष्ट हो जाते हैं।

विपदोपि पुण्यभाजां जायंते संपदोत्र जन्मवतां।
पापविपाकाद्विपदो जायंते संपदोऽपि सदा ॥३६०॥

(५६) **पुण्योदयसे विपत्तिमें भी संपत्ति तथा पापोदयसे संपत्तिमें भी विपत्ति**—पुण्य के उदयसे इस संसारमें जीवोंपर आयी हुई विपत्तियाँ भी सम्पत्तियाँ हो जाती हैं। जैसे श्रीपालका कथानक प्रसिद्ध है कि उसे समुद्रमें धवल सेठने उसकी स्त्रीपर आसक्त होकर समुद्र में ढकेल दिया था। जयधवलने यह मनमें समझ लिया कि इतने विशाल गहरे समुद्रमें यह श्रीपाल बच नहीं सकता। इतनी बड़ी विपत्ति श्रीपालपर डाली गई फिर भी उसके पुण्यका उदय था, किसी काठके सहारे वह समुद्रके एक किनारे लग ही गया और समुद्रके तटपर वृक्ष के नीचे सो रहा था, वहाँ उस देशका राजा आया और अपने पूर्व संकल्पके अनुसार उसे आधा राज्य दे दिया और अपनी पुत्रीसे उसका विवाह कर दिया। और जब जीवके पापका उदय आता है तो सम्पत्ति भी विपत्ति बन जाती है। आजकल भी देखा जाता है कि कोई किसी राष्ट्रका मालिक बन गया, राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री बन गया और उसके विरोधी तो अनेक होते ही हैं, कोई यदि क्रूर विरुद्ध पार्टीका हो तो वह दाव पाकर उसे भी क्या, उसके वंशके भी वंश समाप्त कर डालता है। तो ऐसी बड़ी विपत्तिका कारण सम्पत्ति ही तो रही। बड़े-बड़े धनिक पुरुष लूटे जाते हैं जहाँ लुटेरों द्वारा जानसे मार डाले जाते हैं तो वहाँ पापका उदय आया और उसकी सम्पत्ति विपत्ति बन गई। तो जीवके जब पापका उदय आता है तो सम्पत्तियां भी विपत्तियां बन जाती हैं। बुद्धिमान् पुरुष वह है जो पुण्यके उदयमें हर्ष नहीं मानता और पापके उदयमें विषाद नहीं मानता। इन सारी घटनावोंको देवकृत अर्थात् भाग्य के निमित्तसे हुई हैं ऐसा जानता है और उन घटनावोंमें व्यामुग्ध न होकर अपने सहज आत्मस्वरूपकी श्रद्धामें बना रहता है, अपनेको समय समयपर ज्ञानज्योतिमात्र अनुभवता हुआ अलौकिक आनन्द पाता है।

चित्रयति यन्मयूरान् हरितयति शुकान् बकान् सितीकुरुते।
कर्मैव तत्करिष्यति सुखासुखं किं मनःखेदैः ॥ ३६१ ॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(५६) **कर्मका विचित्र कर्म**—इस संसारमें जैसा जो प्राणी शरीर धारण किए हुए हैं वे सब दैवके उदयमें बने हुए हैं। कोई मनुष्य बना, कोई नारकी तिर्यञ्च बना, देव बना, उनको उस प्रकारका शरीर मिला तो उनके उस प्रकारके नामकर्मका उदय है। एक एक जातिमें भी कितनी ही उपजातियां हो जाती हैं। कितनी ही तरहकी सकल प्रकृतियां बन जाती हैं, वे सब दैवकृत समझना चाहिये। पक्षियोंमें कितनी ही तरहके रंगरूप आकार प्रकार देखे जाते हैं, रंग बिरंगे उनके पंख होते हैं। तोते हरे रंग वाले होते हैं, बगले सफेद होते हैं। तो ऐसी ऐसी विसमतायें भी उस उस प्रकारके नामकर्मके उदयसे हुई हैं। तो संसार में जो भी दिख रहा है वह सब दैवका प्रसाद है। जिस जीवके जैसे जो कर्म बँधे हुए हैं उसके उदयके अनुसार बाहरमें शरीरकी रचना होती है और अन्दरमें उस उस प्रकारके परिणाम हुआ करते हैं। तो जितने ये विषम परिणमन हैं चाहे आन्तरिक हों, चाहे शारीरिक हों, ये सब स्वभाव नहीं हैं, पर आत्माका अधिकार नहीं है। ये सब दैवके निमित्तसे हुए हैं। इन सबको बाह्य समझना और इनसे उपेक्षा करना इसीमें ही पुरुषोंका वास्तविक विवेक है। जो बाहरी शरीर, वचन बना हुआ है वह तो प्रकट पौद्गलिक है। उससे तो निराला ही है यह आत्मतत्त्व, पर अन्दरमें जो रागद्वेष सुख दुःख परिणाम उत्पन्न होते हैं ये परिणाम भी कर्म-कृत विकार हैं, जीवके स्वाभाविक भाव नहीं हैं। यद्यपि ये परिणाम जीव उपादानके हैं, कहीं यह परिणति कर्मकी नहीं हो गई, हां कर्मकी परिणति भी ऐसी ही है। और उस ही प्रकार की छाया पड़ी हुई है, लेकिन उसे अपनाना, उसका लगाव रखना यह तो जीवका ही विकार है। तो ये सब विकार भी नैमित्तिक हैं। आत्माके स्वभावसे उत्पन्न नहीं हुए हैं, इस कारण इन विकारोंसे भी उपेक्षा करना और आत्माके सहज ज्ञानज्योति स्वरूपमें ही आत्मत्वका अनुभवना हम आपका मुख्य कर्तव्य है।

अन्यत्कृत्यं मनुजश्चिंतयति दिवानिशं विशुद्धधिया।
वेधा विदधात्यन्यत्स्वामी च न शक्यते धर्तुं ॥ ३६२ ॥

(६०) **दैवका अपने जनकपर आक्रमण**—इस दैवकी बड़ी विचित्रता है कि यह दैव जीवके परिणामों द्वारा ही तो उत्पन्न हुआ है फिर भी यह दैव इस जीवके ऊपर अपना स्वामित्व चलाता है। कर्मबन्ध हुआ इसका अर्थ यह है कि कार्माणवर्गणा जातिके पौद्गलिक स्कंधोंमें कर्मत्वअवस्था आयी है और वह कितने समय तक कर्मत्व अवस्था रहेगी और किस जातिका फल देनेका निमित्त बनेगा और कितनी ताकतके साथ इसमें अनुभाग पड़ा है, यह सब भी बंधन हुआ है। यह सब कुछ बंधन जीवके कषाय परिणामके अनुसार हुआ है। तो कर्मोंको इस जीवने ही तो पैदा किया। यदि जीवके भाव न हों उस प्रकार तो कर्म कैसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बनें ? तो इन कर्मोंको जीवने ही उत्पन्न किया । अब उत्पन्न हुए बाद इसका उदय उदीर्ण आती है तब यह जीव विवश हो जाता है और इस जीवपर मानो इस दैवका ही स्वामित्व चल रहा है । तभी तो देखो इस दैवको उत्पन्न करने वाला मनुष्य करना तो कुछ चाहता है और करना कुछ और पड़ता है । वास्तविकता तो यह होती कि यह दैव अपने उत्पादक जीवोंकी आज्ञाके अनुसार चलता । जब जीव परिणामसे कर्मत्वदशा आयी है तो इन कर्मोंका तो इस जीवको आभारी रहना चाहिये था, जिससे यह कृतज्ञ होकर जीवकी आज्ञाके अनुसार चलना और जीवके योगमें, अभिलषित ध्येयमें अपना योग मिलाता, परन्तु यह दैव करता क्या है कि इस ही जीवको अपनी आज्ञामें चलाता है, अर्थात् मानो जो इस दैवके मनमें आता है उसे ही इस जीवके द्वारा कराता है । जिस जीवने विचित्र नामकर्मका बंधन किया तो अब उस नामकर्मके उदयसे इस जीवको विचित्र शरीरोंमें बँधा रहना पड़ा । तो दैवकी कैसी विचित्रता है कि यह जीवके द्वारा ही तो उत्पन्न हुआ और जीवको ही अपने वशमें करके नाना बंधनके दुःखमें डाल रहा है ।

द्वीपे जलनिधिमध्ये गहनवने वैरिणां समूहेऽपि ।
रक्षति मर्त्यं सुकृतं पूर्वकृतं भृत्यवत्सततं ॥३६३॥

(६१) **पुण्योदयकी जीवके लिये सर्वत्र सेवकता**—जिस जीवके पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मका उदय है उसका कोई भी पुरुष बाल बाँका नहीं कर सकता । वह चाहे किसी भी द्वीपमें चला जाय, जिस द्वीपमें कभी भी न गया हो, एकदम नवीन हो जाना हुआ है तो भी उसके पुण्यके कारण वहाँके लोग उसका आदर करेंगे, उसको सब प्रकारकी सुविधायें देंगे । और वह स्वयं ही अपने पुण्यके अनुसार ऐसी बुद्धि पौरुष बना लेगा कि जिसमें यह सम्पत्ति समृद्धियोंका स्वामी बन जाय । जिसके पुण्यकर्मका उदय है वह चाहे समुद्रके मध्य भी गिर पड़े और उसे कोई बैरी समुद्रमें पटक दे तो भी उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता । वहाँ पर भी यह पुण्य सेवकके समान इस जीवकी सेवा करनेमें सदा तत्पर रहता है । एक राजाने एक हिंसकको फाँसी देनेका हुक्म चाण्डालको दिया, उस दिन चाण्डालका चतुर्दशीको जीवहिंसा न करनेका व्रत था सो उसने राजाज्ञाका उल्लंघन कर दिया । राजाने क्रोधमें आकर उस चाण्डालको भयानक हिंसक जीव जंतुवोंसे भरे हुए समुद्रमें पटकवा दिया, पर वहाँ देवोंने उस चाण्डालकी रक्षा की, देवोंने उसके लिए सिंहासन रचा । तो जिनके पुण्यका उदय है उन्हें किसी समुद्रके मध्य भी पटक दिया जाय तो भी उसका पुण्य उसकी सेवा करता है । किसीको सघन वनमें क्रूर जीव-जंतुवोंके बीच छोड़ दिया जाय फिर भी यदि उसके पुण्यका उदय है तो वही जन्तु उसके रक्षक (सेवक) बन जाते हैं । तो पुण्यविपाक जिनके है ऐसे पुरुष

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बैरियोंके समूहमें क्यों न बस रहे हों पर वे बैरी उससे बैरभाव छोड़कर उसका आदर करते हैं। उसकी सेवा करनेमें तत्पर रहते हैं। तो जिनके पुण्यका उदय है वे पुरुष किसी भी द्वीप में, समुद्रमें कैसी ही घटनाके बीच आ जायें, फिर भी उनका पुण्य सेवकके समान उनकी सेवा करनेमें सदा तत्पर रहता है।

नश्यतु यातु विदेशं प्रविशतु धरणीतलं खमुत्पततु।
विदिशं दिशं तु गच्छतु नो जीवस्त्यज्यते विधिना ॥३६४॥

(६२) **कर्मका जीवके साथ बन्धन**—इस जीवने जो कुछ पूर्वकालमें कर्म उपार्जित किया है वे कर्म इस जीवके साथ तब तक रहते हैं जब तक कि उनका उदय होकर खिर न जायें या अन्य विधियोंसे खिर न जायें। बन्धन तीन प्रकारके कहे गए हैं—जीवबन्ध, कर्मबन्ध और उभयबन्ध। जीवके संस्कारमें विकारका बसना, जीवके स्वभावपर विभावका आना यह जीवबंध है। द्रव्यकर्ममें द्रव्यत्व रहना कर्मबन्ध है और बद्ध कर्मोंका जीवके साथ एक क्षेत्रावगाह होकर बंधनमें रहना यह उभयबन्ध कहलाता है। तो जीवने जो कर्म बांधे हैं वे मरनेपर भी जीवके ही साथ जाते हैं, जीव यद्यपि अमूर्त है, पर अनादिकालसे कर्मबन्धनवश होनेसे मूर्तरूपसा बना हुआ है, और मरण होनेपर यह कर्मसहित जीव इतने सूक्ष्म कर्म वाला जीव है कि कैसे भी पहाड़ वज्र आदिकसे यह छिड़ता नहीं है और जिस जगह शरीर धारण करना है उस जगह पहुंच जाता है। तो जीवने जो भी शुभ अशुभ कर्मका बन्धन किया है वह कर्म चाहे किसी भी जगह छिप जाय, गुप्त स्थानमें चला जाय, देश छोड़कर विदेशमें पहुंच जाय या कहीं गुप्त पाताल आदिक स्थानमें छिप जाय या आकाशमें चला जाय, किसी भी दिशा विदिशामें चला जाय, और तो बात क्या, यह मरण करके किसी नये भवमें चला जाय पर यह भाग्य किसी भी जगह नहीं छोड़ता, इस जीवके साथ ही साथ रहा करता है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि मेरे पुण्यका उदय है, चला है, कीर्ति है, लोग मेरा आदर करते हैं, मुझे सत्य समझते हैं पर विषयकषायकी प्रवृत्तिको मैं नहीं रोक पाता हूं, उसको कभी छिपकर करता हूं तो छिपकर करनेमें कर्म मुझे दण्ड न दे पायेंगे, सो ऐसी बात नहीं है। यह कहां छिपेगा? जहां जाता है उसीके साथ ही बद्ध कर्म लगे हैं। कार्माणवर्गणाके विस्रसोपचय लगे हैं। जैसे ही उसके कषाय जगी कि इसके कर्मका बन्ध हुआ और वे कर्म इसके साथ रहते हैं। तो छिपकर भी कहीं जाय तो भी कर्मके उदयकी धारा बराबर चलती रहती है और उस उदयकी धारासे उस उदीरणामें इस जीवको सुख दुःख उस प्रकारके मिलते ही हैं। बात यहां यह समझना कि जीवके साथ जो कुछ विकृति लगी है, जो विसमनीय हो रहा है वह जीवके स्वभावसे नहीं हो रहा, क्योंकि सब दैवका प्रतिफलन है। जैसी दैवकी उदय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उदीर्णा आदिक अवस्थायें होती हैं उस रूपसे इस जीवके बाह्य शरीरादिकका परिणमन होता है और उस ही के अनुरूप जीवके अन्तरंगमें परिणाम उत्पन्न हुआ करते हैं। सो विवेकी जन इन परिणामोंसे और इन बाह्य स्थितियोंसे अपनेको निराला समझें और अपनेको ज्ञान ज्योति मात्र अनुभव करें।

शुभमशुभं च मनुष्यैर्यत्कर्म पुरार्जितं विपाकमितं।
तद्भोक्तव्यमवश्यं प्रतिषेद्धुं शक्यते केन ॥३६५॥

(६३) **पुरार्जित शुभाशुभकर्मकी भोक्तव्यता**—इस जीवने पूर्वमें जैसा भी भला या बुरा कर्म किया है समय आनेपर उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। कर्मका बन्धन किया, अब वह कर्म इस जीवके साथ रह रहा, तो जब उस कर्मकी म्याद पूरी होती है तो उस कर्ममें बड़ा प्रस्फोट होता है। उस विस्फोटके समय इस जीवकी उपयोगभूमिमें उसका प्रतिफलन होता है और यह उस समय ददककर अपनी सुधको खोये रहता है और उस बढ़े बढ़ाये प्रतिफलनोंमें अपनेको लगा देता है और नाना विचित्र चेष्टायें किया करता है। जैसे कोई चूनाका डला है तो उसकी म्याद अवश्य है। वह मान लो ६ महीने तक ठीक रहा। अब उसकी म्याद पूरी होनेपर वह डला स्वयं फूल जायगा, प्रस्फुटित हो जायगा। उस समय उसकी गर्मी निकलेगी, बादमें वह शक्तिहीन हो जायगा। तो ऐसे ही जो कर्म बँधे हैं उनकी म्याद पड़ी हुई है। जब उनकी स्थिति पूरी होती है तो उन कर्मोंमें अनुभाग फूटता है और उस समय उसकी भयंकर स्थिति बनती है। उस स्थितिका प्रतिफलन जीवमें होता है और यह जीव विकारी बन जाता है। कदाचित् चूनेकी डलीपर कोई म्यादसे पहले ही कुछ पानी डाल दे, उसमें नमी आ जाय तो वह पहले ही फूलकर अपनी गर्मीको निकालकर शक्तिहीन हो जाता है। तो ऐसे ही कर्मोंकी उदीर्णा आ जाय याने स्थितिसे पहले ही उसका विपाक हो जाय तो वहांपर भी उसका भयंकर रूप बनता है और उसका निमित्त पाकर जीवको विकारी सुखी दुःखी होना पड़ता है। तो जीवने जो भी शुभ अथवा अशुभ कर्म किया उन कर्मोंको भोगना ही पड़ता है। उसका निवारण यह खुद भी नहीं कर सकता, कोई दूसरा भी नहीं कर सकता। तो मनुष्योंको चाहिए कि अपना विवेक बनायें कि कोई भी शुभ अशुभ कर्म करना आसान बन रहा है, लेकिन इसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। तो अशुभ कर्मोंसे तो पूर्णतया बचें ही और अशुभ कर्मसे बचकर जो शुभ उपयोगमें लगा था, शुभ कार्यमें प्रवर्त रहा था सो शुद्ध अन्तस्तत्त्वको ध्यानमें रखकर उन शुभ क्रियावोंसे भी अलग हों और अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव करें, ऐसे ही पौरुषमें इस जीवका कल्याण है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

धनधान्यकोशनिचयाः सर्वे जीवस्य सुखकृतः संति ।
भाग्येनेति विदित्वा विदुषा न विधीयते खेदः ॥३६६॥

(६४) **सुखसमृद्धि घटनावोंको दैवकृत जाननेसे ज्ञानियोंके खेदका अभाव**—लोकमें जितने भी धन-धान्य खजाने आदिक पदार्थ हैं, जिनको लोग सुखदायक मानते हैं वे सब भाग्य अनुकूल रहनेपर ही सुखदायक हैं । यदि दैव प्रतिकूल हो जाय तो वह सुखदायक सम्पत्ति भी दुःखदायी हो जाती है । बड़े-बड़े महापुरुषोंके अनेक ऐसे चरित्र सुने गए कि उनकी सम्पत्तियाँ ही, उनका बड़प्पन ही उनके लिए क्लेशका कारण बन गया । तो जब पुण्य अनुकूल है तो उस दैवकी अनुकूलतामें इस जीवको सुख साधन मिलते हैं और जब पुण्य नहीं रहता, पापका उदय चलने लगता है तो वे सब दुःखके कारण बन जाते हैं । ज्ञानी जन इस रहस्यको भली-भांति जानते हैं इस कारण वे सुख और दुःखको दैवाधीन ही समझकर उसका रंच भी खेद नहीं करते । उन्हें यह स्पष्ट भान है कि मैं ज्ञानज्योति स्वरूप हूं । मेरी वृत्ति, मेरी अवस्थायें, मेरा परिणमन केवल जाननरूप रहना है । अन्य मेरी वृत्ति नहीं है । जो कुछ भी परिणतियाँ आती हैं, रागद्वेष सुख दुःख आदिक भाव होते हैं वह सब दैवकी छाया है, वह परतत्त्व है, उसका क्या खेद करना । आया है तो उसका ज्ञाता ही मात्र रहना योग्य है, सो विवेकी जन उन सब घटनावोंमें ज्ञाताद्रष्टा ही रहते हैं, उनमें रंच मात्र भी हर्ष विषाद नहीं किया करते हैं और ऐसी ही वृत्तिसे इस जीवका कल्याण है ।

दैवायत्तं सर्वं जीवस्य सुखासुखं त्रिलोकेऽपि ।
बुद्ध्वेति शुद्धधिषणाः कुर्वंति मनः क्षतिं नात्र ॥३६७॥

(६५) **सकल सुखासुखकी दैवकृतता जाननेसे ज्ञानीके खेदका अभाव**—इस लोकमें जीवोंके सुख दुःख सभी कुछ दैवके आधीन ही तो हैं । वास्तविक बात यह है कि जो भी विचित्र विसम परिणमन हैं, जो किसी पदार्थके स्वभावके समान नहीं हैं वे परिणमन औपाधिक ही होते हैं । अन्य पदार्थ उपाधिके मिले बिना ऐसे परिणमन नहीं हो पाते हैं । तो जीव तो ज्ञानानन्दस्वरूप है । उसका वास्तविक प्रवर्तन तो जाननहार रहना, निराकुल रहना, परम आल्हादमें रहना है । यह तो मेरे स्वभावके समान प्रवर्तन है । यह तो निरुपाधि प्रवर्तन है, पर ऐसा तो इस समय हो नहीं रहा । इस जीवमें सुख दुःख इष्ट अनिष्ट आदिक नाना परिणमन चल रहे हैं तो वे सब विचित्र हैं, विसम हैं, विकृत हैं, वे दैवके प्रभावसे ही होते हैं अन्यसे नहीं होते । यहाँ एक तथ्य और जानना कि बहुतसे लोग ऐसा समझते हैं कि जगतमें दिखने वाले इन पदार्थोंसे सुख और दुःख आया करते हैं और ये बाह्य पदार्थ सब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

इस जीवके सुख दुःखमें निमित्त होते हैं, पर वास्तविकता यह नहीं है। जीवके सुख दुःख में निमित्त कारण तो जीव द्वारा उपार्जित कर्मका उदय ही है। उस उदयकालमें जीव विकृत परिणामसे हो रहा है उस समय उपयोगमें जो भी इष्ट अनिष्ट पदार्थ उपयोगमें आ रहे हैं वे पदार्थ उस सुख दुःख आदिक विकारके आश्रयभूत कारण कहे जाते हैं, निमित्त कारण नहीं, इस कारण यह निर्णय रखना कि सुख दुःख अन्य पदार्थोंसे नहीं होते किन्तु दैवके विपाकसे होते हैं। ऐसा जानकर शुद्धबुद्धि वाले पुरुष कभी अपने मनमें शान्तिका भंग नहीं करते हैं। यथार्थता जानकर कि ये सब विकार दैवकृत हैं, इनमें मेरा स्वामित्व नहीं है, मैं तो ज्ञानानंद स्वरूप पदार्थ हूं। केवल जाननहार रहना, लोभरहित रहना यह ही उसका वास्तविक प्रवर्तन है। इस तथ्यको जाननेके कारण ज्ञानी पुरुष शुद्ध बुद्धि वाले भव्यात्मा अपने मनमें शान्तिका भंग नहीं करते, किन्तु यथार्थ ज्ञाता और शान्त रहा करते हैं।

दातुं हर्तुं किंचित्सुखासुखं नेह कोऽपि शक्नोति।
त्यक्त्वा कर्म पुराकृतमिति मत्वा नाशुभं कृत्य ॥३६८॥

(६६) कर्मातिरिक्त अन्य पदार्थोंसे सुखासुखकी अनिष्पत्ति जानकर ज्ञानीके अशुभ क्रियाका परित्याग—इस छंदमें यह कह रहे हैं कि पूर्वमें किए गए कर्मोंको छोड़कर न तो कोई इस जीवको सुख ही दे सकता, न कोई दुःख ही मेट सकता, ऐसा विचारकर बुद्धिमानों को सदा अशुभकर्म न करना चाहिये। जगतमें जो कुछ भी जीवोंपर यह लदा हुआ चला आ रहा है, शरीर लदा है, विकार लदे हैं, सुख दुःखके भाव लदे हैं, जो कुछ भी इस जीवमें विकृतियाँ आयी हैं वे सब कर्मका निमित्त पाकर आई हैं। यहाँ यह बात खास करके समझनी है कि जिसे समयसारमें बंधाधिकारमें समझाया गया है। मूढ़ लोग ऐसी श्रद्धा रखते हैं कि मुझको जगतके इन पदार्थोंके निमित्तसे सुख दुःख रागद्वेषादिक संकट आया करते हैं, पर वास्तविकता यह नहीं है। जीवके सुख दुःख रागद्वेषादिक विकारके कर्मविपाकके अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त नहीं होता। इन बाह्य पदार्थोंको लोग निमित्त शब्दसे कहने लगे, पर ये वस्तुतः आश्रयभूत कारण हैं। जो निमित्तका मंडन करते न उनका यह ध्यान है, जो निमित्त का खण्डन करते न उनको यह ध्यान है। ये बाह्य पदार्थ, ये इन्द्रियके विषयभूत पदार्थ ये जीवके विकारमें निमित्त नहीं, किन्तु आश्रयभूत कारण हैं। निमित्तनैमित्तिकता अप्रतिहत है, और रोज-रोज देखते हैं कि रसोई बनती है तो जब आग जलती है तब रोटी सिकती है। सब काम ढंगसे चलता है। बेढंगा काम कभी नहीं बनता कि रोज रोज तो रोटी आगसे सिकती थीं आज धूल या पानीसे सिक जायें। ऐसी विचित्र बात नहीं देखी गई। जो बात जिस ढंगसे है, जिस निमित्तको पाकर जिस उपादानमें जैसी परिणति हुआ करती है उसके

http://sahjanandvarnishastra.org/

ढंगसे सब कुछ हो रहा है। तो यहाँ जीवके विकार और जीवके सुख दुःखके प्रसंगमें यह जानें कि इस जीवके द्वारा जो पूर्वोपार्जित कर्म है उसका विपाक निमित्त है, उस निमित्त-नैमित्तिकताका भंग नहीं हो सकता। जिस जीवके जिस प्रकारके शुभ अशुभ कर्मका उदय है उस जीवके उस प्रकार शुभ अशुभ घटनायें आती हैं। ये घटनायें बाह्य पदार्थसे नहीं आयीं। यह दृष्टि दिलानेके लिए इस दैव निरूपणमें दैवकी निमित्तनैमित्तिकता बतला रहे हैं।

(६७) **आश्रयभूत कारणकी व्यक्त विकारमें प्रयोजकता**—समयसारमें बताया है कि जो यों कल्पनायें करता है कि मुझको अमुक मित्रने सुख दिया, अमुक शत्रुने दुःख दिया तो ये सब कल्पनायें अनर्थक्रियाकारी हैं मायने ऐसा सोचनेसे न यह बात बनती है और न उन बाह्य पुरुषोंके द्वारा यह बात की जाती है। यदि जीवन होता है तो आयुके उदयसे ही होता है। वहाँ आयुका उदय निमित्त कारण है। जीवका मरण होता है तो वहाँ आयुके क्षयसे ही होता है। आयुका क्षय वहाँ निमित्त कारण है। जिस जीवके सुख होता है उसके साताके उदयसे ही होता है, अन्य जीवादिकसे नहीं होता। तो वहाँ साताका उदय निमित्त कारण है। जिस जीवके दुःख होता है उसके असाताके उदयसे ही होता है, अन्य जीवोंके कारण नहीं होता। इस विषयको समयसारके बंधाधिकारमें बड़े विस्तारपूर्वक समझाया गया है और यह इसलिए समझाया गया कि जो निमित्त कारण हैं ही नहीं उन्हें निमित्तनैमित्तिक मानकर क्यों व्यर्थमें कल्पनायें बढ़ाना ? इस दृश्यमान जगतके पदार्थ जीवके रागद्वेष सुख दुःख आदिकमें निमित्त कारण नहीं है, केवल आश्रयभूत कारण हैं। तो बात यों गुजरती है कि जब जीवके उस प्रकारके कर्म का विपाक होता है तो उस प्रकारके भाव होनेमें यह उपयोग जिस बाह्य पदार्थका आलम्बन लेता है, जिस बाह्य पदार्थको विषय करता है, जिससे अनुकूलता विचारता है वह बाह्य पदार्थ आश्रयभूत कारण कहलाता है। इसीको बताया है—वत्थुं पडुच्च जं पुण आदिक गाथामें कि 'नहि बाह्य वस्तु अनाश्रित्य अध्यवसानं आत्मानं लभते।' बाह्य वस्तुका आश्रय किए बिना अध्यवसान अपने स्वरूपको प्रकट प्राप्त नहीं होता। मायने आश्रयभूत कारण बननेपर जिसे कहो आरोपित कारण, बताया गया कारण, जिन आश्रयभूत कारणोंके होनेपर जीव विकार करता है तो वह विकारका आश्रयभूत बना। कर्म का उदय होनेपर जीवमें विकार जगता है, मगर आश्रयभूत मिल जाय तो वह विकार व्यक्त हो जाता है और आश्रयभूत न मिले तो वह विकार अव्यक्त खिर जाता है। जैसे ये क्रोध, मान, माया व लोभ आदिक कषायोंके उदय चल ही रहे हैं, चाहे कोई पूजामें खड़ा हो, सामायिकमें बैठा हो, चाहे परमात्माका ध्यान कर रहा हो तो भी वहां क्रोध, मान, माया, लोभादिकका उदय चल रहा है और उसके अनुभागकी छाया पड़ रही है और उस प्रकारका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वहाँ विकार जग रहा मगर व्यक्त नहीं हो रहा, अव्यक्त चल रहा क्योंकि उस समयमें उस कषायके आश्रयभूतमें उपयोग नहीं दिया है। यहाँ शुद्ध तत्त्वमें ध्यान जमाया है।

(६८) **विषम विकृत परिणमनोंकी औपाधिकताका नियम**—यहाँ यह बतलाया जा रहा कि जगतमें जितनी विषमतायें हो रही हैं, जो भी विकार विभाव परिणमन चल रहे हैं वे सब स्वभावसे नहीं होते। यद्यपि प्रत्येक वस्तुका परिणमन उसका उस ही में होता है। कोई पदार्थ दूसरेका परिणमन नहीं किया करता। यह है वस्तुस्वातंत्र्य, वस्तुस्वातंत्र्यका अर्थ इतना है कि प्रत्येक वस्तुका परिणमन उस ही वस्तुके परिणमनसे होता है अन्य वस्तुकी परिणतिसे नहीं होता। यह है स्वातंत्र्य। तो विकार होते समय भी वस्तुस्वातंत्र्य बराबर बना हुआ है। वह किस प्रकार बना हुआ है कि जैसे मानो क्रोध प्रकृतिका उदय आ रहा है तो क्रोध प्रकृतिका उदय आनेपर जीवमें क्रोधका अनुभाग प्रतिफलित हुआ और उस समय यह जीव अपनी सुध छोड़कर उस अनुभागको अपनाने लगा और एकदम विकाररूप परिणमने लगा। तो उस समय कर्म पुद्गलने जीवको क्रोधोपयोगरूपसे नहीं परिणमाया। यह जीव ही क्रोधोपयोग रूपसे उपयुक्त हुआ है। यह तो वस्तुस्वातंत्र्य है और यह निमित्त-नैमित्तिक योग है कि जीव अपने स्वभावके अनुरूप परिणमन न करे, जो विकार रूप परिणमन कर रहा है वह उस क्रोधप्रकृतिके विपाकका निमित्त पाकर ही कर रहा है। बाह्य उपाधिका संग पाये बिना विकार कभी हो ही नहीं सकता है।

(६९) **निमित्तनैमित्तिकताके परिचयका प्रथम लाभ इन्द्रियविषयोंसे व्यामोहका अभाव**—निमित्त नैमित्तिक भावके परिचय करनेके दो प्रयोजन सिद्ध हुए। एक तो यह होता है कि जो विषयोंका व्यामोह कर रखा है और यह मान रखा है कि ये बाह्यपदार्थ मेरे रागद्वेष सुख दुःखके निमित्त हैं, यह मान्यता हट जाती है। ये निमित्त नहीं है किन्तु उस ही विकाररूप परिणमता हुआ यह जीव इन बाह्य पदार्थोंको उपयोगमें लेता हुआ और विषयभूत बनाता हुआ अपने विकारको प्रकट करता रहता है। ये आश्रयभूत कारण हैं। हम इन आश्रयभूत पदार्थोंका परिहार करें, यहाँसे विकार हटायें, अपने आपके स्वरूपकी ओर शुद्ध आत्मानुभूतिकी ओर जो शुद्ध आत्मारूप परिणम रहे हैं उनके गुणोंके स्मरणकी ओर अपने उपयोगको चलायें तो हम इन संकटोंसे बच जायेंगे। पर जो कर्मप्रकृति उदयमें आयी है वह अपना विकार बनाकर जायगी। हां वहाँ अव्यक्त विकार बनेगा। अध्यात्मशास्त्रमें अव्यक्त विकारकी चर्चा नहीं चला करती है। यह तो करणानुयोग बतलाता है। यह सूक्ष्म बात है। अध्यात्मग्रन्थ केवल बुद्धिपूर्वक बातोंका वर्णन करते हैं—अबुद्धिपूर्वकका कथन अध्यात्मशास्त्रोंमें नहीं होता, इसी कारण जहाँ यह कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टिके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आश्रव नहीं है तो उसका अर्थ यह है कि बुद्धिपूर्वक आश्रव भावनाका अभिप्राय न होनेसे तत्कृत बंध और आश्रव नहीं है परन्तु इस मिथ्या आशयके बिना जो अन्य प्रकारके क्षोभ आदिक परिणाम चल रहे हैं तन्निमित्तक आश्रव बंध चल रहा है इसकी चर्चा उस प्रकरण में नहीं की जाती। तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि जीवके जो भी सुख हो रहा है वह किसी दूसरेके द्वारा नहीं हो रहा है। जो किसी बंधुको सुखदायी मानकर उसका मोह करनेमें लग जाय कि यह मेरेको सुख प्रदान करता है, यह मेरा बड़ा प्यारा है, यहाँ तो जो लोग जो भी चेष्टायें करते हैं वे अपनी सुख शान्तिके लिए किया करते हैं, वस्तुतः दूसरेके लिए नहीं करते। माता पुत्रसे प्रेम करती है मगर पुत्ररूप जो दूसरा पदार्थ है उसके लिए कुछ नहीं करती, किन्तु उसका आश्रय करके अपने आपमें कल्पनायें बनाती है। यह मेरा पुत्र है यह बड़ा ठीक है, मेरा ही तो है, इससे मेरेको बड़ा सुख उत्पन्न होता है। कुछसे भी कुछ कल्पनायें बनाये, वह माता कल्पनायें बनाती है और अपनी कल्पनासे वास्तवमें राग रखती है। बाह्य वस्तुसे राग करनेका सामर्थ्य किसीमें है ही नहीं।

(७०) **निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयके प्रथम लाभकी विवृतिका समर्थन**—कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमें अपनी परिणति नहीं कर पाता, मगर जो भी विकृत होता है उस में परसंग ही निमित्त होता है। वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्। क्या कि तस्मिन्निमित्तं पर॰ संग एवं जितने भी विकार जगते हैं उसमें निमित्त यह स्वयं नहीं होता। यदि स्वके विकारमें स्व ही निमित्त हो जाय तो वह विकार विकार न कहलायगा, स्वभाव बन जायगा और उसका नित्य कर्ता हो जायगा। वह कभी मिट ही नहीं सकता। तो आगम में जो भी वर्णन है उन सब वर्णनोंसे हमें लाभ उठाना चाहिए निमित्तनैमित्तिकताके तथ्यके वर्णनसे। आचार्योंके ग्रन्थ करीब-करीब जितने हैं उनमेंसे आधेसे अधिक ग्रन्थ कर्मग्रन्थ हैं। धवला ग्रन्थ जो सर्व प्रथम इस पंचम कालमें रचा गया है वह सब इन्हीं सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करने वाला है। उनसे हम क्या शिक्षा लें कि जीवमें जितने भी विकार जगते हैं वह पूर्वकृत कर्मके उदयका निमित्त पाकर जगते हैं। इनके जगाने वाला कोई दूसरा मित्र, शत्रु, बंधु, भाई, भतीजा, पुरुष कोई नहीं है। ये केवल आश्रयभूत बन जाया करते हैं प्रकट विकार होनेके लिए इसलिए उनमें रागद्वेष न करना। कहाँ राग करें, कौन मुझे सुख देने वाला है? जो सुख होता है वह हमारे पूर्वार्जित कर्मके उदयसे होता है ऐसा ध्यान रखनेमें इस जीवने बाह्य पदार्थसे व्यामोह हटा लिया। कौन मुझे दुःख दे सकता है, मेरे पूर्व उपार्जित कर्मके उदय से यहाँ दुःखरूप अनुभव जगता है। दूसरा कोई मुझे दुःखी नहीं करता, इस कारण जगतमें कोई भी दूसरा जीव मेरा शत्रु नहीं है। किस पर मैं विरोध करूँ किसे मैं बैरी कहूं? यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अज्ञान है कि जब कोई जरा भी अपने विचारके प्रतिकूल विचार वाला समझता है किसीको तो वह अनिष्ट जचने लगता है, यह उसके पापका उदय है। और वह अपने इस पापके उदय में फिर दुःख भोगता है। पर यह जानें कि जब कहीं कोई शत्रु मेरेपर आक्रमण भी कर रहा हो, खोंटे वचन बोलनेकी बात तो दूर रहो, वह तो केवल बाहरी बात है, आक्रमण भी कर रहा हो तो भी मेरेको जो कष्ट हुआ है तो मेरे द्वारा अर्जित पूर्व असाता कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुआ है। उस समयमें यह जीव आश्रयभूत कारण बन गया। तो जो साक्षात् आक्रमण करता हो उसपर भी हममें यह दुर्बुद्धि न रहना चाहिए कि यह मेरेको कष्ट देने वाला है, फिर हम रोज रोजकी चर्या व्यवहारमें जरा जरा सी बात अपने मनके प्रतिकूल निरखने वालेपर हम उसे अनिष्ट मान लें, उसे गैर मान लें, उससे बैर करने लगें, विरोध रखने लगें तो यह तो महान मोह अज्ञानका आक्रमण समझियेगा। यहाँ यह बतलाया जा रहा कि जो मुझमें विषम परिणाम हो रहा वह मेरे स्वभावसे नहीं हो रहा। हो रहा मेरा परिणमन मेरा ऐसा परिणमन निमित्त पाये बिना नहीं होता। जब कभी लोग संदेह करते हैं तो बाहरी परपदार्थोंका निमित्त नाम धर धर कर संदेह उठाते हैं। जिन पदार्थोंके साथ विकारका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो, वे ही बाह्य पदार्थ निमित्त कहलाते। हाँ उपयोगके आश्रयभूत होनेपर चूंकि विकार जगा, बढ़ा, व्यक्त हुआ अतएव वह आश्रयभूत कारण कहलाता है।

(७१) **वास्तविक निमित्त कारण व आरोपित कारणका विवेक**—लोक भाषामें और ग्रन्थोंमें वास्तविक निमित्तको भी निमित्त शब्दसे कहा गया है और आश्रयभूत कारण का भी निमित्त शब्दसे कहा गया है मगर वहाँ यह विवेक होना चाहिए कि यह वास्तविक निमित्त है, और यह आरोपित निमित्त है अर्थात् आश्रयभूत कारण है। यों तो हर जगह विवेक रखना है। गाय, भैंस, बकरी आदिके दूधको भी दूध कहते हैं और आक (अकौवा) के दूधको भी दूध कहते हैं पर आपके यह विवेक बराबर बना रहता है कि गाय भैंस आदिक का दूध तो प्राणपोषक होता है और आकका दूध प्राणघातक होता है। यदि कोई एक छटाँक आकका दूध पी ले तो उसके प्राण नहीं टिक सकते। तो जैसे वहाँ विवेक बना है ऐसे ही बुद्धिमान पुरुष सर्वत्र सावधानी रखते हैं जीवविकारका निमित्त कहने पर कि जो कर्मका उदय है वह तो है वास्तविक निमित्त जिसका कि नैमित्तिकके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है और बाकी इन्द्रिय और मनके विषयभूत जो बाह्य पदार्थ हैं वे सब आरोपित कारण हैं, आश्रयभूत कारण हैं, निमित्त नहीं हैं। निमित्तनैमित्तिकविधि अप्रतिहत है, उसका भंग नहीं हो पाता। वैज्ञानिक विधिमें सब जगह आप यही पायेंगे। यह शरीरकी विचित्रता जो दृष्टिगत हो रही है कैसे-कैसे पशु, कैसे-कैसे पक्षी, कैसे-कैसे कीट पतिंगे, कैसा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कैसा उनका रूप रंग, आकार। तो यह सब शरीरकी विचित्रता कैसे हुई ? यह विचित्रता दैवकृत है, अर्थात् जिस जीवके जिस प्रकारके नामकर्मका विपाक है उसका उस प्रकार शरीर परमाणुवोंमें उस-उस ढंगकी रचना चली है। जितने भी दृश्यमान पदार्थ हैं वे सब कोई आज दैवनिमित्तक हैं तो कोई कभी। जैसे ये दरी चौकी पत्थर आदिक जो कुछ भी नजर आ रहे पुस्तक वगैरह ये सब जीवके शरीर थे। स्थावर जीव थे। जब ये शरीर थे तो वे इस कर्मके उदयसे निर्मित थे, वहीं आज कुछ यह शक्ल बनी हुई है। तो ये सब विचित्रतायें दैवकृत हैं। इनको निरख करके हर्ष विषाद न करना चाहिए। यह विवेकी उन्हें अन्यके खातेमें डाल देता है कि ये औपाधिक हैं, मेरे स्वभावकी चीज नहीं हैं।

(७२) **निमित्त और आश्रयभूत कारणके विवेकीके चरणानुयोगप्रक्रियाका आदर—** निमित्तनैमित्तिक विधिका सत्य परिचय करनेसे एक लाभ तो यह है कि वह इन्द्रिय मनके विषयभूत पदार्थोंको निमित्त नहीं मानना, यह आश्रयभूत मानता और इसी कारण चरणानुयोगमें इन बाह्य पदार्थोंके त्यागका विधान बताया है कि आश्रयभूत कारणोंको आप छोड़ दीजिए। थोड़ा अपने भाव बनाइये और उस भाव पूर्वक उनको छोड़िये। कभी कभी तो यह देखा जाता कि आप अपने भावोंमें कुछ बढ़ चढ़ गए, वैराग्य भी आ गया कुछ मन भी ऊब गया इन विषयभूत पर पदार्थोंमें आपका मन नहीं लगता, मगर ये ही पदार्थ जब अपने सुन्दर सीधे अनेक रूपोंमें सामने आते हैं तो आपका वह पाया हुआ छोटा मोटा वैराग्य मालूम होता है और आप रागभावमें आने लगते हैं। ऐसी घटना आप प्रायः रोज पाते हैं इसी कारण इन आश्रयभूत पदार्थोंके परिहारका उपदेश चरणानुयोगमें बताया गया है। एक तो यह लाभ कि आप उस बाह्य पदार्थमें व्यामुग्ध न रहेंगे निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयका, क्योंकि इन बाह्य पदार्थोंके साथ उसके विकारका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है किन्तु यहाँ आश्रय और आश्रयी सम्बन्ध है जो कि कल्पनासे बनाया गया है। तो इन पदार्थोंमें आपको राग द्वेष न जगेगा। इष्ट अनिष्ट बुद्धि न जगेगी। इन बाह्य पदार्थोंके कारण आपके चित्तमें आग्रह न चलेगा, एक लाभ तो यह होगा।

(७३) **निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयका द्वितीय लाभ सुगमतया स्वभावदृष्टि—** निमित्तनैमित्तिकताके परिचयका दूसरा लाभ यह है कि रागद्वेष सुख दुःख आदिक परिणामों से आपको सहज वैराग्य जगेगा, क्योंकि जिस समय आपने जाना कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक भाव औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं तो यह जानकारी उसको ही हुआ करती है जो अपने स्वभावका परिचय पाये हो। वही तो जान सकेगा कि यह औपाधिक है, याने मेरा स्वरूप नहीं है। मेरे स्वभावसे उठा हुआ नहीं है। तो निमित्त नैमित्तिकके परिचयसे स्व-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भावसे उठा हुआ नहीं है । तो निमित्त नैमित्तिकके परिचयसे स्वभावदृष्टि होना बहुत सुगम है । यह मैं हूं ही नहीं, यह औपाधिक है, औपाधिक मायाके रुचिया परसमय कहलाते हैं । यह मेरा स्वरूप नहीं है । मैं वह हूं जो अपने परसत्त्वके कारण सहज ही अपने आपमें शक्ति स्वरूप हूं । मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र हूं, जिसकी वृत्ति मात्र जानन है और परम आल्हाद जहाँ आकुलताका रंग लपेट रंच भी नहीं होता । केवल जाननहार यह वृत्ति मेरे कुलकी बात है, स्वभाववृत्ति है । इसमें रागद्वेषका रंग लगा है, क्योंकि जो हम जानते हैं वह कल्पनाके रूपमें उठकर जानते हैं और उस कल्पनाके रूपके साथ रागद्वेष मिश्रित रहता है । तो इस जाननप्रकाशमें जो रागद्वेषका मिश्रण है यह रागद्वेष कर्म अनुभागकी छायारूप है । इसे यहाँसे हटा दीजिए । अपने उपयोग द्वारा इन वर्तमान भावोंमें से इस रागरंगको औपाधिक जानकर हटा दीजिए और केवल एक जानन वृत्तिको ही उपयोगमें रखिये । यह ही साधना तो बनाना है । यह साधना निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयसे बड़ी सुगम बन जाती है स्वभावदृष्टि होनेके लिये । जहाँ गंदे पानीमें यह जाना कि यह जो गंदगी है यह कीचड़ की गंदगी है, ऐसा जानने वालेकी जलके स्वरूपका, स्वभावका परिचय है । यदि जलके स्वभावका परिचय उसे नहीं है तो वह कीचड़की गंदगी है ऐसा बोध कर ही नहीं सकता । इसी प्रकार यह नैमित्तिक है यह बोध उन्हीं ज्ञानी संत पुरुषोंके बनता है जिनको अपने स्वभावका सुदृढ़ परिचय है उनमें ये रंग सम्भव ही नहीं हैं कि मेरे स्वभावमें ये राग रंग आ जायें । तो जितनी भी विषमता है वह मुझे न चाहिए । वह सब विषमता दैवकृत है । मेरे स्वभावसे उत्पन्न हुई नहीं है । मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूं ।

(७४) **दैवनिरूपणके प्रकरणसे प्राप्तव्य शिक्षा**—यहाँ जो परिचय इस दैवनिरूपण में बताया जा रहा है, इससे सीधी तो यह शिक्षा लेना कि मेरेको सुख दुःख देने वाला जगतका कोई भी बाहरी पदार्थ नहीं है । मात्र भाग्योदय ही निमित्त है । तो यहाँ यदि इन बाह्य पदार्थोंसे सुख दुःख होता है, यह कोई मान ले तो वह और भी उलझनमें पड़ जाता है । हटाना तो दूर रहो, उसकी उलझनें बढ़ती हैं, अज्ञान बढ़ता है, लगाव बढ़ता है और यदि कोई इन रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकारोंको नैमित्तिक नहीं मान पाता तो वह अपना मान बैठता है । मेरी कलासे हुआ है, मेरी ही चीज है, मैं क्यों छोड़ूं, यह तो मेरा ही ठाठ है, मेरी ही बात है । वह वहाँ स्वभावरूप मानकर उसमें बह जायगा, इस कारण वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक योग इन दोनोंका भले प्रकार परिचय करना क्योंकि जगतमें हम आप आज यहाँ आये हैं, इन समागमोंके बीच हैं, घर गृहस्थी मकान नगर आदिक जिनकी जैसी-जैसी घटनायें हैं उनके बीच रह रहे हैं और अपने पूर्वोपार्जित कर्मोंके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनुसार जन्म मरण करते चले आये हैं। आज सुयोग मिला, सुबुद्धि मिली, हम तथ्यका परिचय पा सकते हैं, अपने आत्मस्वरूपका भान कर सकते हैं। तो जैसे अपने आपकी करुणा बने, अपने आपका उद्धार बने वह काम बना लिया जायगा, अन्य कामोंके जितने उपदेश हैं हैं वे सब उपदेश आत्मकल्याणका कार्य बनानेके प्रयोजनसे ही कहे गए हैं। तो उन सबका हम उपयोग इस प्रकार लें कि उनका वाच्य अर्थ उस प्रकारकी पद्धतिसे लायें कि जिससे हम बाह्य पदार्थोंसे उपेक्षा करके विकारोंसे उपेक्षा करके अपने शाश्वत ज्ञानानन्दस्वभावमें उपयोगको ले जा सकें, बस इसमें ही आत्माका कल्याण है।

नरवर सुरवर विद्याधरेषु लोके न दृश्यते कोऽपि।
शक्नोति यो निषेद्धुं भानोरिव कर्मणामुदयः ॥३६६॥

(७५) **कर्मोदयके निवारणकी अशक्यता**—जैसे जब सूर्यका उदय होता है तो उसको संसारमें कोई रोकनेके लिए समर्थ नहीं है। उदयकालमें उदित होता है। उसे मनुष्य, देव आदिक कोई नहीं रोक सकता, उसका प्रकट होना अवश्यंभावी है। इसी प्रकार इस दैवका भाग्य उदयमें आना और शुभ अशुभ फल देना भी अवश्यंभावी है। इसे भी कोई रोक नहीं सकता, यह एक संतति अनादिसे चली आयी है। जीवके विकार परिणामका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावोंमें कर्मत्व आया और उस कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें विकारभाव आया। यह संतति अनादिसे इस जीवके साथ चली आयी है। इसी बीच कभी किसीके ऐसा योग बन जाता है कि किसी समय मंद अनुभाग वाले निषेक उदयमें रहते हैं, तो जैसे जब कभी नदीका वेग कम हो जाता तो वहाँ उस नदीको पार कर लिया जाता है ऐसे ही जिस जीवके कर्मभार अनुभाग मंद होनेका समय होता है उस समय जीवको अवकाश मिलता है कि कुछ पौरुष बनाये और आगे प्रगतिकी धारा बना सके। एक प्रश्न होता है कि इस जीवने अनन्त काल क्यों व्यतीत किया? जब जीवके आधीन बात है कि अपने पुरुषार्थको संभाले तो पार हो जाय तो इसने कभी ऐसा पुरुषार्थ संभाला क्यों नहीं और उसका स्पष्ट प्रमाण है कि जो अब तक रुल रहे हैं, हम आप कभी अपने आपकी सुध नहीं संभाल सके। तो बात यह है कि थोड़ा ऐसा प्रसंग आता है कि यह अपने ज्ञानबलको संभाले तो कर्मोंमें परिवर्तन घटा बढ़ी उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण निर्जरा गुणश्रेणी ये सब अपने आप चलने लगते हैं, पर अपने आपको संभालें कैसे? तो उसका निमित्त है कर्मोंका ७ प्रकृतियोंका उपशम क्षय, क्षयोपशम, वह भी कैसे होवे? तो उसका कारण है कि यह मनुष्य स्वाध्याय, ध्यान, सत्संग आदिक बातोंका प्रयास करे, और यह भी कैसे मिले? तो प्रश्नमें प्रश्न उठा ले जायें, अन्तमें यह उत्तर मिलता है कि सबसे प्रथम क्षयोपशमलब्धिसे जीवको प्रगतिका मौका मिल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पाता है।

(७६) **जीवकी प्रगतिका प्रथम अवसर क्षयोपशमलब्धि**—क्षयोपशम लब्धिका अर्थ यह है कि कोई भी समय मंद अनुपातमें अनुभागका उदय आये वह इस लब्धिका समय है। जैसे इस जीवने मानो अबसे लाख वर्ष पहले कर्म बांधा था और वे कर्म जबसे जब तकके लिए बांधा उसके निषेक सब प्रति समय बँट गए। उसके बारेमें मानो कई अरबोंकी संख्या में परमाणु वर्ग बँधे तो पहले समयको मिलता है अधिक परमाणु, बादके समयको मिलता है कम परमाणु, ऐसा ऐसा अन्तिम समयमें मिलता है बिल्कुल कम कोई निषेक और शक्तिकी बात इससे उल्टी चलती है। जो पहले समयमें बहुत परमाणु मिले उदयके लिए उनमें शक्ति कम रहती है, अगले समयमें जो परमाणु कम मिले उनमें शक्ति अधिक रहती है और अन्त समयके लिए जो परमाणु पुञ्ज बहुत कम बचे उनमें शक्ति सर्वाधिक रहती है, तो ऐसे प्रति समयके पूर्व समयके बांधे हुए परमाणु बँटे हुए हैं। आजके क्षणमें जितना उदय आ रहा है तो यह करोड़ों भव पहलेके अनगिनते समयोंके बांधे हुए कर्मका जो समय प्राप्त है, विभागमें आया है उसका उदय चल रहा है। तो वह वर्तमान उदय जब मंद अनुभागमें पड़ जाता तो वह है जीवके पुरुषार्थ चलनेका पहला अवसर। तो यह बात होती है कर्मकी ओरसे ही। तब तक जीवका कुछ नहीं वश चल पाता। तभी तो अनादिसे चल रहा है बराबर और चलता ही रहा, तो सर्वप्रथम मौका मिलता प्रगतिका जीवको, तो क्षयोपशमलब्धिसे मंद अनुभाग वाले समयसे ही।

(७७) **प्राप्त सुअवसरमें प्रमादमें न करनेका अनुरोध**—भैया! प्रथमावसरकी इस चर्चामें क्या अधिक पड़ना? हम आपका तो सुनिश्चित ही है कि क्षयोपशमलब्धि मिल चुकी है और आज अच्छी स्थितिमें हैं, यहाँ हम प्रमाद करें तो हमारी भूल है। हम उस योग्य स्थितिमें हैं जहाँ एक अवसर मिलता है कि यह चाहे तो अपना उद्धार कर ले। उसके लिए पौरुष क्या है? ज्ञान सीखें, अध्ययन करें, पढ़ें, चर्चा करें। हर विधियोंसे अपनी ज्ञान भावना बढ़ायें तो इस पुरुषार्थके निमित्तसे कर्मोंमें मंदता, क्षीणता, हल्कापन ये होने लगते हैं। जो ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, आदिक बताये तो कहीं एक ही समयमें सब कुछ हो गया। पहलेसे कुछ नहीं हो रहा था उन कर्मोंमें ऐसा नहीं। तो हमारा वर्तमान पौरुष भी चाहे सम्यक्त्व नहीं है, मिथ्यात्वकी स्थितिमें ही चल रहे हैं, पर मंद कषाय हो, कुछ उद्धार का परिणाम हो ऐसे मंद मिथ्यात्वमें, मंद कषायमें ये बातें आने लगती हैं। तो इस समयके इस पौरुषका निमित्त पाकर उन ७ प्रकृतियोंमें मंदता आने लगती है। उपशम, क्षय, क्षयोपशम तो न होगा मगर कुछ परिवर्तन होने लगता है और परिवर्तन होते होते जब विशुद्धि

http://sahjanandvarnishastra.org/

देशना प्रायोग्यलब्धियोंसे गुजर कर करणलब्धि आती है तो यों ही वे कर्म पुञ्ज क्षीण हो होकर उस कालमें उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी स्थितिको प्राप्त होते हैं।

(७८) **सम्यक्त्वादि विकासकी स्वाभाविकता**—जिन कर्मोंके उदयमें मिथ्यात्व बन रहा था उन कर्मोंका उपशम आदिक होनेसे मिथ्यात्व समाप्त हो गया। अब विपरीत अभिप्राय नहीं बनता। तो इसका सम्यक्त्व होना अवश्यंभावी हो गया। वास्तविकता यह है कि उन ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे विपरीत अभिप्राय दूर होता है। मिथ्यात्वका विनाश होता है। जो नैमित्तिक है उसका अभाव होता है। नैमित्तिक है मिथ्यात्व। सो उन ७ प्रकृतियोंके उपशम आदिकसे उस नैमित्तिक भावका, मिथ्यात्वका अभाव होता है, किन्तु वहाँ यह अवश्यंभावी हो गया कि मिथ्यात्वका विशेषतया अभाव हो तो सम्यक्त्व का विकास होता है। तो यों कहने लगे कि इन ७ के क्षय आदिकसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। ७ के क्षय आदिकसे मिथ्यात्वपर्यायका अभाव होता है और उस स्थितिमें यह स्वाभाविक बात है कि सम्यक्त्वका विकास हो जाय। जो स्वाभाविक परिणतियाँ हैं वे नैमित्तिक हैं। नैमित्तिक तो नैमित्तिकका सद्भाव नैमित्तिकका अभाव हैं और यह स्वाभाविक पर्याय उस समयमें स्वयं ही होती है। अथवा यह वृत्ति तो हरदम विकासके लिए ही तत्पर रहती है। प्रतिबंधक मिथ्यात्व आदिक विभाव आते हैं तो ये विकसित नहीं होते। तो किसी खास स्थितिमें जहाँ तत्त्वज्ञान जगे, आत्माको संभाले, ऐसी विशेष ज्ञानप्रकाशकी स्थितिमें इन बद्ध कर्मोंमें संक्रमण प्राक् निक्षेप आदिक होने लगता है। बस एक इस विशिष्ट स्थितिको छोड़ कर शेष समयके इस दैवका निवारण करनेके लिए कोई समर्थ नहीं है। दूसरा तो समर्थ होता ही नहीं है। मेरे भाग्यको कोई दूसरा जीव परिवर्तित कर दे, वह निमित्त भी बन जाय सो ऐसा नहीं होता। तो दूसरा कोई भी इन्द्र हो, चक्री हो, महापुरुष हो वह भी इस दैव का निवारण करनेमें समर्थ नहीं है।

(७९) **निमित्तनैमित्तिकयोगके परिचयसे कायरता**—उक्त सब बात सुनकर कायरताकी बात नहीं जगाना है कि मैं क्या करूँ? यह सब दैवके आधीन है, दैवकृत बातें हैं। हम तो वहाँ विवश हैं, इन तथ्योंको जानकर यह बात लेना है कि ये कर्म, ये मेरे स्वभावभावके उपादानतया प्रतिबंधक नहीं हैं जो मैं यह कायर बनूँ कि भाग्य ही मुझे जैसा परिणमाता है सो होता है। भैया, दैव निमित्तमात्र है। परिणमाने वाला भी पदार्थ दूसरा नहीं हुआ करता। वस्तुस्वातंत्र्यका अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु अपनी ही परिणति क्रियासे परिणमती है, अन्यकी परिणति क्रियासे नहीं परिणमती है। वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है। तभी प्रत्येक पदार्थ आज सत्तामें मिल रहे हैं। यदि ये गड़बड़ियाँ चलती होतीं कि एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

पदार्थसे दूसरे पदार्थका परिणमन होता तो आज कुछ भी न मिलता। एक दूसरे रूप हो गया, वह दूसरे रूप बन गया, दूसरेका परिणमन करनेका अर्थ दूसरे रूप हो जाना है। तो यों अटपट कोई किसी रूप कोई किसी रूप हो जाता और यों विघटन होते होते जगत शून्य हो जाता। आज जो पदार्थ सत्त्वमें मिल रहे हैं वे इसके प्रमाण हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणति क्रियासे परिणमते हैं। तब तक ही यह नियोग है कि अशुद्ध उपादान कर्मोदय का निमित्त पाकर विकाररूप परिणमता है। विकाररूप परिणमा यह जीव अकेला। कोई परिणमन दो क्रियावोंका मिलकर नहीं होता। तो विकार रूप यह जीव ही परिणमा उस कालमें, तो यह कहलाया वस्तु स्वातंत्र्य, पर ऐसा विकार रूप परिणमना परसंग पाये बिना नहीं होता। परसंगके सान्निध्यमें ही होता। यह कहलाया निमित्तनैमित्तिक योग। सो निमित्तनैमित्तिक योग जाननेसे अपनेमें कायरता दूर होती है। यह तो नैमित्तिक भाव है, निमित्त पाकर हुआ है। पर हुआ है उसकी ही परिणतिसे। अन्य वस्तुकी परिणतिसे नहीं हुआ है, इसलिए यह वस्तुस्वातंत्र्य बराबर बना है। खेदकी बात कहो या गम्भीर समस्या की बात कहो यह तब कहलाये जब कोई निमित्तभूत पदार्थ ही उपादानरूप परिणम जाय उपादानकी परिणति कर ले और उपादान स्वयं परिणम न रहा हो, केवल निमित्त ही परिणम रहा उस रूप, जिसको कि उपादानका विकार कहते हैं। यह बात होती तो एक बड़ी समस्या थी और मोक्षमार्गका उपाय नहीं बन सकता। पर वस्तुस्वातंत्र्य है, निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर भी, इस कारण यहाँ दम है कि यह जीव कभी विकार पर्यायको छोड़कर स्वभावपर्यायमें भी आयगा।

(८०) **निमित्तनैमित्तिकयोगके परिचयसे अहंकार विकारका नाश**—निमित्त नैमित्तिक योगके सही परिचयसे अहंकार मिटता है, कायरता दूर होती है, अहंकार तो यों मिटता कि मैं कुछ करने वाला नहीं। यह कर्मोदयका निमित्त पाकर हो रहा है, कोई पुरुष समृद्ध हुआ, धनी बना, अनेक सुखसाधनोंसे सम्पन्न बना तो यह अटपट काम नहीं हो गया, बराबर उस रूप साता आदिक प्रकृतियोंका उदय वहाँ चल रहा है और उसके अनुकूल ये बाह्य समागम मिल रहे हैं। निमित्तनैमित्तिक योगमें वस्तु पारतंत्र्यकी बात नहीं है, किन्तु वह योग जैसी बात है कि इस प्रकारके निमित्त सन्निधानमें उपादान इस रूप परिणम जाता है। जैसे कोई मनुष्य जा रहा है, सड़क पर प्रकाश है, गर्मी है, धूप है और सड़कके पास कोई पेड़ खड़ा है और उस पेड़को छाया जमीन पर नीचे पड़ रही है तो बतावो वह छाया जमीनकी है या उस पेड़की? तो निश्चयसे पृथ्वी ही उस छायारूप परिणम रही है। वहाँसे कोई मनुष्य निकला तो वहाँ मनुष्यकी छाया जमीन पर पड़ गई। मनुष्य नहीं छायारूप परिणमा, परि-

http://sahjanandvarnishastra.org/

णामा यह मनुष्यशरीर ही है और निमित्त पाये बिना इस प्रकार परिणामा नहीं, दोनों तथ्यों को जाननेसे वस्तुस्वभावका दृढ़ परिचय होता है और चाहना यह ही है कि मैं अपने स्वभाव में आऊँ, उतरूँ और उस ही में रम जाऊँ। तो यह ही शिक्षा इन सब घटनावोंसे, प्रसंगोंसे प्राप्त होती है।

(८१) उदयक्षणमें प्रकृतिविपाककी अनिवार्यता और उसके प्रतिपक्षमें ज्ञानीका पौरुष—इस छंदमें कह रहे हैं कि जो भाग्य उदयमें आ रहा उसके निवारणके लिए कोई समर्थ नहीं है। उदयक्षण एक समयका हुआ करता है। उदयावलि एक आवलीकी होती है। उदयावलिका अर्थ है कि उस जातिके निषेकोंका वहाँ निरन्तर उदय चलता रहेगा उस आवली में और उदयका यह अर्थ है कि इन निषेकोंका इस ही एक समयमें उदय मायने निकलना बन रहा है तो उदयक्षणमें वह दैव निवारा नहीं जा सकता। चाहे कैसा ही तत्त्वज्ञानी हो, महापुरुष हो, संयमी हो उसके तत्त्व ज्ञानके बलपर उदयावलिमें परिवर्तन हो जायगा। उदयावलि से पहले भी हो जायगा, पर उदयक्षणमें परिवर्तन नहीं हो पाता है। ऐसा ही वस्तुका नियोग है। ऐसा सूक्ष्मदृष्टिसे इसका अर्थ लगायें तो यों समझिये कि उदयक्षणमें आया हुआ दैव अनिवार्य है, उसे रोकनेके लिए कोई दूसरा समर्थ नहीं है। इतनी सारी बातें होकर भी हम आप को सन्मार्गमें लगनेके लिए अनेक पद्धतियाँ और अनेक अवसर हैं। उदयक्षणमें मत रुकें जो उदयमें आयगा, पर तत्त्वज्ञानी जीव ऐसा कर ही सकता है कि कषायके आश्रयभूत इन इन्द्रिय विषयोंमें उपयोग न लगाये, वह अपने सहज आत्मस्वरूपमें उपयोग लगाये, तो लो बच गया उस संकटसे। अब वह अव्यक्त होकर निकल गया विकार। वहाँ बंधकी विशेषता अब नहीं रही। तो आश्रयभूतका परिहार करें, एक तो यह हम आपका विजयके लिए बड़ा भारी साधन है। दूसरी बात हमारा काम है निज सहज अंतःस्वरूपकी धुन बनाना, उसे दृष्टिमें लेना, उसमें उपयुक्त होना, यह हम अपना कार्य करें। बाधायें आयेंगी, पर बाधायें आनेपर भी हम अपने कार्यकी धुन न छोड़ें। कैसा होता है, क्या होता है, कब होता है, ये कुछ भी शंकायें न बनायें, किन्तु एक ही निर्णय बनायें कि अपने जीवनमें अपना काम निज सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लेना है। वह सहज आत्मस्वरूप क्या है? आत्माका अपने ही सत्त्वके कारण सहज जो आत्माका लक्ष्य है, लक्षण है, शक्ति है, स्वभाव है वह आत्माका स्वरूप है। उसरूप अपने आपको प्रतीतिमें लें कि मैं यह हूँ।

(८२) सहजात्मस्वरूपकी संभालमें सब संभाल—अब देखिये कितनी बातें दूर हो गईं। ये विकार मैं नहीं हूं। ये विचार मैं नहीं हूं। जरा भी रंग तरंग हो वह भी मैं नहीं हूं। जिसने अपने सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लिया है उसके उस ही के आत्मतत्त्वका अनुभव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है, अन्यका अनुभव नहीं है। देखिये—जैसे अज्ञानदशामें निमित्त नैमित्तिक योगसे बुराई हो रही थी। वैसे अब ज्ञान दशामें निमित्त नैमित्तिक योगसे कर्मोंमें भगदड़ मचने लगती है। निमित्तनैमित्तिकयोग यहाँ पलट गया। अब किस पद्धतिसे बर्तने लगा। एक सहज आत्मस्वरूपका ज्ञानप्रकाश मिले। उसके बाद इस ही की धुन बनाये और इस ही में अपने आप को रमाता रहे तो क्या होता, कैसे होता इसकी बातें कोई लोग बहुत पढ़ लिखकर जानते हैं वे ही बातें उस तत्त्वज्ञानीके प्रयोगमें अब सहज आती हैं। चाहे किसीने कोई विशेष विद्या का अध्ययन न भी किया हो पर इतना मनन तो होना ही चाहिए कि जिससे सहज आत्मस्वरूपका ज्ञान प्रकाश पाये और उसके बाद उस ही की धुनमें लग जाय वही एक मात्र लक्ष्य रह जाय तो वे सब बातें इस पर बीतेंगी, जिनको गुणस्थानमें बताया है वे सब स्वयं होने लगेंगी। हमारा कर्तव्य तो अपने वास्तविक स्वरूपको जानना और उस रूप ही अपने को अनुभवना है, बस निमित्त नैमित्तिकता तो न मिटेगी पर उसका पलड़ा बदल जायगा। अब हमारे इस विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर उन कर्मोंमें निक्षेप आगाल, प्रत्यागाल, उनका संक्रमण उनका अनुभाग क्षीण हो, घात हो, जो कुछ उनमें दशा बनती है वह अब होने लगती है। तो हमारा कर्तव्य किसी अन्य वस्तुपर ध्यान देनेका नहीं है। उसपर दृष्टि लगानेका नहीं है। वह तो सब निर्णय अपना पौरुष संभालनेके लिए है। निर्णय करके अब अपने पौरुषको संभालनेमें ही अपने क्षण व्यतीत हों। वह संभाल है अपने को यथार्थ स्वरूप में जानें।

(८३) **सहजात्मस्वरूपकी भावना**—मैं अपने आप क्या हूं, स्वयं सत् हूं, सो अन्यके लेपसे रहित हूं। सत्त्वमें अन्यका लेप नहीं पड़ा है। सत्त्व कैवल्यको लिए हुए होता है। भले ही प्रसंग संग लेप उपाधियाँ ये सब बातें हों मगर सत्त्वमें स्वकी केवलता रहती है। कहीं दो का मिलकर एक सत् नहीं बनता। तो जब मैं सत् हूं। अपने आपके सत्की ओरसे मेरा स्वयं स्वरूप क्या है इस ओर दृष्टिपात होना चाहिये और इसीकी खोजमें, इस ही के प्रकाशमें हमें अपना पौरुष बनाना चाहिए। हम असहयोग करके इस पौरुषको सफल बनायें असहयोगके मायने यह है कि स्वभावके अतिरिक्त जो कुछ भी गुजरता है, जो भी घटना, लेप, सम्बन्ध, बंधन दैव आदिक इन सबका सहयोग समाप्त कर दें, असहयोग आन्दोलन बनायें कि मुझे किसीसे कुछ प्रयोजन नहीं।

(८४) **शरीररहित सहजविकासमय अवस्थाकी प्रतीक्ष्यता**—ये प्राणी जितना दुःख पा रहे हैं वे अपनी परिणतिसे पा रहे, पर जरा आश्रय निमित्त बंधन आदिक घटनावोंको तो देखिये सारे क्लेश उस शरीरके सम्बन्धके कारण बन रहे हैं, न मेरेसे शरीर चिपका

http://sahjanandvarnishastra.org/

होता तो भूख प्यास आदिककी व्याधियाँ कैसे मुझे सताती ? यदि यह शरीर साथ न लगा होता तो ये सम्मान, अपमान, इष्टवियोग अनिष्ट संयोग आदिक कैसे लग जाते ? इस अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मामें ये सम्मान अपमान आदिकके कष्ट नहीं आया करते। जब यह जीव शरीरपर दृष्टि दिए है मैं यह हूं और इसने मुझे ऐसा कह डाला, यह भी कुछ नहीं समझता और ये मुझे अनेक लोग देख रहे हैं, इनकी निगाहमें मेरा अपमान हो गया। ये सब बातें शरीरको निगाह करके उठायी जा रही हैं, तो हम आपके सारे कष्टोंका आधार यह शरीर बन रहा है। तब यह भावना बनायें कि मुझे शरीर ही न चाहिए। शरीर रहित मेरा स्वयंका स्वरूप है, बस वही स्वरूप मेरा बने। मुझे यह शरीर न चाहिए। यह शरीर अलग हो और आगे कोई शरीर न मिले मेरी ऐसी वाञ्छा है। इससे क्या नफा पाया जा रहा है ? नया शरीर मिला, जिन्दगीसे जिये, नाना कष्टोंको पाया। फिर मरे, फिर नया जीवन पाया, फिर मरे, फिर नया जीवन पाया और उस जीवनसे दुःख पाया। यह धारा क्यों बने मेरे को। यह शरीर ही मेरा न रहे। शरीररहित केवल ज्ञानमात्र आत्मा रहूं, बस यह ही भीतरमें धुन होनी चाहिए कि मुझको तो यही बनना है। सभी मनुष्य अपने अंतिम बनने की बात चित्तमें लाते हैं। तो हम आपमें यह ही बात आनी चाहिए कि मैं शरीररहित केवल अपने स्वरूपमात्र रह जाऊँ, इसके अतिरिक्त मुझे अन्य कुछ न चाहिये। यह भावना हो तो जो होनेका है कल्याणके लिए वह सब सहज होता रहेगा। अपना कल्याण तो अपने स्वरूपकी संभाल मात्र है।

दयितजनेन वियोगं संयोगं खलजनेन जीवानां।
सुखदुःखं च समस्तं विधिरेव निरंकुशः कुरुते ॥३७०॥

(८५) **सांसारिक घटनाओंकी दैवकृतता**—इस लोकमें इष्ट जनोंके साथ वियोग, अनिष्टजनोंके साथ संयोग और सुख दुःखकी प्राप्ति कराना आदिक सब बातें निर्भय रीतिसे प्रवर्ताने वाले दैवकी कृपा है। दैव ही बिना किसी भयके इन सब बातोंको करता है। यहाँ बाह्य घटनावोंके साथ आत्मस्वरूपके असम्बन्धकी बात दर्शायी गई है। जितने ये सब बाह्य समागम घटनायें हो रही हैं ये सब औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, ये आत्माके स्वभाव रूप नहीं हैं और ऐसा प्रबल निमित्त नैमित्तिक योग है यहाँ कि इस इस प्रकारसे कर्मविपाक होने पर इस इस पदार्थमें इस इस प्रकारकी घटना हो जाती है।

(८६) **कार्यकारणभावका दो पद्धतियोंसे निरूपण**—कार्य कारण भाव दो प्रकारसे देखा जाता है। एक उपादानदृष्टिसे और एक घटनादृष्टिसे। उपादानदृष्टिसे तो स्वयंका स्वयंमें ही कार्यकारणभाव है। पूर्वावस्थासंयुक्त स्वद्रव्य उपादान कारण है और प्रवर्तने वाली नई

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अवस्था यह कार्य है। एक ही द्रव्य अपनेमें कारणपने और कार्यपनेको अनुभवता हुआ अनादि से अनन्तकाल तक निरन्तर वर्तता रहता है। घटनादृष्टिसे यह बात घटती है कि जितने स्व-भावानुरूप कार्य हैं वे पर उपाधिका सम्बंध पाये बिना स्वयं ही अपने आपमें बर्तते रहते हैं। हाँ कालद्रव्य एक साधारण निमित्त है अतएव उसकी कथनी विशिष्ट नहीं की जाती। वह तो निरन्तर है ही। पर विकार परिणमन जितने होते हैं अर्थात् स्वभावके प्रतिकूल परिणमन वे समस्त परिणमन किसी बाह्य प्रसङ्गका सान्निध्य पाकर ही होते हैं, अन्य प्रकार नहीं हुआ करते। परिणमन सबका अपने आपमें है। यह तो है वस्तुकी स्वतंत्रता। और विकार परिणमनमें भी वस्तुस्वातन्त्र्यको अपने स्वचतुष्टयके स्वातन्त्र्यको नहीं छोड़ता है। निमित्त सान्निध्यमें भी उपादान मात्र अपनी ही परिणतिसे परिणमा है, दूसरेकी परिणतिको लेकर नहीं परिणमता है, ऐसा ही नियोग है और इस ही प्रकार विकारका उत्पाद चलता है अर्थात् जब घटनादृष्टिसे कार्य कारण भावका विचार करते हैं तो उन्हें कार्य कारण शब्दसे कहना या साध्य साधन शब्दसे कहना। साधन मायने कारण और साध्य मायने कार्य।

(८७) **ज्ञप्तिके साध्य साधनकी व्यवस्था**—देखिये—साधन व साध्य उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनोंमें होते हैं याने ज्ञप्तिमें भी साधन साध्य होता है, उत्पत्तिमें भी साधन साध्य होता है। ज्ञप्ति मायने जानकारी। जैसे ऊपर धुवाँ उठता हुआ देखा तो उस धुवेंका ज्ञान करनेसे यह ज्ञान कर लिया गया कि इस मकानमें या इस पर्वतमें आग जल रही है। तो धुवांके ज्ञानसे अग्निका ज्ञान होना ये ज्ञप्तिके साध्य साधन कहलाते हैं। जिसे दर्शनशास्त्रमें कहा है—"साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।" साधनसे साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। तो ज्ञप्तिके साधनसे साध्यका ज्ञान होता है न कि उत्पाद हुआ है। ये जानकारीके साध्य साधन है। जब उत्पत्तिके साध्य साधनकी बात देखते हैं तो घटना दृष्टिमें उपादान निमित्त सभी प्रकारका परिचय किया जाता है। तो उत्पत्तिकी दृष्टिमें साधन है अग्नि और साध्य है धुवाँ। धुवांसे अग्नि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु अग्निसे धुवाँ उत्पन्न होता है। तब जानकारीमें तो धुवांसे अग्निका ज्ञान चला, उत्पत्तिमें अग्निसे धुवांकी उत्पत्ति हुई है। तो उत्पत्ति और ज्ञप्तिमें साध्य साधन एकदम बदल गये। जो ज्ञप्तिमें साधन है वह उत्पत्तिमें साध्य है। जो ज्ञप्तिमें साध्य बना है वह उत्पत्तिमें साधन है। अब इस तरहसे आत्माको निरखिये। आत्मामें विकारभावके जाननेसे कर्म प्रकृतिका उदय जाना जाता है। जैसे अग्नि पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष है, तब ही तो धुवाँ जानकर अग्निका ज्ञान करना पड़ा है। ऐसे ही कर्मोदय परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है। स्पष्ट नहीं है और विकार प्रत्यक्ष है। यद्यपि विकार अमूर्तिक भाव है और कर्मविपाक मूर्तिक है तो विकारसे मोटी चीज है कर्म।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अमूर्तिक होनेके कारण वे कर्म मूर्तिक तो हैं और ये विकार उन कर्मोंसे भी सूक्ष्म हैं, क्योंकि जीवविपरिणमन है, मगर खुदपर बीती हुई बात है इसलिए स्वसम्वेदन उनका बन जाता है, और स्वसम्वेदन होनेसे अपने आपके विकार अपने आपको स्पष्ट प्रतिभात होते हैं पर कर्म विपाक ज्ञात नहीं होता। तो यहाँ साधनसे साध्यका ज्ञान किया गया है अर्थात् आत्माके रागद्वेषादिक विकारोंको देखकर कर्मोदयका ज्ञान किया गया है। यहाँ कर्मोदय अवश्य था, अवश्य है क्योंकि विकार भाव होने से। तो यह है ज्ञप्तिका साधन। जानकारीमें जीव विकार बना साधन और कर्मोदय बना साध्य। यह है जानकारीके विषयकी बात।

(८८) **उत्पत्तिके साध्य साधनकी व्यवस्था**—अब उत्पत्तिकी ओरसे देखें तो उत्पत्तिसे उपादानका परिचय होता, निमित्तका भी परिचय किया जाता। तो उत्पत्तिकी ओरसे बात यह है कि कर्मोदयका सन्निधान होनेपर रागद्वेषादिक विकार जगा तो यहाँ कर्मोदय निमित्त कारण है, और विकार नैमित्तिक कार्य है। तो यहाँ विकार कार्य हो गया, कर्मोदय कारण हो गया। यह कार्यकारणभाव निमित्तनैमित्तिकको व्यवस्था है नहीं, उपादानकी व्यवस्था वाला नहीं। उपादान व्यवस्थामें कार्माण स्कंध तो कारण है और कार्माण स्कंधमें जो कर्मानुभाग उदित हुआ है वह उसका कार्य है। जीव यह अशुद्ध उपादान कारण है और जीवमें जो विकार उपयोग बनता है वह कार्य है। पर निमित्तनैमित्तिकदृष्टिसे यहाँ कर्मोदय निमित्त कारण है और यह विकार नैमित्तिक कार्य है। वहाँ यह न कहा जा सकेगा कि विकारभाव होनेसे कर्मोदय हाजिर हुआ। यह सिद्धान्तके अत्यन्त विपरीत बात है, जानो जो बात जैसी है, वस्तुस्वातंत्र्य सब जगह निरखो। उपादान उपादेय भाव सब जगह अमिट है। तो उत्पत्तिकी जब बात कहने लगेंगे तो यह ही कहा जायगा कि कर्मोदय निमित्त कारण है और विकार भाव नैमित्तिक कारण है। वहाँ कारण कर्मोदय रहा और कार्य विकार रहा, जब कि ज्ञप्तिके प्रसंगमें साध्य रहा था कर्मोदय और साधन हुआ था विकार। अब समझना यह है कि उत्पत्ति और ज्ञप्तिमें साध्य साधनकी व्यवस्था अपने अपने भिन्न भिन्न क्षेत्रकी व्यवस्था है। और इसी कारण जब कबका प्रयोग यों होता है कि जब कर्मोदय होता है तब जीवमें विकार जगता है, यह निमित्त नैमित्तिक भाव उस ही समयका है। उस ही समयमें होनेपर भी निमित्त नैमित्तिकका विवरण यथार्थ किया जाता है, अटपट उल्टा नहीं। जैसे जब दीपक जलता है तब प्रकाश होता है। जब दीपक जलता है उसी समय प्रकाश होना एक क्रिया है, मगर जब दीपक जलता तब प्रकाश होता, यों तो बोला जाता है, पर यों नहीं कहा जाता कि जब प्रकाश हो जाता तब दीपक जलता। दोनों एक समयमें होकर भी निमित्त नैमित्तिक कार्य कारणकी व्यवस्था एक नियत व्यवस्था है। तो जब कर्मो-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दय होता है तब जीवके विकार जगता है। यों न कहा जायगा कि जब विकार जगता है तब कर्मोदय उपस्थित होता है। यह तो ज्ञप्तिके साध्य साधनकी बात है और वहाँ ज्ञात शब्द लगाना चाहिए। कि जब विकार ज्ञात होता है तब कर्मोदय ज्ञात होता है। यह ज्ञप्तिकी तो बात बनेगी और उत्पत्तिमें जो बात जिस तरह है वह उसी ढंगसे होती है।

(८९) **तत्त्वके सर्वविध परिचयसे लाभ**—जीवके जितने भी सुख दुःख रागद्वेषादिक होते हैं ये उस उस प्रकारके कर्मविपाकका निमित्त पाकर होते हैं। तो ये सुख दुःख रागद्वेष जैसा कि निश्चयदृष्टिमें निरखा जाता है कि आत्मामें हुए, आत्मासे हुए, आत्माकी परिणतिसे हुए। वहाँ दूसरा पदार्थ दिखना ही न चाहिए, क्योंकि निश्चयनयके कारण ऐसा ही होता है। यह निश्चयनयकी दृष्टिमें है। वह अशुद्ध निश्चयनय जो कि व्यवहारनयके ही समान है उस अशुद्ध निश्चयनयमें यह जाना गया कि जीवमें जीवकी परिणतिसे रागद्वेष होते चले जा रहे हैं। अगर अन्यका निषेध किया जाय, घटनाका निषेध किया जाय तो यही एकान्त मिथ्यात्व हो जाता है। जैसे कोई सामने दर्पण दिख रहा है और दर्पणको देखते ही वहाँ सब जाना जा रहा है जो कुछ पीछेसे बन रहा। लड़के खड़े हैं, ऊधम कर रहे हैं, दाँत निकाल रहे हैं, जीभ मटका रहे हैं वह सब ज्ञात हो रहा है दर्पणको देखनेसे क्योंकि दर्पणमें वह प्रतिबिम्ब है। तो वहाँ केवल दर्पणको देखकर बात की जाय तो कर रहे दर्पणमें दर्पणकी फोटोसे, इस इस तरहसे परिणमन चल रहा है। इस परिणमनको कोई दूसरा नहीं कर रहा। दर्पणके ही परिणमनसे इस प्रकारका परिणमन वर्त रहा। बात यहाँ एक द्रव्यकी दृष्टिसे सही चल रही है, पर अन्य बातका यदि निषेध किया जाय जैसे कि पीछे लड़के खड़े हैं, उनका सन्निधान पाकर फोटो आ रहा है, इसको न माना जाय तो इसका अर्थ होगा कि दर्पणमें दर्पणके स्वभावमें दर्पणसे ही सब कुछ प्रकट हो रहा है तब इसमें स्वभावका विघात हो गया। दर्पणके स्वच्छ स्वभावकी अब दृष्टि न रही, तो ऐसी ही ये लीलायें हैं ज्ञानकी। कभी निश्चयकी प्रधानतासे तत्त्व निरखें, कभी घटनाकी दृष्टिसे तत्त्वको देखें। बात दोनों सही हैं और दोनोंका ही परिचय होनेपर पदार्थकी व्यवस्था ज्ञात होती है। किसीसे बुद्धि हटाना, किसीमें बुद्धि लगाना, ये सब कर्तव्य निभ जाते हैं समस्त परिचय होनेपर। केवल एक ही दृष्टिका परिचय एकान्ततः मान लिया जानेपर उसको यथार्थ प्रकाश नहीं रहता और वह अपने अकर्तव्यसे हटकर कर्तव्यमें नहीं आ पाता।

(९०) **अन्य अपेक्षावोंके तथ्यका अत्यन्त निषेध करनेपर विवक्षित दृष्टिके तथ्यका भी मिथ्यापना**—जब स्वभावको निरखते हैं तो यह ध्रुव है, अपरिणामी है, एकस्वरूप है, अचल है, यह बात क्या सही नहीं है। स्वभावके स्वरूपको निरखकर यह कहा जाता है,

Version 1

पर एतावन्मात्र ही जीव है, इतना ही है, ऐसा ही है, अन्य कुछ यहाँ होता ही नहीं है ऐसा एकान्त मान लेनेपर ये ही तो बन गए—अपरिणामी पुरुषवाद। जैसे सांख्यदर्शनमें बताया है कि यह नित्य अपरिणामी है, अकर्ता है, इसमें रंच परिणमन है ही नहीं, नित्य अचल है तब फिर जब यह एकान्त बना डाला तो यह प्रश्न उठता है कि तो फिर ये राग द्वेषादिक किसके परिणमन हैं? तो वहाँ यह उत्तर देना पड़ा कि ये प्रकृतिके परिणाम हैं। बात यहाँ भी निरखी जायगी उसी निगाहसे। जब आत्माके ध्रुव सहज अपरिणामी अचल एकरूप स्वरूपको निरखें और उसही को मानें कि यह आत्मा है वहाँ प्रश्न उठता है तो फिर ये रागद्वेष मोह आदिक अनेक विकार ये सब किसके परिणमन हैं? तो वहाँ यह उत्तर दिया जा सकता है कि ये सब प्रकृतियाँ याने कर्म कर्मप्रकृतिके परिणमन हैं। अब बात तो वहाँ ऐसी है कि कर्मप्रकृतिका परिणमन कर्ममें हो रहा और चूंकि यह ज्ञात है सो इसके उपयोग भूमिमें वे सब विकार झलक रहे हैं। तो जैसे दर्पणका फोटो झलक रूप है और वे बाह्य पदार्थ जिनके अनुरूप फोटो आया है, हुआ है वे बाह्य पदार्थ भिन्न पदार्थ हैं। तो ऐसे ही यहाँपर जो कर्मप्रकृतिमें अनुभाग फैला है वह कर्मप्रकृतिका कार्य है। कर्मप्रकृतिका तत्त्व है और जो विकार उपयोगभूमिमें झलका है, विकार है, प्रतिभास है, प्रतिफलन है, छाया है वह जीवका परिणमन है। बस इतनी बात सांख्यदर्शनमें नहीं मानी गई, बाकी सब मिलजुल रहा है प्रायः एक दृष्टिमें, पर वहाँ तो पुरुषको ज्ञाता ही नहीं माना गया। और स्वरूपदृष्टिसे जब देखते हैं तो ज्ञाता, जाननहार, जानने वाला आदिक ऐसी उलझन यहाँ स्वरूपमें भी नहीं दिखाई गई है, जब कि एक उत्तम ध्यानमें कोई पुरुष इस ध्येयको पा रहा है। तो उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, इसका ध्यान नहीं उस एकान्तमें। सब तरहसे परिचय करने वाला पुरुष अपने आपकी ज्ञानलीला बलसे सही सही अपनी पदवीमें उपयुक्त हो जाता है, पर यथार्थ ज्ञान न हो तो वह केवल बाहरकी चर्चाभर रह जाती है, उसका प्रयोग नहीं बन पाता। जो उचित प्रयोग होना चाहिए बाह्य तत्त्वोंसे हटकर अंतस्तत्त्वमें उपयुक्त होना यह प्रयोग वहाँ नहीं बन पाता। जहाँ अज्ञान बसा हुआ है और किसी भी एकान्तका आग्रह बना हुआ है।

(६१) **द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुको सर्वविध जानकर हितानुरूप मुख्य गौण व्यवस्थामें प्रयोगकी संभूति**—भैया, जानना सब कुछ हर प्रकारसे और फिर कल्याणके अनुरूप कौनसी दृष्टि गौण हो जाती है, कौनसी दृष्टि मुख्य होती है यह बात बनेगी और इस तरहसे प्रयोग बनेगा। जैसे वस्तुमें द्रव्य और पर्याय ये दोनों ही बातें ज्ञात होती हैं, आत्मद्रव्य अनादिनिधन एकस्वरूप अचल जो जाना गया, पर ऐसा ही वह वर्तता है सो बात नहीं है। परिणमनशून्य कोई भी द्रव्य नहीं रहता, मगर यह देखनेकी कला है कि यह परिणमन और द्रव्य

http://www.jainkosh.org

दोनोंका जाननहार पुरुष इसी समय परिणमनको गौण करके केवल एक द्रव्यपनेसे ही जानता जा रहा है, यह उसकी एक कला है, पर जो पर्यायसे अपरिचित है, पर्यायका निषेध करने वाला है, वह इस द्रव्यत्वको जानने चले तो वह उसका अज्ञान है। वह इसमें सफल नहीं हो पाता। जानकारी सब बनाकर कल्याणके अनुरूप दृष्टिको मुख्य कर और अन्य दृष्टिको गौण कर यह कला तो अपनाई जाती है पर मूलमें अज्ञानभाव रखकर कोई जीव एकान्त कलासे खेले तो वह उसमें सफल नहीं हो पाता। जितनी द्रव्य पर्यायें हैं सभी पदार्थोंका सही-सही बोध हो। फिर जिसमें निर्विकल्पता बनती है, समता आती है, अलौकिक अनुभवके साथ परम आल्हादका अनुभव चलता है उस पद्धतिसे चलना यह है प्रयोगकी दशा। परंतु जो पहले जाननेमें ही उल्टा हो उससे यह प्रयोग बन नहीं पाता।

(६२) **दैवनिरूपणमें निमित्तनैमित्तिकयोग दिखाकर आश्रयभूत विषयोंके अनिमित्तत्वका ज्ञापन करानेका प्रयोजन व्याकुलतासे हटाव**—यहाँ इस दैवनिरूपणके परिच्छेदमें निमित्तनैमित्तिक भावकी बात उठाकर यह सावधानी की है कि तुम्हारे विकारका निमित्त कारण कर्मविपाक है। बाहरी पदार्थोंको अपने विकारका निमित्त मत समझें। इनको तो जब आप जानते हैं, विषय बनते हैं उपयोगमें लेते हैं तो ये आरोपित हो जाते हैं। और आश्रयभूत कारण बन जाते हैं। आज जो मनुष्य इतना परेशान हो रहे हैं, व्याकुल हो रहे हैं तो इसका कारण यह है कि इन बाहरी पदार्थोंमें निग्रह अनुग्रह करना, इष्ट अनिष्ट बुद्धि करना, इस प्रकारकी वृत्ति बन गई है। कर्मोदयका निमित्त पाकर ये सुख दुःख आदिक हुए। इन सुख दुःखोंसे व्याकुलता ही बनती। यह तो एक यथार्थ ज्ञान है और इससे तो अपने स्वभाव की दृष्टि जगती है। यह विकार मेरे स्वभावकी चीज नहीं है। मैं इनसे निराला हूं, पर कोई इन विषयभूत, आश्रयभूत कारणको उत्पादक कारण माने विकारका तो वहाँ आकुलता जगती है क्योंकि उसे बाह्य पदार्थोंका हटाना, बाह्य पदार्थोंका रखना कुछ भी अपने आधीन नहीं है। जीव तो स्वके भावमात्र है, वह अपने भाव करता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर पाता। वस्तुस्वरूप ही इस प्रकार है। तो ये बाहरी पदार्थ, इनसे मेरेको सुख दुःख रागद्वेष विकार नहीं बनते। धन अधिक होनेसे सुख नहीं, धन कम होनेसे दुःख नहीं, पुत्रादिक होनेसे सुख नहीं, पुत्रादिक न होनेसे दुःख नहीं, ये तो बाहरी आश्रय बताये गए हैं—मोही जीवके द्वारा। दुःख सुखका निमित्त कारण ही तो कर्मविपाक है और दुःख सुखका अपने आपमें अपना संस्कार अशुद्धभाव कल्पना यह भी उपादान कारण है, पर बाहरी पदार्थोंसे इसका कोई कारणकार्य भाव नहीं है कि जिससे व्याकुलता मचायी जाय कि अब मैं क्या करूँ यह ऐसा हो गया। अरे जो हो गया सो होने दो। ये बाहरी पदार्थ छिद भिद जायें, कहीं भी जायें,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कुछ भी हो, यह उनका परिणमन उनमें हो रहा है। उस परिणमनसे मेरेमें कोई परिणमन जग रहा हो सो नहीं है, किन्तु उनको आश्रयभूत करके कल्पना बनाकर इष्ट अनिष्ट बुद्धि लाकर जो अपने आपमें अपने आपको मरोड़ा जा रहा है, उसका कष्ट हो रहा है। बाह्य पदार्थोंके परिणमनसे अपने आपको कोई कष्ट नहीं है।

(९३) **भ्रमको त्यागकर आत्महितसाधन करनेका अनुरोध**—लोग तो व्यर्थ ही मोह रागके प्रसंग बनाकर आकुलित होते हैं और दूसरोंको भी उसी विधिसे समझाते कि बड़ा गजब हो गया, यह दुःख कैसे मिटेगा ? बिल्कुल जवान लड़का और असमयमें चला गया यह तो बड़े कष्टकी बात है। अब देखिये इस मोहके क्षेत्रमें जब उपयोग लगाया तो वहाँ कष्ट ही कष्ट नजर आ रहा है। और वास्तविकता क्या है ? कौन किसका है, स्वतंत्र सत्ता सर्व जीवों की अपने आपमें है, जैसे अनन्त जीव हैं वैसे ही वह भी एक जीव है। अभी यहाँ था, अब न रहा। कोई उससे सम्बंध तो नही है, पर यहाँ उसके प्रति लोग अनेक प्रकारकी कल्पनायें करते हैं और दुःखी होते हैं। तो इन बाह्य पदार्थोंको अपने कष्टका उत्पादक कारण न मानें। अपने रागद्वेष सुख दुःखके ये निमित्त कारण नहीं हैं। निमित्त कारण कर्मविपाक है, सो वहाँ पर भी अपना समय क्यों खोना, सीधे वे कर्मविपाक ही छूट जायें ऐसा उपाय बनायें। वह उपाय है अपने आत्माके स्वरूपकी सम्हाल और उसकी ही दृष्टि। तो इस निमित्तनैमित्तिक योगसे कर्ममें क्षीणता आने लगेगी और इससे छुटकारा मिल जायगा। बाहरी पदार्थोंमें यह बुद्धि न रखना चाहिये कि ये बाहरी पदार्थ मेरे सुख दुःख रागद्वेषादिकके कारण है। इस बातको यह दैव ही निर्भय होकर अपनेमें एक वेगसे अपने ही निमित्त कारण रूपसे यह सारी व्यवस्था बनाये रहता है। विकार कष्टोंका न मैं कर्ता हूं और न ये बाह्य पदार्थ कर्ता हैं, ऐसा प्रकाश पाकर इन सब बाह्य पदार्थोंसे अपने आपको हटाना, अपनेमें अपना विश्राम पाना और अविकल्प ज्ञानज्योतिका, ज्ञानबलका अनुभव करना यह पौरुष आत्मकल्याणका बीज है। अन्य प्रकारसे आत्माका हित होना अशक्य है।

अशुभोदये जनानां नश्यति बुद्धिर्न विद्यते रक्षा।
सुहृदोऽपि संति रिपवो विषमविषं जायते त्वमृतं ॥२७१॥

(९४) **अशुभोदय होनेपर बुद्धिभ्रंश**—इस संसारमें जीवोंपर जो भी घटनायें घटती हैं उनका कारण है भाग्य, दैव, कर्म। जब जीवोंके अशुभकर्मका उदय होता है तो मनुष्योंकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और रक्षा नहीं हो पाती। अन्य लोग बतलाते हैं कि जब कुछ विपत्ति का समय आनेको था तो श्रीराम वनमें थे और सीता वनमें हरी गई तो उनके कथनके अनुसार तो जब मारीचने सोनेके हिरणका रूप रखा था तो उनकी नीति कहती है कि यद्यपि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वर्णका मृग होना असम्भव है तो भी सीताके कहनेसे श्रीराम उस मृगका लोभ करके उसे मारने गए, वहाँ मौका पाकर रावण सीताको हर ले गया। ऐसा उन लोगोंका कथन है। वहाँ यह बतलाया कि जब अशुभकर्मका उदय आता है तो बड़ों बड़ोंकी भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उनकी रक्षा नहीं हो पाती। यहीं हम आपके जीवनमें अनेक बार घटनायें घटती हैं कि कभी ऐसी विपरीत बुद्धि चलने लगती है कि जो न करना चाहिए उस ओर बुद्धि लग जाती है, और पीछे पछताना होता है। तो जब अशुभ कर्मका उदय होता है तो बुद्धि नष्ट हो जाती है। सबसे कठिन विपत्ति है बुद्धिका बिगड़ना। अभी जिस मनुष्यका दिमाग खराब हो जाय, पागलपन आ जाय तो उस मनुष्यका फिर कौन मददगार रहता है? कुटुम्बी जन भी उसको छोड़ देते हैं, परवाह नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि अब यह मेरे कुछ काम नहीं आ रहा, इसकी बुद्धि बिगड़ गई, वह पागल हो गया। अब यह किसीके कामका न रहा। तो सबसे कठिन विपत्ति है बुद्धि बिगड़ जाना। यह पापके उदयमें होता है। और उस समय फिर इसकी रक्षा नहीं हो पाती। सभी उपेक्षा कर जाते।

(६५) पापोदय होनेपर मित्रजनोंकी भी बाधकता व अमृतका विषीभवन—जब पापका उदय होता है तो मित्रजन भी शत्रु बन जाते। इस जीवनमें अनेक घटनायें ऐसी आतीं कि जो अपने मित्र हैं, हितू हैं, बंधु हैं वे ही उल्टे बोलने लगते हैं, उल्टी क्रियायें करने लगते हैं। जिससे इसको हानि पड़ती है। तो पापका उदय होनेपर मित्र भी शत्रु बन जाते हैं और अमृत भी कठिन विष हो जाता है। तो जीवोंपर यहाँ जो कुछ खोटी घटनायें घटती हैं उनका करने वाला किसी दूसरेको मत मानो, व्यर्थमें किसीको शत्रु मानकर अपने आपमें खोटी कल्पनायें न करें, मेरेको दुःख देने वाला दुनियामें कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। जो दुःख होता है वह मेरे पूर्व भवमें कमाये गए पापका फल है। जीव जीव तो सब समान हैं। कौन शत्रु और कौन मित्र? सर्व जीव मुझसे भिन्न हैं, मेरे स्वरूपके समान हैं और भिन्न जीव सब एक समान हैं मेरे लिए। वस्तुतः तो इन जीवोंमें मेरा कोई विरोधी नहीं, किन्तु हम ही जिस किसी कामकी कल्पना करते हैं उस काममें हमें जो बाधक जँचता है उसको हम दुश्मन मान लेते हैं। वास्तवमें मेरा दुश्मन कोई जीव हो ही नहीं सकता, है ही नहीं। तो जब कभी अपनेपर आपत्ति आये तो अपने ही पापकर्मको उसका कारण जानिये। किसी दूसरे जीवपर शत्रुताकी कल्पना करके किसीका बुरा मत विचारिये।

नश्यति हस्तादर्थः पुण्यविहीनस्य देहिनो लोके।
दूरादेत्य करस्थं भाग्ययुतो जायते रत्नं ॥ ३७२ ॥

(६६) पुण्य पापके लाभ अलाभ—जब कोई पुरुष पुण्यविहीन हो जाता है तो उसके

Version 1

हाथसे ही उसका धन नष्ट हो जाता है। एक कोई डाकू आ गया तो वह अपने ही हाथसे उठाकर उस डाकूको अपना धन दे देता है। डाकू बोलता हैं कि तू अपने हाथसे तिजोरी खोल और सारा धन खुद निकालकर दे। सो उसे प्राण जानेके भयके कारण सब देना पड़ता है। तो दिया यद्यपि अपने ही हाथोंसे, पर वह देना नहीं कहलाता, वह तो विवश होकर देना पड़ता है। उधर डाकू भी यदि यह सोचे कि यह खुद अपने हाथसे उठाकर अपना धन देगा तो इसमें मुझे दोष न लगेगा सो भी बात नहीं। वह भी आखिर चोरी ही तो है। चाहे लूट मारकर धन ले तो चोरी है, चाहे छिपकर ले तो चोरी है। तो जब पापका उदय आता है तो अपने हाथसे ही अपना धन नष्ट हो गया है उनका धन कैसे नष्ट हो जाता, इसकी कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। नष्ट हो जाता है और जिस समय भाग्यका उदय होता है तो दूरसे रत्न आकर इसके हाथमें आ जाता। जीव तो केवल अपने परिणाम भर करता है, अन्य कुछ काम नहीं करता। हर जगह चाहे खोटा भाव कर ले चाहे अच्छा भाव कर ले, अपने परिणामके सिवाय जीव कुछ काम नहीं करता और उस परिणामका निमित्त पाकर उस प्रकारके कर्मका बंध होता है और कर्मके उदयमें उस प्रकारका क्लेश संक्लेश दुःख होता है। तो ये घटनायें जितनी घटती हैं, कोई सम्पन्न हो गया, कोई निर्धन हो गया, कोई बुद्धि-हीन हो गया, किसीको राज्य मिल गया आदिक जो भी घटनायें घटती हुई नजर आती हैं वे सब घटनायें भाग्यके उदयसे होती हैं। जीवके तत्कालके भावोंसे नहीं। यद्यपि उस भाग्य को जीवने ही बनाया था। अपना जैसा परिणाम किया वैसा ही भाग्य बना। यद्यपि भाग्य बना तदनुरूप भाव होनेसे, मगर जिस समय उदय हो रहा और कष्ट आ रहा उस समयके भावोंसे बात नहीं बन रही है। वह तो नैमित्तिक है। उदय होगा तो ऐसी घटना होगी ही।

(६७) सांसारिक घटनावोंकी दैवकृतताके निरूपणसे प्राप्तव्य शिक्षण व प्रयोग—यहाँ भाग्यकी बात बतलाकर यह शिक्षा दी जा रही है कि हे कल्याणार्थी पुरुषो तुम अपने दुःखमें सुखमें किसी भी जीवको कारण न समझिये। किसीको मित्र और विरोधी न जानिये। अपने ही कमाये हुए कर्म अपने आपके सुख दुःखका कारण होते हैं। भैया, यह बहुत बड़ी कमाई है कि कोई पुरुष अच्छे परिणाम रख ले। किसीसे ईर्ष्या न करे। किसीका बुरा न विचारे, किसीको तुच्छ न माने। किसीका कभी अपकार न करे, खोटा चिन्तन न करे, ऐसे जीवनसे अगर वह रह सकता है तो समझो वह मनुष्य धर्मात्मा है और उसको उसकी अच्छी करनीका फल अवश्य मिलेगा। यह मनुष्य एक ऐसा अपराधका घर है। इतना कमजोर बन गया है कि वह ईर्ष्या, विरोध, द्वेष आदिक अवगुण कर बैठता है। तो परिणाम यदि कोई अच्छे करे तो अच्छा फल पायगा, बुरे करे तो बुरा फल पायगा। आज जैसा उदय है उसके

http://www.jainkosh.org

अनुकूल सब घटनायें हो रही हैं। मानो पुण्यका उदय आ रहा तो समृद्धि हो रही। अब रही कर्तव्यकी बात तो कर्तव्य तो एक इच्छा है और अपनी इच्छाके कारण सभी कर्तव्य करते हैं। कर्तव्य किए बिना कोई रह नहीं पाता, मगर कर्तव्य सफल किसका होता है? जिसके पुण्यका उदय है, और जिसके पुण्यका उदय नहीं है वह कितना ही परिश्रम कर ले, पर वह सफल नहीं होता। तो उदय अनुकूल होनेपर कर्मोदय चलेगा, संगति चलेगी, साधन मिलेंगे। सर्वकार्य ठीक बन जायेंगे। तो इस बातसे शिक्षा यह लेना है कि जो पहले किया वह आज भोगा जा रहा, पर आज तो अच्छे परिणाम करें जिससे हमारा भावी जीवन बुरा न गुजरे।

(९८) **भावस्वरूप आत्मपदार्थका भावोंसे भावानुरूप भविष्य**—जीव एक भावस्वरूप पदार्थ है, जीव सिवाय भावके और कुछ नहीं कर पाता। जो यह कर रहा कि यह हाथ पैर चलाता, इतनी दूर जाता, गमन करता तो ये सब नैमित्तिक बातें हैं। जीवकी सीधी करतूत नहीं हैं। जीवकी सीधी करतूत भाव करना है, इच्छा करना है। अब उस परिणाम और इच्छाके कारण इस जीवमें स्वयं ऐसा परिस्पंद होता, जीवके प्रदेशोंमें हलन-चलन होती है कि उसके ही अनुकूल शरीर वचन ये चल बैठते हैं। सो इन शरीरादिका चलना यह जीवके भावोंकी प्रेरणा पर होता है। तो मूलमें तो जीवका भाव है। सो जीव चूंकि भावप्रधान तत्त्व है, परिणाम ही करता है। तो अपना परिणाम अच्छा बनाये तो अपनी अच्छी सृष्टि रहेगी और अगर गंदे परिणाम बनाये विषय कषायसे युक्त तो ऐसे ही खोटे कर्मोंका बंध होगा और ऐसा ही उसके सामने फल आयगा। यह सांसारिक घटनाकी बात कही जा रही है। मोक्ष पुरुषार्थके लिए ये सब बाहरी बातें कुछ नहीं सोचना है। क्या पुण्य क्या पाप, क्या सुख क्या दुःख, ये सब तो बाहरी पदार्थोंमें हो रहे हैं। जिनको मोक्ष पुरुषार्थकी भावना है वे अपने आत्मतत्त्वकी सम्हाल किया करते हैं। यह ही खास पौरुष है। यह बात ज्ञानप्रकाश मिलनेपर हुआ करती है। और संसारमें जो कुछ हो रहा है वह सब पुण्य पापके आधीन हो रहा है।

(९९) **संसारमें साम्यवादकी व्यवस्थाका प्रयास करनेपर साम्य न हो सकनेका कारण**—आज कई राष्ट्र ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं कि प्रजाके सर्व लोगोंको समान लाभ मिले। जिसे कहते हैं साम्यवादी देश, कम्युनिष्ट, सबको भोजन मिले, सबको काम दिया जाय, सबकी एक समान बात रहे, पर ऐसा हो सकता क्या? उस ही राष्ट्रको सम्हालने वाला कोई राष्ट्रपति है, कोई मिनिस्टर है, कोई चपरासी है, कोई सलामी लेता है, कोई सलामी करता है, कोई आज्ञा देता है कोई आज्ञाका पालन करता है, किसीकी कीर्ति गाई जाती है, किसीकी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निन्दा होती है, कोई ऊँच माना जाता है कोई नीच माना जाता है। तो बतावो ये सब बातें कौन मेट सकेगा ? ये सब बातें तो बराबर देखनेको मिलेंगी। वहाँ साम्य कैसे स्थापित किया जा सकता ? तो सांसारिक जितनी घटनायें होती हैं उन घटनावोंका कारण कर्मका उदय है। जिसके कर्मका शुभ उदय है उसके उस प्रकारकी बुद्धि बनती है, अभ्युदय बनता है, सफल होता है, और जिसके पापकर्मका उदय है वह कितना ही कठिन श्रम करे, पर वहाँ उसे लाभ नहीं मिल पाता। यहीं मनुष्योंमें बड़े अन्तर दिख रहे हैं। ये घसियारे, लकड़हारे दिन भर बड़ा श्रम करते, पर दिनभरमें कोई दो-तीन रुपये ही कमा पाते, भरपेट भोजन भी नहीं कर पाते और कितने ही लोगोंको सभी चीजें खूब आवश्यकतासे अधिक प्राप्त हैं, बड़े ठाठ-बाट हैं और इतने अनावश्यक ठाठ हैं कि उनके बेटे बरबाद हो जाते, दुराचार करते। शराबी बन जायें, जुवेबाज बन जायें, कितने ही उनके परिणाम गिर जायें। तो उदय है पुण्यका, सुख सम्पन्नता मिली है तो इतना जो कुछ अन्तर है वह अन्तरका कारण है कर्मका उदय। यह कोई कायरताके लिए बात नहीं कही जा रही कि तुम अपने सुख दुःखमें दूसरे जीवोंको उत्पादक कारण मत मानो, क्योंकि वास्तवमें कोई दूसरा इसको सुख दुःख नहीं दे रहा।

(१००) सांसारिक विषमताओंको दैवकृत जाननेसे अन्य जीवोंमें शत्रुता मित्रताकी व्यर्थ कल्पनाके क्लेशका प्रक्षय—यहाँ यह बात तो निर्णीत हो गई कि संसारके सुख दुःखको घटनायें कर्मोदयपर निर्भर हैं। अब यह निर्णय करें कि आपको संसारमें ही रहना है या संसारसे हटकर मोक्ष पाना है यही निर्णय करना बड़ा कठिन होता है। कोई मुखसे कह भी देवे, चूंकि सुन रखा है कि मोक्ष अच्छी चीज है, तो केवल कह देनेसे बात तो नहीं बनती। उसरूप करतूत भी तो होनी चाहिए। अब जिसके हृदयमें निरन्तर इष्टबुद्धि बनी है कुटुम्बमें और पक्षपात बनता है कुटुम्बमें, जब कि सभी जीव एक समान हैं, भिन्न हैं। तो इन अनंत जीवोंमें से उन ४-५ जीवोंको क्यों छाँट लिया कि मेरा तो यह ही है सब कुछ। मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ इनके ही लिए है, ऐसा क्यों निर्णय कर लिया ? अज्ञान है, व्या-मोह है, संसारमें रुलना है, तो यह भीतरमें निर्णय बना हुआ है। तो जीवोंको जो कुछ भी अच्छी बुरी घटनायें आती हैं उनका कारण पूर्व उपार्जित पुण्य पापकर्मका उदय है, दूसरे लोग नहीं हैं, इसलिए किसी जीवपर शत्रुका और मित्रका ख्याल मत करिये—यह श्रद्धा अगर हो तो लड़ाइयाँ कम हो जायें, संक्लेश कम हो जाय। पड़ोसियोंमें, घरमें, कुटुम्बमें जो लड़ाइयाँ चलती हैं, मनमुटाव चलता है उसका कारण है अज्ञान। यह मान रखा है कि इन बाहरी सम्पदावोंसे मेरेको सुख है, इन लोगोंको मेरेसे सुख है, जब कि तथ्य यह है कि साता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का उदय होनेपर सुख है, असाताका उदय होनेपर दुःख है। आज जो प्रेमकी आँख रखते हैं, पापका उदय होनेपर उनकी आँख फिर विषैली बन जाती है, वह भले प्रकार देख नहीं सकता और बुरा करनेका प्रयत्न करता है। तो अपना अर्जित कर्म ही कारण है अच्छे बुरे सुख दुःख आदिकका। दूसरा जीव मेरा कारण नहीं है सुख दुःखका, इसलिए किसी जीवपर भी शत्रुता और मित्रताकी कल्पना न रखनी चाहिए।

कस्यापि कोपि कुरुते न सुखं दुःखं च दैवमपहाय।
विदधाति वृथा गर्वं खलोऽहमहितस्य हंतेति ॥३७३॥

(१०१) **किसी अन्य जीवके द्वारा किसी अन्य जीवके सुख दुःख न किये जा सकने का तथ्य जानकर गर्व न करनेका उपदेश**—कोई भी जीव किसीको सुखी दुःखी नहीं करता। एक भाग्यको छोड़कर अन्य कोई भी सुख दुःखका कारण नहीं है, पर यह जीव अज्ञानी बन कर व्यर्थ ही गर्व करता है और कभी किसीका विनाश करके यह सुख मानता है। मैंने इसे मार दिया, मैंने अमुक काम कर दिया। इसे पाल पोस दिया, इसे इतना बड़ा कर दिया। पिता क्यों दुःखी होता है पुत्रके विपरीत हो जाने पर? उसका अहंकार लगा है पिताके कि मैंने इसे बड़ा किया, जब छोटा था तो कितना ध्यान रखता था, कैसे कैसे इसको सुख दिया आराम दिया, पढ़ाया लिखाया, मैं खुद कष्टमें रहा आया, पर जो कुछ कमाया वह सब हमने इसके पढ़ाने लिखानेमें लगाया, मैंने इसका ऐसा ऐसा उपकार किया और यह लड़का आज मेरे प्रतिकूल बोल रहा है, अनधिकार चेष्टा कर रहा है, ऐसी चित्तमें बात जगती है और दुःखी होता है। यह बात भूल गया वह कि यह लड़का जब शिशु अवस्थामें था तो इसके पुण्यका ही ऐसा उदय था कि जिससे हमको इसका सेवक बनकर इसकी सेवा करनी पड़ी। यदि यह समझ रहती कि इस बच्चेका ही पुण्य है जो बड़ा हो गया। पल पुस गया, इसका मैंने क्या किया? यदि ऐसी यथार्थ बात जान ले तो उसे कष्ट न होगा। विपरीत बात समझने पर कष्ट हुआ करता है। जितने जो उत्पन्न हुए, पुत्र हुए, पुत्री हुए वे सब अपने-अपने कर्म साथ लिये आये हैं। आपसे जो कमायी बन रही है सो उन छोटे छोटे बच्चोंके पुण्यका उदय काम कर रहा है और यह बड़ा यह सोचता है कि मैं बच्चे पर दया कर रहा हूं, इसका पालन पोषण कर रहा हूं। इतनी कमायी करके बच्चोंपर लगा रहा हूं…और बात ऐसी है कि बच्चेके पुण्यका उदय है जो आपको नौकरीमें इतनी कमायी बन जाती है कि सबका गुजारा चलता रहता है। तो अहंकार, करना, गर्व करना बिल्कुल व्यर्थ है। मैं किसीका कुछ नहीं करता। जीवोंके ही अपने अपने दैवके अनुकूल सुख या दुःख हुआ करते हैं। तो ऐसा जानकर विवेकी जनोंको गर्व न करना चाहिए।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(१०२) **एक घटनादृष्टान्त द्वारा स्वकीय सुख दुःखका स्वकीयकर्मानुसार होनेको समर्थन**—एक घटना बुन्देलखण्डकी है, शायद वह छत्रशाल राजाकी घटना हो। उस बच्चे की माँ जब बच्चा गर्भमें था तो उसका पति गुजर गया। अब राज्य वही राजमाता सम्हालती थी। अचानक ही किसी दुश्मनने बडी भारी सेनासे चढ़ाई कर दी। अब वह गर्भवती रानी घोड़ेपर सवार होकर सेनापतिकी हैसियतसे सेना लेकर शत्रुका मुकाबला करने गई। सब वीरोंने बड़ी वीरतासे शत्रुका सामना किया और उस वीरांगना माताने भी उस युद्धमें बहुत सफलता पायी, पर अचानक हो चूंकि गर्भके दिन पार हो रहे थे, उसके पेटमें कुछ दर्द सा हुआ, सोचा कि यह तो बच्चा उत्पन्न होनेका समय है तो उस बच्चेकी रक्षाके लिए युद्ध छोड़कर आगे बढ़ गई, शत्रुवोंने तब भी उसका पीछा नहीं छोड़ा। वह आगे आगे बढ़ती जाय। घोड़ेपर ही चढ़े हुए उस वीरांगनाके वहीं बच्चा पैदा हुआ। अब वह सोचने लगी कि यदि इस बच्चेसे मैं मोह रखती हूं तो कुछ ही देरमें शत्रु आयेंगे और न मुझे जिन्दा छोड़ेंगे न मेरे बच्चेको सो वह उस बच्चेको एक झाड़ीमें छिपाकर आगे बढ़ गई। शत्रु उसका पीछा न कर सके और लौट गए। ५-७ दिन बादमें उस माँ ने सोचा कि जाकर देखें तो सही कि वह बच्चा जिन्दा है या नहीं, सो वह जब लौटकर आयी तो क्या देखा कि वह बच्चा जिन्दा था। हुआ क्या कि जिस झाड़ीमें वह पड़ा था उसमें एक मधुमक्खीने शहदका छत्ता लगा रखा था और वह ठीक उस बच्चेके मुखके सामने था। उसमें से एक-एक बूँद शहद टपक रहा था जो कि उस बच्चेके मुखपर पड़ रहा था। उसकी वजहसे वह बच्चा पूर्ण स्वस्थ था। यह दृश्य देखकर वह वीरांगना आश्चर्यचकित हो गई। तो इस संसारकी घटनायें पुण्य पापके अनुसार होती हैं, किसी दूसरेकी की हुई नहीं होतीं। इसलिए किसीको शत्रु या मित्रकी कल्पना करना व्यर्थ है, इसमें इस दैव (भाग्य) को ही कारण मानकर अपनेमें संतोष करना चाहिए।

गिरिपतिराजसानुमधिरोहतु यातु सुरेंद्रमंदिरं
विशतु समुद्रवारि धरणीतलमेकधिया प्रसर्पतु।
गगनतलं प्रयातु विदधातु सुगुप्तमनेकधायुधै-
स्तदपि न पूर्वकर्म सततं बत मुंचति देहधारिणं ॥३७४॥

(१०३) **जीवके साथ एकक्षेत्रावगाहस्थ कर्मका बन्धन**—जीवोंने जो कुछ भी पूर्वमें कर्म किया है शुभ कर्म अथवा अशुभ कर्म, वे अपना फल दिये बिना नहीं रह सकते। बात यह है कि जीव जब अपने शुभ या अशुभ परिणाम करता है तो जीवके ही साथ लगी हुई जो कार्माण वर्गणायें हैं वे कर्मरूप बन जाती हैं। यहाँ सब यह निमित्तनैमित्तिक भाव है। जीव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

के साथ यह शरीर लगा है ना, तो जो शरीर बना है वह तो शरीर है ही, पर इसके साथ और परमाणु भी ऐसे लगे हुये हैं जो शरीर तो नही है मगर शरीर बन जायेंगे। उन्हें कहेंगे शरीर बननेके उम्मीदवार। तो जो शरीर बननेके उम्मीदवार और परमाणु साथ लगे हैं वे शरीर रूप बन जाते हैं, ऐसे ही जीवके साथ सूक्ष्म कर्म परमाणु लगे हैं, जीवके साथ बँधे हैं जिनके उदयमें सुख दुःख होता है सो वह तो कर्म है ही, पर ऐसे भी कर्म परमाणु साथ लगे हैं जीवके जो अभी कर्म तो नहीं कहलाते, मगर कर्मरूप बन जायेंगे। सो यह जीव चाहे कहीं छिपकर रहे, कहीं घरमे हो, बाहर हो, चाहे कोई दूसरा जान पाये या न जान पाये, जैसे ही इसके परिणाम हुए उसी समय उन कर्म परमाणुवोंका बंध हो जाता है। अब वह बँध गया तो वह जीवके ही साथ है। सो जब उनका उदय आता है तो यह फल भोगता है। कोई दूसरा ईश्वर या और कोई जीवको सुख दुःख देता होता, तो चलो कभी नजरसे बचा लो, छुपा लो, न देखे, मगर यहाँ तो सुख दुःखके कारण कर्म हैं और वे कर्म जीवके साथ ही लगे हुए हैं। जहाँ जीव जाता उसके साथ वे कर्म भी हैं। अब उनका उदय आयगा ही, उनका फल मिलेगा ही।

(१०४) **निमित्त नैमित्तिक योगके तथ्योंका परिचय कर स्वकीय भावोंके संभालने सुधारनेका अनुरोध**—यह बात पूर्ण निश्चित है कि जो जैसा करता है उसको वैसा फल भोगना पड़ता है। कोई बीचमें विशेष ज्ञानप्रकाश जगे, सम्यग्दर्शन हो जाय, सम्यक्चारित्र बने तो कर्मोंमें थोड़ा अन्तर पड़ जायगा मगर रत्नत्रय बिना तो इस जीवकी कोई गति ही नहीं है, जैसा करता है वैसा भोगता है। आज उदय कुछ अच्छा है, पैसा पासमें है अन्य अन्य भी सुविधायें हैं तो विषयोंकी बातें सूझती हैं। पञ्चेन्द्रियके विषयमें इसका उपयोग लगता है और उन विषयोंमें उपयोग लग जाने से ये हीन आचरण बन जाते हैं, सो इसकी बुद्धि भी बिगड़ जाती है। अन्याय पर उतारू हो जाता है दूसरोंपर अत्याचार करने लगता है। सो आज बल मिला है, धन मिला है, जवानी मिली है, अनेक बातें मिली हुई हैं तो जैसा मन आये वैसा यह जीव कर ले मगर आगे भी फल भोगना पड़ेगा। इससे अपने आपको बहुत सावधानीसे चलनेकी जरूरत है। किसी जीवके प्रति गंदे भाव उत्पन्न न हों। सब जीव सुखी हों, मेरा कोई विरोधी नहीं। यदि किसीने स्वार्थके विषयोंमें बाधा भी डाली है तो विरोधसे नहीं डाली है, किन्तु उसने वैसा ही करनेमें अपनी शान्ति समझा है सो वैसा किया है। कोई मेरा शत्रु नहीं। सर्व जीवोंपर क्षमाभाव रखना, सबको भला सोचना, गुणी जनोंके प्रति भक्ति भाव, प्रेमभाव, विनयभाव रखना, शुद्ध आत्माका अपमान न हो, अपवाद न हो, अविनय न हो, इस प्रकारकी सावधानी रखना, जो परिणाम अच्छे रखेगा तो आगे

http://sahjanandvarnishastra.org/

भविष्य अच्छा रहेगा और परिणाम भला न बन पायगा तो भविष्य खोटा रहेगा ।

(१०५) सुमेरुपर पहुँचकर या बड़े पुरुषोंके स्थानपर पहुंचकर कर्मफलका अनिवारण—यह जीव चाहे सुमेरुपर्वतकी चोटीपर चढ़ जाय कि मैं इतने ऊँचे चला जाऊँगा तो फिर मुझे कोई देख न पायगा, वहाँ कर्म न सतायेंगे····तो भले ही चोटीपर चढ़ जाय पर ये कर्म वहाँ भी उसे छोड़ने वाला नहीं है । जैसे शुभ अशुभ कर्म किया उस प्रकारका फल भोगना पड़ता है । चाहे कोई इन्द्रके घरमें घुस जाय कि यह मुझे शरण देगा, यहाँ मेरी सुरक्षा हो जायगी, मैं किसी बड़ेके पास पहुंच गया हूं···तो भले ही पहुंच जाय, मगर कर्म वहाँ भी न छोड़ेंगे । जहाँ सिद्ध भगवान रह रहे हैं मोक्षस्थानमें, सिद्धालयमें अनन्त सिद्ध भगवान हैं, वे तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द पा रहे हैं, पवित्र हैं और वहीं निगोदिया जीव भी हैं, एक श्वांसमें १८ बार जन्म मरण कर रहे, जगह एक ही है, जहाँ सिद्ध भगवान हैं वहीं घुसे हैं निगोदिया जीव भी, पर भगवान सुखी हैं और वे निगोदिया जीव यहाँकी तरह दुःखी हैं । कोई कहीं चला जाय, किसी बड़ेके घरमें भी पहुंच जाय, मगर कर्म इसे वहाँ भी छोड़ने वाले नहीं हैं ।

(१०६) समुद्र, पाताल, आकाशके मध्य पहुंचकर भी तथा दृढ़ अस्त्र शस्त्र दुर्गसे सुरक्षित करनेपर भी कर्मफलका अनिवारण—कोई जीव चाहे समुद्रके जलमें बैठ जाय, प्रवेश कर जाय कि मैं जलमें प्रवेश कर जाऊँगा, रहूंगा, वहाँ मुझे कोई न सतायेगा, जैसे कभी मधुमक्खी इस मनुष्य पर मंडरा जाती, काटने लगती, तो यह मनुष्य जलमें जाकर प्रवेश करता है, यह सोचकर कि ये मक्खी जलके भीतर तो आ ही न पायेंगी, मैं सुरक्षित रह जाऊँगा तो बतावो कब तक वह जलमें रहेगा ? आखिर वह ऊपर उठेगा और उसे वे मक्खियाँ काटेंगी ही । ऐसे ही कोई चाहे जलमें भी प्रवेश कर जाय पर कर्म वहाँ भी उसका पीछा न छोड़ेंगे । वहाँ भी उनका फल बराबर चल रहा है । कोई मनुष्य पाताल लोकमें प्रवेश कर जाय कि मैं पातालमें चला जाऊँगा तो वहाँ सुरक्षित रहूंगा । जैसे रावणके पुरुषोंने लंका पायी थी कि यह बड़ा दुर्गम स्थान है, समुद्रके बीच है जहाँ शत्रुका पहुंचना कठिन है । उससे भी अधिक दुर्गम स्थान हो, पाताल हो वहाँ भी कोई जीव पहुंच जाय तो जीवके साथ चूँकि लगे हैं कर्म सो वे कर्म वहाँ भी उसे न छोड़ेंगे । उदय आयगा, इसका दुःख पाना होगा । चाहे कोई पुरुष आकाशमें बहुत ऊंचे चला जाय पर जीवके साथ कर्म वहाँ भी तो हैं । उनका फल भोगना पड़ेगा । कोई शस्त्र अस्त्रोंसे अपनी खूब दृढ़ रक्षा कर ले, बड़ा मजबूत किला बना ले, और यह सोच ले कि मैं तो अब इसके बीच रहूंगा, वहाँ कोई मेरा क्या कर सकेगा, और जीवके साथ ही तो वे कर्म लगे, उनका उदय आनेपर वैसा संयोग

Report any errors at vikasnd@gmail.com

समागम बन जायगा ।

(१०७) **शुभ अशुभ घटनावोंको शुभ अशुभ कर्मका फल जानकर लौकिक और अलौकिक सत्कृत्य करनेका अनुरोध**—यहाँ यह बतला रहे हैं कि जो शुभ अशुभ कर्म जीव करता है उसका इसे फल भोगना पड़ता हैं । किसी भी अवस्थामें सुख दुःख दिये बिना कर्म झड़ते नहीं हैं । हाँ कोई विशेष तपश्चरणका बल बने और कर्ममें कुछ फर्क डाले तो डाल जाय, मगर वह पहले डलता है, उदयकालमें नहीं डल सकता । उदयकालमें तो कर्म अपना फल देता ही है । तो इस प्रकरणसे हम आपको कई शिक्षायें मिलती हैं । एक तो यह कि जो कुछ हमारा खोटा भला हो रहा है सुख दुःख, उसमें कारण कर्मका उदय है, जगतके अन्य जीव नहीं हैं । जैसे लोगोंकी दृष्टि रहती है कि मुझको अमुक भाईने सताया है, इसने हमको इतना कष्ट दिया है । इसने हमको लूट डाला है, यह मेरा विरोधी है, यह मेरे मनके विरुद्ध कार्य करता है । सो जगतमें कोई किसीको सुख दुःख देने वाला नहीं है । जीवके जब पापकर्म का उदय आता है तो उसके मित्र और कुटुम्बी ही दुःखका कारण बन जाते हैं । शत्रुकी तो बात छोड़ो, मेरेको दुःख देने वाला जगतमें कोई दूसरा नहीं है, इस कारण सब जीवोंमें मित्रता का भाव लाइये, सब मेरे स्वरूपके समान हैं । दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि जो कर्म बँध जाते हैं उनका उदय भोगना पड़ता है, इसलिए अभीसे सावधान रहें कि मेरेसे कोई खोटे कर्म न बनें । देखो कर्ममात्र ही मेरे लिए दुःखका कारण है । कर्म साथ लगे हैं तो शरीर भी साथ लगना पड़ता है । जब यह शरीर भी साथ है तो सारे दुःख इसके साथ आ गए । रोग का दुःख, भूखका दुःख, अपमानका दुःख, कोई गाली गलौज देता है तो इसका बुरा क्यों मानना ? इसने मान रखा इस शरीरको कि यह मैं हूं और उसने इस मुझको गाली दी है, बुरा मानते हैं । तो जितने कष्ट भोग रहे हैं ये जीव ये सब शरीरके कारणसे भोग रहे हैं । पहले तो यह इच्छा करें कि हे प्रभु मेरेको यह शरीर ही न मिले, और मैं शरीरसे रहित केवल जो मैं आत्मा हूं सो ही रहूं और मुझे कुछ न चाहिये, शरीररहित स्थिति चाहिये, कर्म-रहित स्थिति चाहिए, कर्ममात्र मेरे लिए दुःखका कारण है, इसलिए कर्म ही न बंधें वह प्रयत्न करिये, पर जब तक ऐसा नहीं हो पा रहा तब तक अशुभ काम तो छोड़ें । शुभ कामों में शुभोपयोगमें, शुद्ध तत्त्वकी भक्तिमें दया दान आदिककी प्रवृत्तिमें अपने आपको लगाइये तो शुभ कार्योंका फल शुभ मिलेगा, अशुभका फल अशुभ मिलेगा ।

—o—

http://sahjanandvarnishastra.org/

१५वां परिच्छेद—उदरनिरूपण

तावज्जल्पति सर्पति तिष्ठति माद्यति विलसति विभाति।
यावन्नरो न जठरं देहभृतां जायते रिक्तं ॥ ३७५ ॥

(१०८) जगतके प्राणियोंकी क्षुद्ग्रस्तता—इस परिच्छेदमें क्षुधा सम्बन्धी वार्तावोंका विवरण है। यह जीव तब तक बोलता चालता है जब तक कि इसका पेट भरा रहता है। देखिये—क्षुधा रोग समस्त जीवोंपर बना हुआ है। कीड़ा मकोड़ा वे भी क्षुधा रोगसे ग्रस्त हैं और पेड़ पौधे इनको भी क्षुधा लगती है। पता नहीं पड़ता कि इनको कैसे क्षुधा है? वे मिट्टी खाद आदिक इन सबको खा लेते कि नहीं? वे जड़से खाते हैं, उनका ढंग और है, उनके मुख नहीं है, मगर अपनी जड़ोंसे मिट्टीके परमाणु, पानीके, खादके परमाणु उनको ग्रहण करते हैं, उन्हें शरीररूप बनाते हैं, यह ही तो मनुष्य करते हैं। ये मुखसे ग्रहण करते हैं और उनसे शरीर बंधता है। तो क्षुधा रोगसे संसारके सारे प्राणी ग्रस्त हैं। नारकियोंसे तो इतनी क्षुधा है कि यह बताया गया कि—"तीन लोकका नाज जो खाय, मिटे न भूख तृणा न लहाय।" पशु-पक्षी इनके कितनी क्षुधा है, और देवगतिमें कष्ट यह है कि उनके भूख नहीं लगती मगर वहाँ भी भूख लगती। लगती है हजारों वर्षमें और भूख लगी कंठसे अमृत झड़ा और उनकी क्षुधा मिट गई। कुछ भी हो, मगर क्षुधाका रोग संसारके सारे प्राणियों पर लगा है। इससे अगर कोई छूटा है तो परमात्मा, अरहंत भगवान, सिद्ध भगवान, इनके क्षुधाकी व्याधि नहीं है। सिद्धके तो शरीर ही नहीं। उनके क्षुधाका प्रश्न ही क्या? और अरहंत भगवानके शरीर है, मगर परमौदारिक। वहाँ क्षुधाका प्रश्न नहीं। बाकी सब जीवों पर यह क्षुधा रोग लगा हुआ है।

(१०९) सभी प्राणियोंपर क्षुधाका आक्रमण—हम आप लोग इस क्षुधाकी अधिक चर्चा क्यों नहीं करते, क्योंकि खूब अच्छे साधन हैं, पैसा है, संयोग है, जरा भूख लगी तो तुरन्त खा लिया, सुबह नास्ता किया, फिर भोजन किया, फिर फल खाया, शामको फिर भोजन किया और कई आदमी तो रात दिन जब चाहे खाते पीते ही रहते हैं। एक आदमी ने एकसे चर्चा की कि तुम तो रात दिन मुख चलाते ही रहते हो तो उसने कहा कि हम तो सोते समय खानेका त्याग रखते हैं, सो सोते समय तो नहीं खा पाते मगर जगते समयमें बराबर खाने पीनेका ही प्रोग्राम चलता रहता है। यह बात रेलगाड़ियोंमें खूब देखनेको मिलती है। तो सब प्रकारके साधन हैं, इसलिए नहीं पता पड़ता, नहीं तो क्षुधाकी बड़ी कठिन वेदना इन जीवोंके साथ लगी है। जिनको साधनोंका संयोग नहीं है, समागम नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पड़ता है भूख सताती है, तो वे जानते हैं कि क्षुधाका कितना बड़ा रोग लगा है। तो यहां एक भवमें खूब आरामसे रह लिया, क्षुधाका दुःख न रहने दिया तो इससे क्या होता है ? क्या अगले भवमें बच जायगा ? गरीबी निर्धनतासे। ये कीड़े मकोड़े पशु पक्षी क्या जोड़कर रखते ? तो क्षुधा रोग इतना कठिन है कि जब तक यह प्राणी क्षुधा रोगसे ग्रस्त रहता है तब तक इसे और कुछ नहीं सुहाता। तब ही तक यह प्राणी बोलता है जब तक कि इस प्राणीका उदर भरा रहता है। यह तब ही तक चलता, फिरता, उठता, बैठता खुश होता, आनन्द मानता है जब तक कि इसका पेट भरा रहता है। यह उदर निरूपण की बात कही जा रही। संसारके सारे प्राणी इस क्षुधा रोगसे ग्रस्त हैं।

(११०) **क्षुधादिदोषरहित सहजात्मस्वरूपकी आराधनासे सिद्धिका लाभ**—यहां पूजामें बोलते हैं ना—'क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामि' क्षुधा रोगके विनाशके लिए मैं नैवेद्यको चढ़ाता हूं या नैवेद्यको त्यागता हूं, नैवेद्यको छोड़ता हूं। लोग जानते हैं कि क्षुधाकी शान्ति इन व्यञ्जनोंसे होती है। तो जब इस जीवने समझा कि मेरा स्वरूप तो क्षुधा आदि व्याधियोंसे रहित है, अमूर्त ज्ञानमात्र केवल शुद्ध ज्ञानज्योति, इसमें क्षुधाका क्या काम है ? स्वरूप है इसका ज्ञान। यह जानता रहे, जाननमात्र इसकी प्रवृत्ति रहे यह है इसकी वृत्ति। तो क्षुधारहित आत्माका स्वरूप जब इस ज्ञानीने जाना तो यह ज्ञानी इस नैवेद्यको त्यागता है। अब तुझे इससे कोई प्रयोजन न रहा। खा खाकर कब तक गुजारा चलेगा ? फिर मरेंगे, शरीर मिलेगा, क्षुधा रहेगी, फिर मरेंगे, शरीर मिलेगा बस यही तांता लगा रहना पसंद है क्या ? इसी तरह अपने आपको संसारमें रुलाना पसंद है क्या ? अब अपने आत्माका दोष सम्हालिये। आत्मतत्त्वके दर्शन करिये, यह भगवंत परमात्माकी तरह है, उसका आदर बनाइये। यह आदर तब ही तो बन सकेगा जब कि कुटुम्ब आदिकसे ममता न रहे। ममता ऐसी बनाये हुये हैं कि इसके चित्तमें आता ही नहीं है कि और भी दूसरे जीव हैं और ये सब एक समान हैं। घर, स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र, मित्र आदि इसके चित्तमें लगे हैं। ये मेरे हैं, मेरा सब कुछ तन, मन, धन, वचन इनके लिए ही है, इस प्रकारकी तो ममता लादे हैं और चाहें कि हमें धर्मका पालन हो तो कैसे हो सकता है ? जब मोहका विष हृदयमें ऐसा घर कर रहा है तो वहां धर्म रंच भी हो सकता है क्या ? दिख रहा है कि बहुत बड़ा समुदाय है धर्म करने वालोंका, मंदिरमें बड़ी संख्या है, सभी लोग दर्शन करने आते हैं, सामायिक करते हैं, जाप देते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं, त्यागी व्रतियोंकी बड़ी खबर रखते हैं, सेवा सुश्रुषा करते हैं। ये लोग तो बड़े धर्मात्मा हैं, ऐसा दिखता है पर मोहका विष यदि भीतरमें भरा है तो वहां रंच भी धर्म नहीं है। फिर भी जो कुछ थोड़ा बहुत करते हैं उससे कुछ पुण्य कर्म बँध गया, इतना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो लाभ है मगर उससे मोक्षमार्गका धर्मका रंच भी लाभ नहीं है जिनके मोह लगा है, मोह का विष लदा है।

(१११) दोष व दोषनिवृत्तिके अर्थ आत्मनिरीक्षण—अब आप सब लोग अपनी-बात सोचिये कि मेरे चित्तमें मोहका विष चढ़ा है या नहीं। हम सबका चित्त बता देगा भली भांति पूछेंगे अपने आपसे कि मेरा चित्त कुटुम्ब आदिकमें कितना फंसा हुआ है। ये ही मेरे सब कुछ हैं, उनको देखकर मन खुश हो जाता है कि मेरा यह फलाना आ गया। तो समझ लीजिए कि जहां अज्ञान, ममता मोह भीतरमें घर किए हुए है वहां धर्म रंच भी नहीं हो सकता। जैसे जो घड़ा तैलसे चिकना है उसपर पानीकी बूंद ठहर नहीं सकती ऐसे ही मोहसे भरे हुए हृदयमें धर्मका प्रवेश रंच भी नहीं हो सकता। और भी देखिये—धर्म बिना इस जीवकी रक्षा करने वाला जगतमें कोई नहीं है। किसीको शरण मान लें, कैसी ही बात रक्षा की बना लें, मगर इसकी कहीं रक्षा नहीं है। एक धर्मपरिणाम ही ऐसा है जो इस जीवकी रक्षा कर सकता है अन्य कोई नहीं। वह धर्मपरिणाम क्या है ? आत्माका वास्तविक स्वरूप ज्ञानमें रहे और उसके अतिरिक्त सर्व पदार्थोंको अपनेसे निराला समझें, अपने आपमें जो भी विकार जगता है, विचार जगता है उसको माया समझें। यह मैं आत्मा तो सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं। ऐसी दृष्टि जगे तो धर्म मिलेगा, बाकी मन, वचन, कायकी जो ऊपरी क्रियायें चल रही हैं उन क्रियावोंसे धर्म नहीं मिला करता। जिनको धर्म मिला है उनके मन, वचन, कायकी ऐसी ही क्रियायें होती हैं जिन्हें हम आप धर्म कहते हैं। यदि धर्मभाव भीतर है तो उसकी धर्मक्रियायें धर्मके लिए बनेंगी मगर जिनके चित्तमें धर्मभाव नहीं है और धर्मकी ऐसी क्रियायें करें तो उससे कहीं धर्म न मिल जायगा। सो धर्म ही एक जीवका रक्षक है, जिससे जब तक यह संसारमें रहेगा तब तक भी यह सुखपूर्वक रह लेगा और निकट कालमें ही संसारके सारे संकटोंसे वह छूट जायगा और मुक्त अवस्थाको प्राप्त होगा।

(११२) क्षुधा और बुभुक्षाकी वेदना—क्षुधाका यह प्रकरण चल रहा है। क्षुधा मायने क्या है ? तो लोग तो कहते हैं भूख, पर असलमें क्षुधाका अर्थ भूख नहीं है। भूख शब्दका सही शब्द है बुभुक्षा। भूखका अर्थ है खानेकी इच्छा। और क्षुधाका अर्थ है कोई तरहकी पीड़ा। क्षुधा एक रोग है और भूख तो क्षुधाको मेटनेके लिये भोगनेकी चाहका नाम है रोग, और रोगको दूर करनेकी इच्छा इन दोनोंमें फर्क है, पर क्षुधा शब्दका असली अर्थ हिन्दीके शब्दोंमें कोई अर्थ नहीं मिल रहा, इसलिए भूख शब्द प्रसिद्ध हो गया। भूख लगी तो भूख लगीका अर्थ है मेरेको खानेकी इच्छा जगी। क्षुधा एक रोग है, व्याधि है और उस व्याधिमें, उस पीड़ामें यह जीव व्याकुल हो जाता है, सो यदि क्षुधा रोगको सदाके लिए निवृत्त करना है तो उसका उपाय बनाइये, उसका उपाय है धर्मसाधना, और जो ४-६ घंटेको क्षुधा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिटाना है तो मिटा लीजिए मगर फिर बुभुक्षा आयगी और देखो रोज क्षुधा सताती है, देखो रोज रोज वही दाल, रोटी, चावल हमेशा खाते आये, पर रोज रोज नया जैसा लगता है। क्यों नया जैसा लगता, क्योंकि वेदना है ना, तो इस वेदनाके इलाजमें इसे ऐसा लगता कि मैं आज नई चीज खा रहा हूं। तो इस क्षुधाकी पीड़ाको यदि अपने आपसे हटाना है तो क्षुधारहित कर्म शरीर आत्माका जो ज्ञानानन्दस्वरूप है उस ज्ञानानन्द स्वरूपको अपनाइये। मैं यह हूं ज्ञानज्योतिस्वरूप अमूर्त। मेरा तो यह शरीर भी नहीं। एक बार ऐसा अनुभव तो आना चाहिए कि मैं केवल जीव ही जीव, आत्मा ही आत्मा हूं। शरीर यहाँ है ही नहीं, शरीरका ख्याल छोड़ दीजिये। शरीर सदासे अलग है, मेरी सत्ता अलग है, तब इसका बिल्कुल ध्यान छोड़ दें, और केवल ज्ञान ज्ञानप्रकाश ही ज्ञानमें रहे ऐसी स्थिति बन जाय। ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, तो समझिये कि ज्ञानका अनुभव बनेगा, अपने आत्माका परिचय बनेगा। इस ज्ञानके अनुभव द्वारा ही हम अपने आपका उद्धार कर पायेंगे। जगतमें कितनी ही माया समेट लें, पर वह पाप है, कलंक है, उससे मेरे आत्माका उद्धार नहीं होनेका। आत्माके उद्धारका कारण तो ज्ञान है, इस ज्ञानसे प्रीति जगे, ज्ञानके साधनोंसे प्रीति जगे, ज्ञानी जीवोंसे प्रीति जगे तो अपना होनहार अच्छा होगा, बाकी अन्य रागोंमें इसका होनहार भला नहीं है।

यद्यकरिष्यद् वातो निक्षिप्तद्रव्यनिर्गमद्वारं।
को नाम शक्यः कर्तुं जठरघटीपूरणं मर्त्यः ॥३७६॥

(११४) **जठरघटीके पूरणकी अशक्यताका सयुक्तिक विवेचन**—प्राणी पेटभर खाते हैं, पर खाये हुए अन्नको निकाल देने वाला पवन पेटमें मौजूद है अर्थात् खाया और मलद्वारसे वह निकल गया, तब तो पेट खालीका ही खाली रहा, और यही कारण है कि किसीमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि इस पेटको पूरा भरा ही रख सके। उदर रूपी घड़ेमें पड़े हुए पदार्थको निकालने वाला पवन बराबर मौजूद है। भोजन किया जाता है तो जठराग्निसे वह पच जाता है, पचकर मलिन बन जाता है। मल होकर फिर उदरमें ठहर नहीं सकता। निसार हुए बाद उस मलको डाटे रहनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं रहती, अन्तमें वह मलद्वारसे निकल जाता है, फिर पेट तो खाली ही रहा। अब उस खाली पेटको भरे रखे ऐसी किसमें सामर्थ्य है ? यह क्षुधा रोग इस जीवको इतनी महान् पीड़ा देने वाला है कि प्रतिदिन ही क्षुधावेदना से त्रस्त होता है और थोड़े समयको क्षुधा वेदना शान्त होती है जब तक कि वह पेट भरा रहता है। जब वह मल बनकर बाहर निकल गया तो वह पेट खाली रहा। अब उसे कोई नहीं भर सकता। इतनी बड़ी विवशता इस जीवके साथ लगी हुई है और यही कारण है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि रोज रोज इस जीवको परेशान रहना पड़ता है और उस पराधीनताके साथ-साथ जीवनमें दीनता भी आ जाती है। जब क्षुधावेदना है तो मनमें दैन्यभाव भी आता। अब यह खायें, यह चाहिये इस प्रकारकी प्राप्ति होना यह ही तो दीनता है, क्षुधा रोग कैसे दूर हो उसका उपाय बनाना विवेकी पुरुषोंका कर्तव्य है। जब तक शरीर साथ है और जीवको निर्दोषता और गुणपूर्णता नहीं प्रकट हुई है तब तक तो इसे क्षुधाकी बराबर बाधा बनी ही रहेगी। सो निर्दोषता बने और गुणोंका परिपूर्ण विकास हो यह स्थिति चाहिये तो इस क्षुधा वेदनासे हट सकते हैं।

शक्येतापि समुद्रः पूरयितुं निम्नगाशतसहस्रैः।
नो शक्यते कदाचिज्जठरसमुद्रोऽन्नसलिलेन ॥३७७॥

(११५) **अन्नसलिलसे जठरसमुद्रके पूरणकी अशक्यता**—क्षुधा वेदनाकी कठिनाई इस प्रकरणमें बतलायी जा रही है जिस कठिनाईको जानकर यह शिक्षा लेना होता है कि कोई ऐसा उपाय बनाया जाय कि सदाके लिए यह क्षुधा वेदना नष्ट हो जाय। कुछ कालके लिए व्यञ्जन खा पीकर क्षुधावेदनाको शान्त किया तो उससे कोई पूरा तो नहीं पड़ता, बल्कि खानेसे तो यह शरीर रहता है, फिर भूख लगती है, फिर खाना पड़ता है, यों उसकी परिपाटी बराबर चलती जाती है। जैसे—समुद्रसे तो सैंकड़ों हजारों नदियोंके समूहसे एक बारमें भर लिया जाय तो वह भरा जा सकता है, समुद्र परिपूर्ण हो जायगा उसकी सीमा है चारों ओर, उस सीमा तक जल आ जायगा, और ऐसा भी हो सकता कि और नदियोंका पानी आता जाय तो अपनी सीमाको लाँघकर समुद्रका पानी बाहर भी निकल सकता है। जैसे कवि लोग कहते हैं कि समुद्रसे कभी एक बूंद भी पानी नहीं कहा है ऐसी असम्भवसी बात भी सम्भव हो सकती है किन्तु यह सम्भव नहीं हो सकता कि उदर रूपी समुद्र अन्न रूपी जलसे कभी भर जाय, फिर कभी रीता न हो। कितने ही अन्न इस पेटमें डालते जाइये, तत्काल तो कुछ पेट भरा रहता है मगर समय जैसे व्यतीत होता, मिनट-मिनट व्यतीत होते कि बस पेट खाली होने लगता। जठराग्नि खाये हुए अन्नको भस्म कर देती है और फिर यह पेट अतृप्त हो जाता है। तो इस उदरसमुद्रकी तृप्ति कितने ही अन्नका पानी डाल दिया जाय तो भी यह पूर्ण नहीं हो सकता, ऐसी यह क्षुधावेदना लगी है और इसका निमित्त कारण है असाताका उदय और उस ढंगके असाताका उदय इस जीवकी परिपाटीको चलाता आ रहा है। जिस भवमें गया यह जीव वहाँ ही क्षुधावेदना इसको सताती। कीड़ा हुआ तो वहां भी क्षुधावेदना, मनुष्य बन गया तो वहाँ भी क्षुवावेदना। पशुवोंकी क्षुधा तो सामने ही स्पष्ट है। मन-मनभर अन्न एक बारमें खा जायें ये हाथी, घोड़ा, झोंटा आदिक, यह तो देख

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ही रहे हैं। तो यह क्षुधा वेदना संसारके समस्त जीवोंको परेशान कर रही है। इससे मुक्त होनेका उपाय मात्र क्षुधावेदना रहित देहरहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी उपासना करना है।

वैश्वानरो न तृप्यति नानाविधकाष्ठनिचयतो यद्वत्।
तद्वज्जठरहुताशो नो तृप्यति सर्वथाप्यशनैः ॥३७८॥

(११६) **जठराग्निकी भोजनेन्धनसे सर्वथा तृप्तिकी असंभवता**—जैसे कितनी ही प्रकारके काष्ठोंका समूह अग्निमें डाल दिया जाय पर अग्नि कभी तृप्त नहीं होती। अग्निका तो वह खुराक है ईंधन। ईंधन पायगी तो अग्नि बढ़ेगी। कितना ही काष्ठसमूह इस अग्निपर डाल दिया जाय तो अग्नि कभी तृप्त नहीं होती, बल्कि अतृप्त होकर और अधिक तृष्णाको ही बढ़ाती चली जाती है याने आग और तेज होती जाती है। फिर उसपर और ईंधन कोई डाल दे तो वह भी आग बनती जाती है। कितनी ही बार डालते जाइये ईंधन, पर अग्नि बढ़ती ही जायगी। तृप्त होनेका तो कोई काम नहीं है। इसी प्रकार यह उदररूपी अग्नि चाहे इसमें कितना ही अन्नरूपी ईंधन झोंक दिया जाय तो भी यह उदराग्नि बढ़ती ही जाती है। कभी भी सन्तुष्ट नहीं होती। मनुष्योंका, पशुओंका, सभीका रोजका काम देख लीजिए। रोज रोज खाना, कुछ समय बाद मल निकालना, बस यही जीवनभर लगा रहता है। अन्य कामोंमें तो परिश्रम होता है मगर यह क्षुधा रोग इस जीवको बहुत परेशान किए हुए है। सो यह उदराग्नि भोजनसे कभी संतुष्ट नहीं होती। तब इस क्षुधाके शान्त होनेका उपाय जगतमें पौद्गलिक समागम नहीं है। यह आत्मा स्वयं क्षुधा आदिक वेदनाओंसे रहित है, ज्ञानज्योति अमूर्त है, स्वयं आनन्दस्वरूप है। उसकी दृष्टि बने। उस ही रूप अपने आपको अनुभवे तो यह कठिन वेदना जो कि खाते समय तो यह अपनेको बड़ा सुखी मानता है पर है यह वेदनारोग। यह दुःख दूर हो सकता है तो मात्र एक अंतस्तत्त्वकी उपासनासे ही दूर हो सकेगा।

यस्यां वस्तु समस्तं न्यस्तं नाशाय कल्पते सततं।
दुःपूरोदरपिठरी कस्तां शक्नोति पूरयितुं ॥३७९॥

(११७) **वस्तुन्याससे उदरपिठरीके पूरणकी अशक्यता**—उदर रूपी पिठरी कुठिया में, बर्तनमें रखी हुई वस्तु सारीकी सारी अल्प समयमें ही नष्ट हो जाती है, फिर कौन पुरुष इस उदर पिठरीको भरकर पूरा रख सकता है? बर्तनोंमें रखी हुई चीज ज्योंकी त्यों बनी रहती है और वह नष्ट नहीं होती। मानो टंकीमें कोई वस्तु भर दी तो वह भरी रहेगी और ऐसी स्थितिमें यह सम्भव है कि वह पदार्थ भरा हुआ बना रहता है, खाली नहीं रहता, पर यह उदररूपी पिठरी यह भर जाय और भरी हुई बराबर बनी रहे, ऐसा यहाँ शक्य नहीं है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इससे रखी हुई चीज थोड़े समय बाद ही नष्ट हो जाती है। जैसे भोजन किया, भोजन कर चुके बाद अब उस पदार्थका विनाश होना, मल होना, निसार होना यह बराबर शुरू हो गया है, तो यों उदरमें रखी हुई चीज थोड़े समय बाद ही नष्ट हो जाती है। अब कौनसा उपाय है कि इस उदर पिठरीको बराबर भरा हुआ रखे रहे। यह कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव ही है। सब प्राणियोंको मूल रोग यह लगा हुआ है। क्षुधावेदना। कोई धनिक हो, बड़ा हो, जिसके पास इतनी समृद्धि है कि जब चाहे खाये पिये, उसे यह महसूस नहीं होता कि क्षुधा भी कोई वेदना हुआ करती है। पर वेदना सबके होती हैं और वेदना मिटानेके उपायमें सब लगे रहते हैं। सो इस क्षुधावेदनीय कर्मका विनाश हो याने अष्ट कर्मोंका विनाश हो, जब वेदनीय नष्ट होता है तब फिर कोई कर्म नहीं रहता। वेदनीयकर्म अन्तमें ही नष्ट होता है। तो उसके नष्ट होते ही शरीररहित आत्मा हो जाता है। और कैसा पवित्र आत्मा स्वयं स्पष्ट बन गया कि अब उसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं रहता। तो क्षुधावेदनासे वही बच सका है जो सदाके लिए शरीररहित हो गया।

तावन्नरः कुलीनो मानी शूरः प्रजायतेऽत्यर्थं।
यावज्जठरपिशाचो वितनोति न पीडनं देहे ॥३८०॥

(११६) **जठरपिशाचपीडा न होने तक कुलीनता मान शौर्य आदिका प्रतिष्ठापन**— यह मनुष्य तब ही तक कुलीन बना हुआ है याने कुलके योग्य आचरण करके दुनियाको आदर्श बताता है जब तक कि शरीरमें जठररूपी पिशाच पीड़ा नहीं उत्पन्न करता। कदाचित मान लो ऊँचे कुलमें पैदा हुआ पुरुष है और वह कहीं देश क्षेत्रमें ऐसा फंस जाय कि उसके पास पेट भरनेका कोई साधन न रहा तो अब उसकी कुलीनता क्या कायम रहेगी? क्षुधा वेदनाके वश होकर जिस किसी भी प्रकार वह आकांक्षा और प्रयत्न करेगा कि जिससे इसकी क्षुधावेदना शान्त हो। तो जब तक यह जठरपिशाच पीड़ा शरीर पर अपना अधिकार नहीं जमाती याने क्षुधा वेदनासे जब तक यह त्रस्त नहीं होता तब तक ही यह मनुष्य कुलीन रहता है और अपने श्रेष्ठ कुलपनेको बातें झोंकता है, यह मनुष्य तब तक ही अपना मानीपना दिखाता है, बड़ा हूं, उच्च हूं ऐसा गर्व तब तक ही चलता है जब तक कि क्षुधा वेदना इस शरीरपर अधिकार नहीं जमाती। जिसको क्षुधाकी वेदना लगी है और उसको मिटानेका कोई सुगम साधन नहीं है तब यह किसीका भी मुख ताकता है, आकांक्षा करता है, वहाँ फिर इसका मान कहाँ रहता? तो इस मनुष्यका मानीपना तब ही तक दिखेगा जब तक कि क्षुधा वेदनासे यह परेशान न हो। यह पुरुष अपनेको वीर बहादुर होनेका तब तक ही दावा रखता है जब तक कि क्षुधा वेदना इसको परेशान न करे। जहाँ तीव्र क्षुधाकी वेदना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है तो बड़े बड़े वीर वीर बहादुर भी कायर बन जायेंगे और जिस किसी भी प्रकार भोजन मिले वह प्रयत्न करेंगे। तो जब तक यह जठरपिशाच इस पर अधिकार नहीं जमाता तब तक ही सब बातें बड़ी कर्तव्य जैसी लगती हैं और दुनियाको यह मनुष्य दिखानेका प्रयत्न करता है। ज्यों ही क्षुधावेदनाने परेशान किया कि इसका कुलीनपना किनारा कर जाता है। अर्थात् ठहरता नहीं है। यह मान मानो अपनी पूछ दबाकर भाग जाता है। गर्व फिर वहाँ कुछ नहीं दिखता। वीरता मानो काला मुख कर यह कहीं छिप जाती है याने वहाँ वीरता भी नहीं रहती। जठराग्निसे पीड़ित पुरुष छोटे आदमीके पास भी दीन होकर मांगता फिरता है। ऐसी क्षुधाकी वेदनाको हटानेका उपाय अनन्त गुणधाम अमूर्त चैतन्य महाप्रभुकी उपासना-करना है।

यदि भवति जठरपिठरी नो मानविनाशिका शरीरभृतां।
कः कस्य तदा दीनंजल्पति मानापहारेण ॥ ३८१ ॥

(१२०) **मानविनाशिका जठरपिठरीकी समस्याके अभावमें दृश्यमान व्यवहारके अभावका प्रसंग**—यदि प्राणियोंकी यह जठरपिठरी अर्थात् क्षुधावेदना मानका विनाश करने वाली न होती तो कौन पुरुष फिर किसके आगे दीन होकर वचन व्यवहार करता ? अर्थात् फिर तो सभी स्वतंत्र ही थे। घरमें १०-५ लोग रहते हैं, वे सब किसी बड़ेके हुक्ममें रहते हैं, ऐसा क्यों करते हैं ? उन सबके क्षुधा वेदना है और उसे शान्त करनेका भी आवश्यक काम रोज-रोजका पड़ा है, इसी कारण एक दूसरेके आधीन हैं और एक दूसरेकी बात मानते हैं। यदि यह भूख वेदना, क्षुधा, न लगती होती तो फिर बतलावो कौन पुरुष किसका ताबेदार होता, सेवक होता, आज्ञा मानने वाला होता ? फिर तो स्त्री, पुत्र, मित्र आदिक सभी लोग अतीव स्वतंत्र हो जाते। कोई किसीकी परवाह भी न करता। एक यह पेट ही ऐसी चीज है, क्षुधा वेदना ही ऐसा रोग है जिसके कारण बड़े-बड़े मानियोंका मान भी नष्ट हो जाता है। यही तो संसारमें अनादिसे परिपाटी चली आयी है। इस ही परिपाटीमें यह जीव परेशान हो रहा है। इसकी मुक्ति हुए बिना इसका उद्धार नहीं है। मुक्तिके लिए इन सब वेदनावोंसे रहित केवल शुद्ध चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्वकी, सहज परमात्मस्वरूपकी आराधना करना है। जिसके बलसे यह शरीरलाभकी बरबादी मिटे अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि हो, और वास्तविक आनन्द प्रकट हो।

गायति नृत्यति वल्गति धावति पुरतो नृपस्य वेगेन।
किं किं न करोति पुमानुदरग्रहपवनवशीभूतः ॥३८२॥

(१२१) **उदरपिशाचवशीभूत प्राणीकी विविध विचित्र चेष्टायें**—यह मनुष्य पेटरूपी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ग्रहपवनके वशीभूत होकर क्या क्या नहीं कर डालता ? लोकमें अनेक मनुष्य गान तान कर आजीविका करते हैं। एक व्यवसाय बन गया है और जब चाहे पैसा देकर बुलाये, गाना गवाये। तो गानेकी जो एक आजीविका बनाते हैं वह इस पेटसे परेशान होकर ही तो बनाते हैं। तो उदरग्रहसे ग्रस्त हुआ पुरुष यह गाता है, नाचता है, अपने शरीरकी ऐसी कलायें दिखाता, हाथ पैर चलाता, मुख आँखकी भाव मुद्रा बनाता, ये सब किसलिए कोई पुरुषकर रहा है ? केवल पेटरूपी पिशाचसे पीड़ित होकर ही कर रहा। जैसे किसी को भूत पिशाच लग जाय तो वह खूब नाचता गाता है, जैसी चाहे चेष्टा करता है ऐसे ही यह मनुष्य उदर रूपी भूत पिशाचके वशीभूत हुआ गाता है, नाचता है और बड़ी बड़ी डगें भर कर कूदता है। किसी भी जगह जहाँ लाभ सुने वहाँ यह दौड़ता है। क्यों दौड़ता है ? इसलिए कि उस सामग्रीसे यह उदराग्नि शान्त करली जायगी। तो पेटके लिए ही तो यह दौड़ता है। जैसे भूख पिशाचसे ग्रसा हुआ आदमी ये सारी क्रीड़ायें करता है—गाना, नाचना, कूदना, दौड़ना आदिक विसम चेष्टायें करता है इसी तरह इस भूखसे सताया हुआ मनुष्य राजा, धनिक आदिक बड़े पुरुषोंके सामने गाता है, नाचता है, कूदता है, दौड़ता है। ये आजीविकायें करके यह मनुष्य राजावोंको रिझानेका प्रयत्न कर रहा है। तो ऐसा रिझानेका प्रयत्न अपना पेट भरनेके लिए ही करता है। मानो यदि पेट न होता याने इस जीवके क्षुधावेदना न होती तो कोई कुछ भी न करता।

जीवान्निहंत्यसत्यं जल्पति बहुधा परस्वमपहरति।
यदकृत्यं तदपि जनो जठरानिलतापितस्तनुते ॥३८३॥

(१२२) **जठरानिलतप्त प्राणीका अकृत्यव्यवहार**—जो पेटके पीछे काम करनेकी अनेक बातें ऊपर बतायी गई हैं उनमें कई कार्य करने लायक भी हैं, जिनके करनेसे किसीको कुछ भी पीड़ा नहीं होती। सो यद्यपि वह काम भी यह मनुष्य दीनतावश करता है जिनसे किसी दूसरेको पीड़ा नहीं होती, परन्तु ऐसे काम भी इस पेटके वश होकर यह जीव कर डालता है जो बिल्कुल नहीं करने योग्य हैं। अयोग्य कामोंको भी कर डलता। जैसे कोई किसीको मारकर खा ले तो यह कितना अयोग्य काम है। इस भूखे प्राणीको अन्य जीवोंका स्वरूप ही समझमें नहीं है, पर रंच भी दया नहीं है तो वे उन्हें मार डालते हैं, खा डालते हैं। ऐसे अयोग्य काम यह पेटके कारण ही तो कर रहा है। लोग झूठ बोलते हैं, चोरी करते हुए पकड़े जाते हैं और और भी जितने अधम कार्य किये जा रहे हैं वे सब इस पेटके लिए ही तो करते हैं। तो इस अधम पेटके लिए यह पुरुष जो जठराग्निसे संतप्त है, भूखसे व्याकुल है वह क्या क्या नहीं कर डालता ? योग्य कार्योंको करे और अयोग्य कामोंको भी कर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

डालता है, ऐसी विडम्बना इस क्षुधा वेदनाके कारण करनी पड़ रही है। इसका मूलसे विनाश तब ही है जब कि शरीररहित आत्माकी शुद्ध स्थिति प्रकट हो जाय।

द्युतिगतिमतिरतिलक्ष्मीलता लसंति तनुधारिणां तावत्।
यावज्जठरदवाग्निर्न ज्वलति शरीरकांतारे ॥ ३८४ ॥

(१२३) जठरदवाग्निज्वलन न होने तक प्राणियोंके द्युति गति मति आदि लतावों की शोभितता—जब तक प्राणियोंको समय समय पर खाना मिलता चला जाता है जब तक उनके शरीररूपी वनमें उदराग्नि प्रवेश नहीं कर पाती है तब तक ही मनुष्यके शरीरकी द्युति कायम रहती है। जैसे जंगलमें वृक्ष खड़े हैं, हरे हैं वहाँ बड़ी द्युति है, बड़ी उनकी शोभा हो रही है। यह शोभा कब तक रहती है, जब तक कि उस जंगलमें आग नहीं लग जाती। जहाँ आग लगी कि वे समस्त पत्ते मुर्झा जाते हैं। तो शरीरकी द्युति कहाँ रही ? इस शरीरकी द्युति, गति, चलनेकी शक्ति यह तब ही तक कायम है जब तक इस जीवको खाना मिलता चला जाता है। यह बुद्धि तब तक काम देती है जब तक शरीरको खाना मिलता चला जाता है। कभी यह भूखसे व्याकुल हो जाय और खानेका साधन न मिले तो उस समय इसकी बुद्धि भी काम नहीं करती। यह जीव तब ही तक रतिमें (राग में) रहता है जब तक कि इसको जठराग्नि परेशान नहीं करती। जैसे जंगलमें वृक्षोंकी शोभा, लता तब तक सही है, तब तक नहीं मुर्झाती जब तक कि वहाँ अग्नि नहीं लगती ऐसे ही जब तक जठराग्निका प्रकोप नहीं है तब तक इस मनुष्यके शरीरकी शोभा बराबर बनी रहती है। जैसे ही उदराग्नि प्रविष्ट हुई कि गति, बुद्धि, शोभा इन सभीको यह उदराग्नि कम डालती है। समयपर भोजन न पहुंचे इस मनुष्यके शरीरमें तो कान्ति नहीं रहती, चलना फिर बंद हो जाता, बुद्धि बिगड़ जाती, प्रेम भी नष्ट हो जाता और शरीर शोभारहित होकर, रोगसहित होकर फीका पड़ जाता है।

संसारतरणदक्षो विषयविरक्तो जरार्दितोप्यसुमान्।
गर्वोद्ग्रीवं पश्यति सधनमुखं जठरनृपगदितः ॥३८५॥

(१२४) जठरवेदनाग्रस्त महापुरुषोंकी भी विवशता—जो पुरुष संसारसे पार होनेमें चतुर हैं अर्थात् संसार सागरसे तिर सकते हैं, तपश्चरण आदिक करके, आत्मस्वरूपका परिचय करके, अंतस्तत्त्वमें मग्न होकर जो संसार पार कर लेनेकी सामर्थ्य रखते हैं, जिन्हें विषयों से पूर्णतया विरक्ति है, किसी भी इन्द्रियके विषयके सेवनकी कभी भी अपनी इच्छा प्रकट नहीं करते, जो बुढ़ापेसे पीड़ित रहते हैं, वृद्ध होते हैं ऐसे पुरुष भी जिस समय भूख वेदनासे ग्रस्त होते हैं, उदर भरनेके फंदमें पड़ते हैं उनपर भी जब इस उदरनृपकी आज्ञा चलती है तब गर्वसे ऊँचे हुए धनियोंके मुखको आशा भरी दृष्टिसे देखते हैं अर्थात् बहुत उच्च पदमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पहुंचे हुए पुरुष भी जब जठराग्निकी पीड़ासे बेचैन हो जाते हैं, शरीर जब नहीं चलता तो वे भी उदरपूर्तिकी खोजमें अपनी चर्चा करते हैं। बड़े-बड़े मुनिराज जो परमेष्ठी कहलाते हैं, देह से विरक्त हैं वे भी आखिर इस क्षुधावेदनाकी शान्तिके लिए श्रावकोंके घर स्वयं जाते हैं, शुद्ध आहारकी खोज करते हैं, तो इससे यह जानिये कि इस क्षुधावेदनाने, इस उदरनृपने संसारके जीवोंको कैसा फन्देमें फंसाया है कि ये जीव इस उल्झनमें रहकर कभी भी दीनतारहित अपनी चर्या नहीं कर पाते। संसारके प्राणियोंको जो छोटेसे बड़े तक सभीको क्षुधासे ग्रस्त बनाया है तो उससे यह जानना कि संसार ऐसी वेदनावोंका घर है और एक जन्ममें मानो क्षुधाशान्ति का सही साधन बना लिया तो इतनेसे क्या होता है ? मरण होता है, नया जन्म मिलेगा, यह क्षुधा साथ रहेगी। इस शरीरका सम्बंध जीवके लिए बडा कठिन उपसर्ग बना हुआ है। क्षुधा आदि वेदनायें इस शरीरके कारण ही तो सता रही हैं। सो विवेकी जनोंका यह कर्तव्य है कि शरीररहित, वेदनारहित केवल विशुद्ध चेतनामात्र अंतस्तत्त्वकी आराधना करके अपने आपको कल्याणमार्गमें ले जायें।

कर्षति वपति लुनीते दीव्यति सीव्यति पुनाति वयते च।
विदधाति किं न कृत्यं जठरानलशांतये तनुमान् ॥३८६॥

(१२५) **जठरानलशान्तिके लिये प्राणियोंके नाना श्रम**—संसारमें यह शरीरधारी मनुष्य जठराग्निको शान्त करनेके लिए क्या-क्या उपाय नहीं रचता ? जो जो भी बातें उनकी बुद्धिमें आती हैं उन सब बातोंको इस पेट भरनेके लिए यह कर डालता है। ये मनुष्य उदराग्निकी शान्तिके लिए ही तो खेत खोदते हैं। खेत जोतनेमें, गोड़नेमें कितना परिश्रम होता है ? इतना बड़ा परिश्रम क्या यह मनुष्य यों ही करता है ? प्रयोजन यह है कि अपनी क्षुधा की शान्तिका साधन बनानेके लिए ही तो यह मनुष्य खेत जोतता है, खेतमें बीज बोता है, अंकुर हो जानेपर उनकी रक्षा करता है, उनकी वृद्धिके लिए परिश्रम करता है, फल आ जाने पर, पक जानेपर उन्हें काटता है, उनका फल निकालता है। प्रारम्भसे अन्त तक किसी विषयक इस परिश्रमको यह जीव जठराग्निकी शान्तिके लिए ही तो करता है। कितने ही लोग जुवा खेलते हैं और अनेक प्रकारके अन्य व्यापार करते हैं। उनमें यह ही तो आशा रखते हैं कि कुछ द्रव्यका संचय हो तो वे उस साधनसे अपनी जठराग्नि शान्त कर लें। तो यह क्षुधा वेदना इस जगतके जीवोंसे क्या-क्या काम नहीं करा रही है। लोग कपड़े सीते हैं, झाड़ू लगाते हैं, मजदूरीका काम, सफाईका काम, कपड़े सीनेका काम आदि, ऊँचेसे ऊँचे नीचेसे नीचे सभी कामोंको यह मनुष्य जठराग्निकी शान्तिके लिए ही करता है। अन्य अन्य बातोंपर इस मनुष्यका कुछ वश चलता है या मानता है, पर जब क्षुधावेदना सताती है, जठराग्निका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रकोप होता है तब इस जीवका गर्व खतम हो जाता है और उस समय उसे कोई वश नहीं चलता। यह प्राणी इस उदराग्निके साधन, शान्तिके साधन बनाये रखनेके लिए क्या क्या नहीं करता। न जाने कहाँ कहाँ जाता, कहाँ कहाँ यात्रा करता, किन किन समुद्रोंमें, वनोंमें प्रवेश करता, न जाने क्या क्या कारीगरी नहीं करता। वस्त्र बुने, अनेक प्रकारकी कलावोंसे यह अनेक निर्माणकार्य करता। ये सब कलायें इस जठराग्निकी शान्तिके लिए करता है। एक क्षुधाकी वेदना न हो तो किसीको क्या गर्ज पड़ी है कि वह कठिनसे कठिन परिश्रमसाध्य किसी नये कार्यको करे। जुवा खेलता है उसमें बदनाम होता है। दर्जीका पेशा करता है, भंगी, मेहतर आदिकका कार्य करता है जुलाहा बनता है ये सब कार्य इस जठराग्निकी शान्ति के लिए ही तो करने पड़ते हैं। हाय! यह सारा जगत एक इस क्षुधावेदनासे ऐसा ग्रस्त है कि इससे विवश होकर यह अपना सारा बुद्धिबल खो देता है।

लज्जामपहंति नृणां मानं नाशयति दैन्यमुपचिनोति।
वर्धयति दुःखमखिलं जठरशिखी वर्धितो देहे ॥३८७॥

(१२६) **जठराग्निबाधित प्राणीके दुःख और दोषोंका वर्धन**—जब शरीरमें जठराग्नि बढ़ जाती है, तेज क्षुधाकी वेदना हो जाती है तो यह मनुष्य लज्जाको छोड़कर निर्लज्ज हो जाता है। यहाँ तक कि भीख माँगकर भी अपना पेट भरता है, वहाँ भी शर्म नहीं करता। तो यह क्षुधाकी तीव्र वेदना इस जगतके जीवोंको सताती है। जब जठराग्निका प्रकोप होता है तो मानका सर्वथा अभाव हो जाता है। क्षुधा वेदनासे त्रस्त प्राणी अपना मान नहीं रख पाते। चाहे वे ऊँची स्थितिमें हों चाहे छोटी पदवीमें हों, पर क्षुधाके आगे मान किसीका नहीं टिक सका। उदराग्निके प्रकोपके समय दीनताका साम्राज्य छा जाता है। सभीको दीन होना पड़ता है। अन्यकी तो बात क्या, भले ही कुछ वैराग्यबुद्धिके कारण साधुजन दीनता नहीं करते हैं पर भिक्षा चर्या करनेमें दीनताका कुछ न कुछ अंश आ ही जाता है। तो क्षुधावेदना होनेपर दीनताका साम्राज्य छा जाता है। क्षुधा वेदनामें अन्य समस्त दुःख सह लेते हैं, तो यह एक ऐसी कठिन वेदना है कि इसमें निर्लज्जता आ जाना, मानरहित हो जाना, दीनता आ जाना आदिक सारे दोष होते हैं। तो ऐसा क्षुधा वेदनाका आधारभूत यह शरीर ही इस जीवके साथ न रहे तो यह जीव पवित्र है, कल्याणमय होगा, पर जब तक यह शरीर साथ लगा है तब तक यह जीव अपवित्र बन रहा है। सो शरीररहित अंतस्तत्त्वकी उपासना करके अपने आपको ज्ञानशरीरमात्र, ज्ञानज्योतिर्मात्र अनुभवना चाहिये।

गुणकमलशशांकतनुर्गर्वग्रहनाशने महामंत्र।
सुखकुमुदौघदिनेशो जठरशिखी बाधते किं न ॥३८८॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(१२७) **जठराग्निसे गुणोंका भस्म होना**—यह जठराग्नि गुणरूपी कमलोंके लिए चंद्रमाकी तरह है। जैसे चन्द्रोदय होनेपर कमल मुद जाता है इसी प्रकार जठराग्नि होनेपर इस आत्माके गुण सब हीन हो जाते हैं। यह जठराग्नि गर्वरूपी ग्रहके नाश करनेमें महामंत्र का काम देती है। जैसे कहीं कोई पिशाच लग गया हो या पिशाचका कहीं उपद्रव आ गया हो तो महामंत्रबलसे पिशाचका उपद्रव दूर हो जाता, इसी प्रकार इस जठराग्निका प्रकोप हो जानेपर गर्वका विनाश होता है। जब तक पेट भरा है तब तक जीवके गर्व है, आग्रह है, नाना प्रकारकी यह मनमानी लीलायें करता है। यह जठराग्नि सुखरूपी कुमदोंको मुर्भा देने में सूर्यकी बराबरी करती है। जैसे सूर्यका उदय होनेपर कुमुद नामक कमलिनी मुर्भा जाती है ऐसी ही जब इस जठराग्निका प्रकोप होता है तो सुख भी नष्ट हो जाता है। जैसे चन्द्रके उदय होनेसे कमल नहीं खिलता उसी प्रकार उदराग्निसे पीड़ित मनुष्यके गुण नहीं प्रकट होते। जैसे सूर्यका उदय होनेपर कुमुद मुर्भा जाते हैं इसी तरह जठराग्निकी पीड़ा होनेपर सुख भी मुर्भा जाता है, सुखके बजाय दुःख घर कर जाता है। तात्पर्य यह है कि ये संसारके प्राणी इस जठराग्निके द्वारा बड़े पीड़ित हैं और यह शरीर उसका आधार है। और जब तक संसार है तब तक शरीर मिलता रहेगा। सो यह भव भवमें क्षुधाकी वेदनासे दुःखी रहेगा। सो जब तक यह आत्मा अपनी असली स्थिति नहीं पाता, शरीररहित केवल अपने स्वभाव-विकासरूप अवस्थाको नहीं पाता तब तक यह जीव संसारके कष्ट ही कष्ट पाता रहता है।

शिथिलीभवति शरीरं दृष्टिर्भ्राम्यति विनाशमेति मतिः।
मूर्छा भवति जनानामुदर भुजंगेन दष्टानां ॥ ३८६ ॥

(१२८) **उदरभुजंगसे दष्ट पुरुषोंके शरीरका शैथिल्य और दृष्टिका घूमना**—जिसको उदर रूपी भुजंगने डस लिया है अर्थात् जिसको क्षुधावेदना सता रही है और क्षुधावेदनाकी शान्तिके लिए खाने को कुछ न कुछ मिल रहा है उसका शरीर शिथिल हो जाता है। जैसे सर्पके डसने पर डसा हुआ शरीर शिथिल हो जाता है, खड़ा नहीं हो पाता, हाथ पैर कैसे ही गिरते रहते हैं ऐसे ही जब उदराग्नि क्रुद्ध हो जाती है अर्थात् भूख सताती है तो उस तीव्र वेदनामें यह सारा शरीर शिथिल हो जाता है। जैसे सर्पके डसे जाने पर डसे हुए मनुष्यकी दृष्टि घूमने लगती है, दृष्टि स्थिर नहीं हो पाती है, यह सारा जगत घूमता हुआ दिखता, खुद भी घूमता हुआ रहता है इसी प्रकार जठराग्निसे पीड़ित हुआ पुरुष अर्थात् जिसको तेज भूख लगी है उस वेदनासे मुर्भाये हुए पुरुषकी दृष्टि घूमने लगती है। उसको सामनेका दृश्यमान यह पदार्थ समूह भी घूमता सा नजर आता है और स्वयं भी घूमता रहता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(१२६) **जठरभुजंगदष्ट पुरुषोंके मतिविनाश और मूर्च्छाका होना**—जैसे सर्पसे डसे हुए पुरुषकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, दिमाग काम नहीं करता है, अक बक भी बकने लगता है इसी प्रकार जठराग्निसे पीड़ित पुरुषकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। अब उस क्षुधावेदनासे पीड़ित पुरुषका दिमाग कुछ काम नहीं करता। किसी कामको करनेमें मन नहीं लगता। यहाँ तक कि लोगोंने एक कहावत बना ली कि "भूखे भजन न होय गोपाला, यह लो अपनी कंठी माला"। क्षुधा वेदनासे ग्रस्त प्राणी भक्ति, ध्यान आदिक सब कुछ छोड़ बैठते हैं। जैसे जिसको सर्पने डसा हो उसको मूर्छा सताने लगती है इसी प्रकार जिसको इस क्षुधावेदनाने सताया है उसे भी बेहोशी आने लगती है। जब कभी भूखका ऐसा तेज प्रसंग आया हो और उसका साधन न मिला हो, प्रायः सभीको जीवनमें ऐसा मौका पड़ा सकता है तो वह स्वयं जानता है कि क्षुधावेदनासे पीड़ित होकर इस मनुष्यको होश भी नहीं रहता है। ऐसे क्षुधा वेदनाके उपसर्गसे दूर होनेकी जिनकी इच्छा है उनका कर्तव्य है कि देहकर्म आदिकसे निराले चैतन्यमात्र इस चैतन्य महाप्रभुकी उपासनामें रहें और ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपका ज्ञान करते हुए अलौकिक आनन्दका अनुभव करें?

उत्तमकुलेपि जातः सेवां विदधाति नीचलोकस्य।
वदति च वाचां नीचामुदरेश्वरपीडितो मर्त्यः ॥३६०॥

(१३०) **उदरेश्वरपीडित उत्तमकुलजात मनुष्यको नीचलोकसेवाकी विवशता**—जो पुरुष इस पेटरूपी नृपकी आज्ञासे पीड़ित हैं, जिन पर इस पेटकी हुकूमत चल रही है वे लोग उसकी आज्ञाके वश होकर चाहे, उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हों, उन्हें नीच कुल वाले पुरुषोंकी सेवा करना पड़ता है। यह क्षुधा, यह पेटकी ज्वाला इतनी भयंकर है, इतनी दुःसह है कि इससे पीड़ित होकर उत्तम कुल वाला भी पुरुष जब कुछ पेटपूर्तिका साधन नहीं रहता है तो नीच कुल वाले पुरुषकी भी यह सेवा करने लगता है और इतना ही नहीं, इस उदर-पूर्तिके निमित्त नीचसे नीच जो न कहे जाने चाहिए ऐसे वचन भी बोलने पड़ते हैं। दीनता आना, गर्वका मिटना, लज्जाका खोना, खोटे वचन बोलना आदि ये सारे कार्य उदर पूर्तिके लिए ही तो करने पड़ते हैं। लोकमें ऐसे भाँड़, नट, और और भी कितनी ही तरहके लोग दिखते हैं कि जो जैसे चाहे वचन बोलते हैं। वे केवल एक ही प्रयोजन अपना साधना चाहते हैं कि पेटकी पूर्ति होती रहे। क्षुधा वेदना शान्त होती रहे।

दासीभूय मनुष्यः परवेश्मसु नीचकर्म विदधाति।
चाटुशतानि च कुरुते जठरदरी पूरणाकुलितः ॥३६१॥

(१३१) **उदरगर्तभरणाकुलमनुष्यकी परदास होकर नीचकर्म करनेकी विवशता**—

Version 1

जो मनुष्य इस जठरदरीके पूरण करनेमें आकुलित हैं याने पेटका गड्ढा भरनेकी चिन्तासे जो बेचैन हैं वे पुरुष दास होकर दूसरोंके घरोंमें नीच कर्म करते हैं, जैसे जूठे बर्तन मांजना, कपड़े धोना, झाड़ू बुहारी लगाना, गौशालावोंका मल-मूत्र साफ करना। भला बताओ कौन मनुष्य ऐसा शौक रखता है कि इन कार्योंको करता फिरे, लेकिन जब इस पेटके गड्ढेको भरनेका प्रसंग आता है, जिसके बिना काम नहीं चलता, शरीर बेसुध हो जाता, शिथिल हो जाय, बड़ी पीड़ा हो जाय, ऐसे इस पेटगड्ढेको भरनेके लिए यह मनुष्य दूसरोंके घरोंमें रहकर नीच कर्मोंको करता रहता है, और इतना ही नहीं, उन बड़े पुरुषोंकी अनेक चापलूसीके वचन भी कहनेमें शर्माते नहीं हैं। जिस किसी भी प्रकार हो, ये मुझपर प्रसन्न रहें, इस प्रकार उनकी प्रशंसा चापलूसी न गुण हों तो भी उन गुणोंको बनाना, बखानना, इन सारे चापलूसीके वचनोंके कहनेमें भी वे पुरुष चूकते नहीं हैं। सो यह जगत इस क्षुधासे ऐसा परेशान है। सो जब तक यह जीव इस शरीरको अपनाये है, शरीरको ग्रहण करता रहता है तब तक ये वेदनायें सहनी ही पड़ेंगी। जिनको ये वेदनायें पसंद नहीं वे शरीररहित चैतन्य महाप्रभुकी उपासना करें।

क्षीणाति खलति याचति गणयति रचयति विचित्राशल्पानि-
जठरपिठरीं न शक्तः पूरयितुं गतशुभस्तदपि ॥ ३९२ ॥

(१३२) **विविध चेष्टाओंसे भी पुण्यहीनकी जठरपिटरीपूरणमें अशक्तता**—जिन जीवोंका पुण्य नष्ट हो गया है अर्थात् जो पुण्यहीन हैं वे नाना प्रकारके व्यापार करते हैं, उनमें भी टोटा पाते हैं और अपना पेट नहीं भर पाते। यह संसार कैसा कष्टका घर है। जो लोग संसारकी चीजोंमें रमण करते हैं वे अज्ञानी हैं, बहुत बड़ी विपत्तिमें फँसे हुए हैं। अज्ञानके समान विपत्ति अन्य कुछ नहीं है। पुण्यहीन पुरुष जमीन की खुदाई करते हैं, बड़े कठिन परिश्रमकी मजदूरी करते हैं फिर भी अपना पेट नहीं भर पाते। उन्हें इतना द्रव्य नहीं मिल पाता कि वे भोजन प्राप्त करके अपनी उदरपूर्ति भी कर सकें। इस जगतमें कैसे कैसे पुण्यहीन प्राणी पाये जा रहे हैं। इस उदरकी पूर्तिके लिए ही अनेक लोग भीख मांगते हैं, याचना करते हैं, लोग उन्हें पुकारते हैं, ये उनकी बात सुन लेते हैं, भले ही भीतर दुःखी हों, आखिर भीख मांगनेके लिए विवश रहते हैं। तो पुण्यहीन पुरुष क्या क्या अकर्तव्य नहीं कर डालते? जिनका पुण्य नष्ट हो गया वे पुरुष नाना तरहकी कारीगरीका काम करते हैं। गिनती गिनते रहते हैं अर्थात् जैसा चाहे कार्य करते हैं तो भी अपने उदर की पूर्तिमें समर्थ नहीं हो पाते। वे मनुष्य बड़े गहरे अन्धकारमें हैं कि जो पूर्वकृत पुण्यके उदयसे कुछ इन्द्रिय विषय भोगोंके साधन पाकर यहां मस्त होते हैं, रमते हैं, मौज मानते हैं। यह कितने दिनों

का मौज है। आखिर उन्हें भी दुःखमें ही पड़ना पड़ता है। सो जो पुण्यहीन पुरुष हैं वे नाना प्रकारके परिश्रम करके भी अपनी उदरपूर्ति नहीं कर पाते। यह संसार कैसा मूर्ख प्राणियों का घर है कि इस क्षुधावेदनासे ये प्राणी निरन्तर त्रस्त रहते हैं।

प्रविशति वारिधिमध्यं संग्रामभुवं च गाहते विषमं।
लंघति सकल धरित्रीमुदरग्रहपीडितः प्राणी ॥३६३॥

(१३३) उदरग्रहपीड़ित मनुष्य द्वारा कठोर व्यवसायोंका भी उपक्रम—पेट रूपी पिशाचसे पीड़ित हुआ यह प्राणी उदर पालनके प्रयोजनसे समुद्रके मध्यमें प्रवेश करता है। कितने ही लोग जैसे मल्लाह लोग यही आजीविका करते हैं कि किसी समुद्रके मध्य गए और वहाँ कोई सीप, हीरा आदिक चीज मिली, कोई ऐसी मूल्यवान वस्तु कदाचित् मिली तो उसे बेचकर आजीविका करते हैं। तो अपने ही पेटके पालनेके लिए कितने ही प्राणी समुद्रके मध्य में प्रवेश करते हैं, अनेक लोग पेटके ही पालनेके लिए भयानक संग्राममें शामिल होते हैं। युद्धमें सिपाही बनकर भर्ती होना और युद्धमें दूसरोंको मारना, खुद मर जाना, यों लड़ाईका ही तो काम किया जाता है। तो ऐसे भयानक संग्राममें भी शामिल होना पड़ता है इस पेटके पालनके अर्थ। भले ही कुछ लोग चित्तमें वीरताका भी भाव रखते हैं, पर केवल शौकसे ही नहीं वे भयानक संग्राममें जाते, साथ ही उदरपालनका प्रयोजन लगा है। कभी बड़ा पुरुष सेनापति बनकर दूसरोंके युद्धमें प्रवेश करता है तो यद्यपि सीधा प्रयोजन उदर पालनका वहाँ नहीं दिखता, मगर रहता तो है सही पोजीशनके साथ। वे सब भी उदरपूर्तिसे सम्बंध रखने वाले विषय हैं। कितने ही पुरुष इस उदररूपी ग्रहसे पीड़ित हुए समस्त पृथ्वीपर घूमते फिरते हैं। कहाँ जायें, कहाँ व्यापार करें, कहाँ रत्न आदिककी प्राप्ति हो, इस प्रकारकी खोज में, रोजगारमें वह पृथ्वीपर यहाँ वहाँ सर्वत्र घूमता फिरता है। उदर रूपी राक्षससे पीड़ित होने वाले प्राणी इस दुनियामें यहाँसे वहाँ डोलते फिरते हैं। सो यह सब क्षुधाका त्रास जानकर और उसका आधार शरीर जानकर ऐसा ही उपाय बनाना योग्य है कि इस जीवके साथ शरीरका बंधन ही न रहे और सारी व्याधियाँ इसकी एक साथ दूर हो जायें।

कर्माणि यानि लोके दुःखनिमित्तानि लज्जनीयानि।
सर्वाणि तानि कुरुते जठरनरेंद्रस्य वशमितो जंतु ॥३६४॥

(१३४) जठरनरेन्द्रवशीभूत पुरुष द्वारा दुःखनिमित्त व लज्जनीय कार्योंका भी उपक्रम—उदररूपी राजाके वशमें प्राप्त हुआ यह मनुष्य, यह जंतु संसारमें जितने भी नीचसे नीच लज्जा उत्पन्न करने वाले दुःखके निमित्तभूत कार्य हैं उन सबको करनेमें रंच मात्र भी आनाकानी नहीं करता। लोकमें जितने अत्याचार हो रहे हैं, कोई पुरुष किसीको भी लूट

http://sahjanandvarnishastra.org/

लेता है, थोड़े थोड़े धनके पीछे दूसरेके प्राण भी हर लेते हैं, और अनेक पुरुष गुंडागर्दीसे जो चाहे कर डालनेकी हिम्मत बनाते, ये सब कार्य एक उदरपूर्तिके लिए ही तो किए जा रहे हैं। ऐसे इन कार्योंमें नीचसे नीच कार्योंको भी यह जन्तु करनेमें शर्मिन्दा नहीं होता। पशु-पक्षी, छिपकली आदिक अनेक जन्तु हैं, ऐसे जिनका कार्य दूसरे प्राणियोंका प्राण हनन करता है और उनको खा डालना है। इससे और नीच कार्य क्या हो सकता है जो दूसरे जीवोंको न जीने दे, उनको खा जाय, प्राणविघात कर दे, इससे नीच और क्या कार्य हो सकता है? सो ये पशु-पक्षी ऐसे नीच कार्यको कर ही रहे हैं। कितने ही जन्तु हैं ऐसे कि जिनका भोजन मांस सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, जैसे छिपकली सिंह आदि, ये मांस खाकर ही जीवित रहना चाहते हैं। तो ऐसे अधम कार्योंको यह जन्तु कर डालता है। वे तो पशु-पक्षी ही हैं, और मनुष्योंको भी देखिये—यह मनुष्य मांसभक्षी हो जाता है। कितने ही प्राणियोंका हनन करके उनका मांस खाता है, तनिक भी चित्तमें दया नहीं आती और उदरपूर्तिके लिए कमाई करता है तो उसमें किसीपर कैसा ही अत्याचार करना पड़े, झूठ बोलकर दूसरेको फँसा दे, कितने ही खोटेसे खोटे कार्य यह जीव कर डालता है केवल एक उदररूपी राजाके आधीन होकर। सो सारे संसारको इस उदर पीड़ासे पीड़ित जानकर ऐसा निर्णय बनायें कि इस संसारमें कोईसी भी पदवी, कोईसा भी राज्यादिक पदवियोंका, समृद्धियोंका कोई भी स्थान ऐसा सही नहीं है कि जो इस जीवको शान्ति प्रदान कर सके। सर्वत्र कष्ट ही कष्ट भरा हुआ है। ऐसे इस कष्टमयी जगतसे विरक्त होना और आत्मशान्तिके पौरुषमें लगना यह इस मनुष्य का कर्तव्य है।

अर्थः कामो धर्मो मोक्षः सर्वे भवंति पुरुषस्य।
तावद्यावत्पीडा जाठरवह्निर्न विदधाति ॥३९५॥

(३९५) जठराग्निबाधा न होने तक ही मनुष्योंको चार पुरुषार्थोंमें प्रवृत्ति—मनुष्यों के लिए ऋषि संत जनोंका उपदेश है कि वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको भली-भाँति सिद्ध करें। धर्मके मायने पुण्य, दया, दान, संयम, व्रत, उपवास आदिक धार्मिक कार्योंका करना, अर्थका अर्थ है धन कमाना, क्योंकि धन बिना पालन-पोषण नहीं हो सकता। तो गृहस्थावस्थामें धनार्जन आवश्यक है। सो न्यायनीतिसे धनका उपार्जन करें। कामका अर्थ है—पालन-पोषण, भोगोपभोग आदिक सो इन बिना भी गृहस्थका कार्य नहीं चल पाता। तो उन्हें भी न्याय नीतिपूर्वक भोगें और मोक्ष पुरुषार्थके मायने है—मोक्षके लिए कर्तव्य करना, आत्मज्ञान ध्यानका साधन बनाये रहना। मोक्षपंथमें लगने वाले गुरुजनोंकी सेवा भक्ति करना। सो इन चारों पुरुषार्थोंके कर्तव्यका ऋषि संतोंने उपदेश किया, सो यह मनुष्य जब तक इन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका पौरुष करता है तब तक उदराग्नि नहीं सताती। ज्यों ही भलेसे भले मनुष्योंको यह भूख सताती है, जठराग्निका प्रकोप होता है त्यों ही इन सब पुरुषार्थोंको भूल जाता है और अधिक दिन तक साधन न मिले तो अपनी क्रियासे भी भ्रष्ट हो जाता है। तो ये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थोंके कर्तव्यमें पुरुष तब तक ही सावधान रह पाता है जब तक कि यह जठराग्नि इन प्राणियोंको बेसुध न कर दे। तात्पर्य यह है कि मनुष्यका कर्तव्य तो है मोक्ष पुरुषार्थको निभाना, सो ध्यान तो यही रखें, पर परिस्थिति है ऐसी कि शरीरको टिकाये बिना यह संयम साधना कर नहीं सकता और शरीर टिकेगा अन्न पानसे, सो यथा समय यथोचित अन्न पान देकर कर्तव्य यह करें, साधना ऐसी करें कि शरीररहित ज्ञानमात्रकी स्थिति प्राप्त हो याने मुक्ति प्राप्त हो। मुक्त जीव ही पूर्णतया पवित्र हैं, आनन्दमय हैं।

एवं सर्वजनानां दुःखकरं जठरशिखिनमतिविषमं।
संतोषजलैरमलैः शमयंति यतीश्वरा ये ते ॥३९६॥

(१३६) **अतिविषम जठराग्निका संतोषसलिलसे यतिजनों द्वारा शमन**—यह उदराग्नि समस्त मनुष्योंको दुःखी करने वाली है। अतीव विषम है। इस क्षुधाके कारण शरीर शिथिल हो जाता है। किसी भी कार्यके करनेमें उत्साह नहीं रहता है, इतनी तीव्र वेदनामें यह सब कुछ धर्म बुद्धि गँवा देता है। सो अतिशय कष्टको देने वाली यह जठराग्नि है, परन्तु इस जठराग्निको भी मुनि जन, ज्ञानी महापुरुष संतोषरूपी जलसे शान्त कर डालते हैं। मनुष्योंको क्षुधाकी वेदना होती है। मुनि भी मनुष्य हैं, शरीरका धर्म शरीरके साथ लगा है। उनके भी क्षुधाकी वेदना होती है किन्तु उनके पास ज्ञान और संतोषरूपी जल है जिससे वे क्षुधा अग्निको भी शान्त कर देते हैं। वे हाय हाय न कर आत्मचिन्तन द्वारा उस क्षुधावेदनाको सह लेते हैं। वास्तवमें ऐसे महापुरुष मुनि कहलाते हैं। तो मुनिजन जहाँ तक योग्य चर्यासे योग्य साधन मिलते हैं तो वे यथोचित आहार कर लेते हैं, पर आहारके लिए ऐसी कमर कसे हुए नहीं रहते कि जैसा भी मिले भक्ष्य अभक्ष्य, जब कभी भी मिले उसपर उनका राग जाय। ज्ञानबलमें ऐसा प्रभाव है कि कितने ही दिनोंका उपवास भी कर ले और उस उपवासके प्रतापसे कहो क्षुधावेदनाको सदाके लिए भी शान्त कर दें। तो तपश्चरण करनेसे जिन मुनियोंको केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर फिर क्षुधा वेदना नहीं रहती। जब तक मोहनीय कर्म सताता है तब ही तक क्षुधावेदनाका असर होता है। मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर वेदनीयकर्मका उदय यद्यपि सकलपरमात्माके भी चल रहा है परन्तु शरीर वेदनीय कर्मका उनपर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ पाता। तो मुनिजन ही ऐसे

http://sahjanandvarnishastra.org/

धीर पुरुष हैं जो इस जठराग्निको संतोषरूपी जलसे शान्त कर लेते हैं।

ज्वलितेपि जठरहुतभुजि कृतकारितमोदितैर्न वाहारैः।
कुर्वंति जठरपूर्णं मुनिवृषभा ये नमस्तेभ्यः ॥३६७॥

(१३७) मुनिश्रेष्ठोंकी उदात्त चर्या—मुनिजनोंके उद्दिष्ट आहारका त्याग रहता है। वे आहारके प्रति रंच भी आसक्त नहीं हैं इसी कारण न वे आहारका आरम्भ करते हैं, न कराते हैं और न करते हुएको समर्थन करते हैं। ये तीनों प्रकारके कृतकारित अनुमोदनाका आरम्भ मनसे वचनसे कायसे उन मुनीश्वरोंके दूर रहता है इसी कारण वे नवकोटि विशुद्ध कहलाते हैं। तो मुनिगणोंको कदाचित् नाना कष्ट देने वाली जठराग्निकी बाधा भी हो जाय तो भी वे मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदिता आहारसे उदरको नहीं भरते। ऐसे विरक्त मुनिजनोंको हमारा नमस्कार हो। वास्तवमें ये ही पुरुष नमस्कार किए जानेके योग्य हैं जिनकी धुन ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमें ही बनी रहती है और इसी कारण शारीरिक क्षुधा आदिक वेदनायें होनेपर भी उनके चित्तमें आहारके प्रति आसक्ति नहीं होती। जीवोंका उपयोग यदि अपने आपके स्वरूपमें लग जाय तो ये किसी भी प्रकारके संकट नहीं आ पाते। जहाँ अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरी पदार्थोंमें उपयुक्त होते हैं कि सारे संकट इसपर लद जाया करते हैं, ये मुनीश्वर इतने विरक्त हैं कि कितनी ही क्षुधाकी वेदना हो जाय तो भी वे न स्वतंत्र भोजन बनाते हैं, न बनवाते हैं और न बनाते हुएका समर्थन करते हैं। और वे ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञानका ही स्वाद स्वाद करके तृप्त रहा करते हैं।

तावत्कुरुते पापं जाठरवह्निर्न शाम्यते यावत्।
धृतिवारिणा शमित्वा तं यतयः पापतो विरताः ॥३६८॥

(१३८) मुनिवरोंका धैर्यजलसे जठराग्निका शमन करके पापविरमण—यह जीव तब तक पाप करता ही रहता है जब तक कि इसकी जठराग्नि शान्त नहीं हो जाती। सो जठराग्नि शान्त कर लेनेपर यह जीव फिर पापकी प्रवृत्तियोंको नहीं करता, लेकिन जठराग्नि शान्त हो कैसे? एक बार भोजन कर लिया इससे जठराग्नि शान्त नहीं हो जाती। थोड़ी देरको वह दब गई और भीतर अपना काम कर रही है, उस भोजनको मलरूप बनाकर पवन द्वारा खिरा देगी और वही अग्नि प्रज्वलित बनी रहेगी। उस जठराग्निको शांत करनेका उपाय केवल मुनीश्वर जानते हैं। ऐसी स्थिति तो इस आत्माको चाहिये ही कि जहाँ शरीर ही न रहे। केवल ज्ञानमात्र यह आत्मतत्त्व ही अपने स्वरूपमें रहा करे, और धर्म, अधर्म, आकाश आदिक अनेक पदार्थोंकी तरह शाश्वत पवित्र रहा करे। इस स्थितिके पाये बिना जीवका संकट नहीं मिट सकता। सो ऐसा स्वभाव है आत्मामें। आत्माके स्वरूपमें क्षुधाका क्या काम? यह तो अमूर्त ज्ञानमात्र है। उसमें क्षुधाकी बात ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कहाँसे आ सकती है ? पर जब यह अपने स्वरूपमें नहीं रह पाता। बाहरी पदार्थोंमें ही रमने लगता तो इस जीवकी कैसी दुर्दशा हो जाती इस शरीरके साथमें कि शरीरमें ही कोई ऐसी विलक्षण बात जगती है कि जिससे क्षुधावेदना बनती है और यह जीव तब व्याकुल हो जाता है। यदि अपने स्वरूपकी संभाल करें जहाँ क्षुधाका कोई प्रश्न ही नहीं है, केवल जाननहार आत्मस्वरूप है तो उस स्वरूपकी भावनाके प्रसादसे यह जीव नियमसे समस्त संकटोंके आधारभूत शरीरसे रहित हो जायगा। ऐसा प्रयत्न करने वाले मुनीश्वर धैर्य और ज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूपकी सेवा किया करते हैं। वे मुनि इस दुष्ट जठराग्निको धैर्यरूपी शीतल जलसे बुझाकर पापसे सर्वथा रहित हो जाते हैं। कुछ तो जीवके साथ शरीरका बंधन होनेसे शारीरिक वेदनायें चलती है और अधिकतर जब यह जीव अपना उपयोग शरीर या अन्य बाह्य तत्त्वोंमें लगाता है तब इस पर संकट प्रकट हो जाता है। सो ये बाह्य वस्तु विषयक कल्पनायें मिटाकर अपने सहज आत्मस्वरूपकी आराधना करें तो वहाँसे इसके आ॰ल्हाद ही प्रकट होगा वहाँ संकट इस पर नहीं रह सकता। तो ऐसे अलौकिक उपायसे मुनि-जन क्या किया करते हैं और वे धैर्य रखकर ज्ञानदृष्टिकी सलिल वर्षासे इस जठराग्निको शान्त कर दिया करते हैं, ऐसे मुनिवरोंको हमारा नमस्कार हो और उनकी भक्तिके प्रतापसे मेरेको भी वही धीरता जगेगी कि जठराग्नि आदिक समस्त दुःखोंको और दुःखोंके आधार भूत इस शरीरको दूर करके आनन्द निर्दोषामृतसे तृप्त रहें।

श्रीमदमितंगतिसौख्यं परमं परिहरति मानमपहंति।
विरमति वृषतस्तनुमानुदरदरीपूरणाशक्तः ॥३९९॥

(१३९) उदरगर्तभरणाशक्त जनोंके शान्तिकी असंभवता—जिन पुरुषोंकी उदररूपी गुफा संतोषरूपी जलसे नहीं भरी गई है और इसी कारण इस उदररूपी गुफाके भरनेमें ही रात दिन आकुलित रहते हैं वे अपरिमित लक्ष्मी वाले सुखको अपनेसे बाहर हटा लेते हैं। उन जीवोंको सुख कहाँसे हो ? उनको आनन्द कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता। जो इस पेट के गड्ढेको भरनेमें रात दिन व्याकुल रहते हैं, जिनके संतोष नहीं जिनके ज्ञानका प्रयोग नहीं वे पुरुष निरन्तर आकुलित रहते हैं। उनको आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता ? तो आनन्द से तो दूर रहता ही है, पर मानकी मर्यादाका भी विनाश कर डालता है। तृष्णामय होकर यह कर्तव्य न करना चाहिए। इससे पेट भरनेके लिए यह खोटीसे खोटी प्रवृत्तियाँ कर डालता है और खोटी चर्यामें रहकर यह मनुष्य धर्मसे हाथ धो बैठता है। धर्म तो आत्म-स्वभावकी दृष्टिका नाम है। जो क्षुधासे व्याकुल हैं, शरीरको ही अपना सर्वस्व समझते हैं उन्हें धर्मका फल कहाँसे प्राप्त हो सकता ? धर्म यद्यपि आत्माका स्वरूप है। स्वयं धर्ममूर्ति है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर जिनको पता नहीं है उनको धर्मका आनन्द कहाँसे प्राप्त हो सकता।

शुभसंतोषवारिपरिषेकबलेन यतिः सुदुःसहं
शमयति यः कृतांत समचेष्टितमुत्थितमौदरानलं।
व्रजति सरोगशोकमदमत्सरदुःखवियोगवर्जितं
विगलितमृत्युजननमपवि घ्नमनर्घमनंतमास्पदं ॥४००॥

(१४०) **मुनिराजों द्वारा सर्व दोष दूर करके अनन्त आनन्दके धामका लाभ**—प्राणियोंके जब शरीर लगा हुआ है तो उसके साथ क्षुधाकी वेदना भी लगी है। यह मनुष्य भी अन्य प्राणियोंकी भाँति क्षुधाकी वेदनासे घिरा हुआ है। सो जब इस मनुष्यको विवेक जगता है और यह विवेकी इस निर्णयपर पहुंचता है कि हमको तो मोक्षका ही पुरुषार्थ करना चाहिए जिसके प्रतापसे सदाके लिए मेरे संकट छूट जायें। तो वह सर्वपरिग्रहोंका त्यागकर सबसे ममताको छोड़कर ज्ञानमात्र सहज आत्मस्वरूपकी भक्तिमें रहता है और यही स्वरूप जिनके प्रकट हुआ है उन भगवंतोंके गुण स्मरणमें रहते हैं ऐसे पुरुष संतोषको प्राप्त होते हैं। सो वे मुनिराज यमराजके समान भयंकर दुःख देने वाले इस जाज्वलित उदराग्निके वेग को संतोषरूपी शीतल जलके प्रवाहसे बुझा देते हैं वे ऋषिराज इस क्षुधावेदनाको भली भाँति सह लेते हैं सो अपने कर्तव्यमें रहने वाले ये मुनिजन अन्तमें ऐसे साधनोंको पाते हैं कि जहाँ रोग शोक आदिक दुःखोंका नाम निशान तक भी नहीं है। शरीररहित ज्ञानमात्र ज्ञानानन्द धाम यह मैं चित्प्रतिभासस्वरूप हूं। स्वयं सहज अपने ही सत्त्वके कारण जिस रूपमें यह है उस रूपमें ही अपनेको अनुभवने वाले मुनीश्वरोंके अब विकल्पजाल नहीं रहता। ज्ञानप्रकाश को ही ज्ञानमें अनुभवते हुए सदा तृप्त रहा करते हैं। सो इस ज्ञानमात्र निर्दोष चैतन्य महाप्रभुकी उपासनासे यह जीव मोक्षको प्राप्त करता है। वहाँ अब शरीरका सम्बन्ध नहीं, कर्मका सम्पर्क नहीं, इसी कारण रोग शोक घमंड ईर्ष्या विकार आदिक दुःख या किसी प्रकारका दोष कैसे रह सकेगा? अब वहाँ जन्ममरणका सर्वथा अभाव हो गया, विकार अब रंच भी नहीं रहा है। किसी भी प्रकारसे विघ्न इसे नहीं सता सकता। तो जो मोक्षपद सर्वोत्कृष्ट अनन्त आनन्दका भण्डार है, जहाँके निवासियोंको अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्राप्त है। अत्यन्त पवित्र दशा है। विवेकियोंको, मुनीश्वरोंको प्रिय वह मोक्ष पद प्राप्त हो जाता है। इस कारण विवेकी जनोंका कर्तव्य है कि इन क्षणिक घटनावोंमें लगाव न रखें इनके मात्र ज्ञाता रहें और सर्व दोषोंसे रहित ज्ञानमात्र सहज अंतस्तत्त्वकी उपासना करें जिसके प्रसादसे मानसिक वाचनिक शारीरिक समस्त कष्ट दूर होंगे और केवल आत्मामात्र रहकर सदा पवित्र बने रहेंगे।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

१६वां परिच्छेद—जीवसंबोधन

सर्पत्स्वांतप्रसूतप्रततवतमस्तोममस्तं समस्तं
सावित्रीव प्रदीप्तिर्नयति वितनुते पुण्यमन्यद्धिनस्ति ।
सूते संमोदमैत्रीद्युतिसुगतिमतिश्रीश्रिता कांतिकीर्ति
किं किं वा नो विधत्ते जिनपतिपदयोर्मुक्तिकर्त्री च दृष्टिः ॥४०१॥

(१४१) **वर्तमान संग प्रसंगोंकी शरण्यताका अभाव**—मनुष्यकी ऐसी प्रकृति है कि वह किसीको अपना बड़ा समझकर उसकी छत्रछायामें उसके तत्त्वावधानमें रहना चाहता है। गृहस्थीमें भी जिसको जो रक्षक समझमें आता है उसकी छायामें रहना चाहता है। तो अब जरा यह खोजें व्यापक दृष्टिसे कि हम आपको किसकी छत्रछाया हमारा भला कर सकती है, हमें सुख शान्तिमें रख सकती है। खोज करें, कुटुम्ब मित्र आदिकका शरण गहना शान्तिका साधक तो क्या क्षोभ, आकुलता, क्लेश इनका ही साधक है। यह बात सबको अपने जीवनमें घटित हुई होगी। जिसका भी समागम मिलता है, जिसको बड़ा प्यारा समझा जाता है, स्त्री हो, पति हो, पुत्र हो, जो भी इसको बड़े रुचिकर होते हैं, संग मिला है तो समझियेगा कि जितना यह सुख मौज अब मान रहा है इससे कठिन दुःख नियमसे आयगा। यह बात एककी नहीं, सबकी है, चेत जायें, अपनेको समझ लें, यह उनकी बुद्धिमानी है, किन्तु जिनको जितना सुख मिला, मौज मिला संसारका, प्रिय बंधु मिले, जिनका प्यार मिल रहा, जिनके मोहमें यह मस्त हो रहा, अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझ रहा, वे सबके सब ये संग इस जीवके लिए कष्टकारी है। कष्ट तो जब संग है तब भी चल रहा, पर यह मोहमें अनुभव नहीं करता, रात दिनकी चर्या देख लो कि अगर पुत्र प्रिय है तो उसे देख-देखकर तनिक मौज मानते हैं पर उसके साथ व्यवहारमें कोई प्रतिकूल बात है, कोई मान नहीं रहा है, जैसा मैं चाहता हूं वैसी ही मेरी प्रवृत्ति नहीं हो रही ऐसे कितने ही कष्ट इसके साथ साथ लगे हुए हैं, पर यह मोहमें नहीं मानता लेकिन वियोग तो निश्चित है। चाहे खुद मर जाय तो वियोग हो गया या इसके सामने वह इष्ट मर जाय तो वियोग हो गया। तो जितना सुख संयोगमें पाया उससे अधिक दुःख वियोगमें मानेगा यह। यह तो निश्चित समझिये कि जितना संग समागम है वह सब इसके लिए कष्टका ही कारण है इसलिए यह रमने योग्य नहीं है और इसका शरण इस आत्माकी शान्तिका कारण नहीं। और आगे बढ़ें—इससे अच्छा तो गुरुजनोंका संग है कि जहाँ कोई धोखा नहीं, छल नहीं, इतना तो निश्चित है, और जितना मौलिक उपदेश हो वातावरणसे, दर्शनसे स्वयं भी कुछ अपने आपमें जागृति हो वह सब लाभदायक है। तो ये भी संग प्रसंग पूर्ण शुद्ध निर्दोष तो नहीं है। ये तो साधक जीव हैं, यहाँ भी इसको शाश्वत

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

संतोष न मिल पायगा। आपेक्षिक संतोषकी बात तो मिल जायगी।

(१४२) **परमात्माकी शरण्यता**—जब वर्तमान संग प्रसंग शरण्य नहीं तब फिर कौन सा जीव है ऐसा कि जिसकी शरण ग्रहण करना चाहिए ? वे हैं भगवान जिनेन्द्रदेव। जैसा आत्माका शुद्ध द्रव्यस्वरूप है उसके अनुरूप जिसका विकास हुआ है वह कहलाता है भगवान। जैसा स्वभाव है वैसा ही इनका परिणमन हो गया, उनसे और उत्कृष्ट क्या होगा ? आत्माका स्वभाव है ज्ञानदर्शन, जानन-देखनहार रहना। जिसमें क्षोभ नहीं, आकुलता नहीं, विकल्प कोई झंझट नहीं, उलझन नहीं, ऐसा स्वरूप है भगवानका। सो जब भगवानके स्वरूपका स्मरण करते हैं तो स्मरण करने वाला वह भी भगवान आत्मा है। नहीं आज प्रकट है, पर स्वरूप तो वही है। सो जब प्रभुका स्मरण होता है, जिनेन्द्रके गुणोंका ध्यान होता है तो अपने आपका भी स्मरण होता है और उस ही ध्यानमें अन्तर्ध्यान बने तो स्वरूपका स्पर्श होता है। तो जो वास्तविक शरण है, परमार्थ शरण है उसका साधन होनेसे प्रभु जिनेन्द्रदेवका शरण हमारे संकटोंका हरण करने वाला है। संकटहरण होनेकी पद्धति तो अपने स्वरूपका अनुभव है, पर स्वरूपानुभवका प्रसंग मिलता है जिनेन्द्रदेवके गुणस्मरणमें, इसलिए बाहरमें यदि कोई ग्रहण करने योग्य शरण है तो वह जिनेन्द्रदेव हैं निर्दोष परिपूर्ण विकासके लिए।

(१४३) **निर्दोष पूर्ण विकसित आत्मामें परमात्मत्व**—आत्माके सहज स्वरूपके विकासको देवका स्वरूप बताया गया है। और नाम न लें जिनेन्द्र, अरहंतका, किसीका नाम लेकर न बोलें और स्वरूप बोलें तो कोई भी दार्शनिक हो, किसी भी धर्म वाला हो सबको रुचेगा कि बात यही सही है, और नाममें पक्ष हो गया इसलिए नाम सुनते ही लोगोंकी दृष्टि और किस्मकी हो जाती। अब आप स्वरूप तो सुनावें कि मैं तो उसे मानता हूं अपना आदर्श, अपना शरण जिस आत्मामें दोष रंच न रहें और गुण परिपूर्ण विकसित हो गए। मेरा आराध्य तो वह है इसमें कौन मनाही करेगा जिसको कि कुछ भी विवेक है ? बस वही तो भगवान है, जिनेन्द्र है रागद्वेष जीतने वाला जिनोंके इन्द्र अधिपति, ईश, प्रभु, तो भगवद्जिनेन्द्रकी भक्ति जब परम्परया मुक्तिको प्रदान कर सकती है तब भक्तिके प्रसादसे कौनसा कार्य सिद्ध न होगा ? यह एक बहुत बड़ा पौरुष है कि आत्माके स्वरूपका बोध हो और अन्तस्तत्त्व की दृष्टि बने और प्रभुभक्तिमें मन लगे, यह चर्या जिस किसी पुरुषकी बन जाय वह पुरुष बड़ा भाग्यवान है, उसका भवितव्य बड़ा निर्मल है, क्योंकि जगतमें अन्य सब सङ्ग प्रसङ्ग कष्टकारक हैं, धोखा देने वाले हैं।

(१४४) **जिनेन्द्रभक्तिसे गहन मोहान्धकारका विनाश व सम्यक् ज्ञानज्योतिका प्रकाश**—जैसे सूर्यकी कांति तेज किरणें संसारके अन्धकारको नष्ट करके प्रकाश फैला देती हैं उसी प्रकार यह जिनेन्द्रभक्ति मनरूपी घरमें फैले हुए गहन अन्धकारको नष्ट कर डालती है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जब कभी कोई कहता है कि हमें तो प्रभुभक्तिमें मन नहीं लगता तो मन उनका कैसे लगे जिनका चित्त मोहमें फंसा हुआ है। मोहसे वासित हृदयमें प्रभुभक्ति समा सकती है क्या ? हाँ भक्ति तो जरूर हर एकके अन्दर है पर किसीको स्त्रीकी भक्ति है किसीको पुत्रकी भक्ति है। यहाँ तो भगवानकी भक्तिकी बात कह रहे, जिसके चित्तमें स्त्री बसी हैं, वह बड़े गुण वाली है, बड़ी आज्ञाकारिणी है, बड़ी सौभाग्यशालिनी है, मधुर वचन बोलने वाली है, यही यही जिसे रुच रहा है वह स्त्रीकी भक्ति कर रहा है। जिसको पुत्र रुच रहा वह पुत्रकी भक्ति करता, पर इस भक्तिमें मिलेगा क्या ? कष्ट। इन सबका अंतिम परिणाम है कष्ट। यदि इसका त्याग नहीं किया, मोह नहीं मिटा तो इसके संगका परिणाम है कष्ट। जब कष्ट आता है तब बात सब समझमें आती है। जब सुख रहता है तो यह बात कम समझमें आती है, पर दूसरोंका देख लो, युक्तिसे विचार लो, जितने जो भी इष्ट संग हैं वे सब कष्टके कारण होते हैं। एक निर्दोष परमात्माका प्रसंग संग भक्ति आराधना उसकी दृष्टि यह तो शान्तिका कारण है, शेष सबका संग कष्टका ही कारण है। तो प्रभुभक्तिने मनमें बसे हुए अंधकारको हटाकर एक ज्ञानज्योति प्रकट की।

(१४५) **जिनेन्द्रभक्तिसे पापका विनाश व पुण्यकी वृद्धि**—यह जिनेन्द्रभक्ति पुण्य की वृद्धि करके पापको नष्ट करती है। जिसको जिनेन्द्रके स्वरूपका ज्ञान नहीं, आत्माके स्वरूपका बोध नहीं वह वर्षों पूजा करता रहता, जिन भावोंसे कर पाता है करता है, पर जब उसका कष्ट नहीं मिटता बल्कि कष्टके और प्रसंग आते हैं तो उसका उस पूजा पाठसे, धार्मिक कार्योंसे चित्त हट जाता यह समझकर कि इसमें कुछ नहीं धरा। देखो वर्षों हम पूजा पाठ करते आये पर हमारा कष्ट नहीं मिटा। निर्धनता तो और भी अधिक बढ़ गई, कुटुम्बी जनों का तो वियोग पर वियोग हो रहा है। इस पूजा पाठमें कोई अतिशय तो नही दिखाई दे रहा, ऐसा समझकर वह विचलित हो जाता। सो विचलित तो वह पहलेसे ही था। न उसे प्रभुके स्वरूपका ज्ञान था, न आत्माके स्वरूपका ज्ञान था और न भक्ति ही हो रही थी। कभी ऐसा सम्भव तो है कि धर्मकार्य भी भली भाँति कोई कर रहा हो, ज्ञान भी सही हो प्रभुका व अपना और भक्ति भी कर रहे हों तिस पर भी पूर्वकृत कोई तीव्र पापका उदय है तो संकट तो उस पर आता है, किन्तु ऐसा व्यक्ति उस संकटकालमें धर्मको और भी अधिक दृढ़तासे धारण करता है। उसे छोड़ता नहीं है और जिसको ज्ञान नहीं वह ऊपरी तौरसे धर्मकार्य करता चला आ रहा था, संकट कोई आ गया तो वह उसे छोड़ देता है। ज्ञानीका यह निर्णय है कि कोई संकट अगर आये तो धर्मको और भी अधिक दृढ़तासे करना, क्योंकि हमारा शरण केवल धर्मपालन है। धर्मपालन कहते हैं आत्माका जैसा सहज स्वरूप है चेतना

मात्र, प्रतिभास मात्र उस रूपसे अपने आपको मानना और ऐसी प्रतीतिके साथ कर्तव्य निभाना यह धर्मपालन कहलाता है।

(१४६) **अन्तस्तत्त्वके परिचय बिना धर्मका अपालन**—कोई १ का अंक न लिखे और ० (शून्य) जीरो, बिन्दी, लगाये जाये तो कितने ही ० (शून्य) धरता चला जाय पर उनकी कोई कीमत नहीं है और १ (एक) का अंक लिखा हो, उसके आगे एक ० (शून्य) रखा जाय तो उसकी १० गुना कीमत बढ़ जाती है, दो शून्य रखे जाय तो १०० गुना कीमत बढ़ जाती है, तीन शून्य रखे जायें तो हजार गुना। तो यों ही समझो वह १ (एक) है आत्मस्वरूपकी समझ करना। यदि एक आत्मस्वरूपकी समझ बन गई तो मन, वचन कायकी सारी चेष्टायें पूजा पाठ स्वाध्याय आदिक इन सभी की कीमत बढ़ जाती है और एक यदि आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है तो उसकी वे सब क्रियायें कोई कार्यकारी नहीं होती। हाँ मंद कषायके अनुसार थोड़ा पुण्यबंध हो जाता, पर उससे लाभ क्या? थोड़े समयको सुख साधन मिल जाता, मगर आगेकी गाड़ी उससे नहीं चलती। तो भक्ति अगर आप निभा सकें इस प्रकार कि सच्चा ज्ञानप्रकाश हो और मोह ममता न रहे तो मोक्षमार्गमें प्रगति कर लेंगे। गृहस्थीमें रहकर राग तो रहेगा, कर्तव्य तो आप करेंगे मगर मोह रंच भी न रहना चाहिए कि यह ही मेरा सर्वस्व शरण है, यह ही मेरा सर्वस्व धन है। इस दुर्लभ मनुष्यपर्यायमें अगर न चेत सके और वही ढला चला चलता रहा जैसा कि करते आये तो समझो कि एक बड़ा भारी मौका खो रहे हैं और मरकर कीड़ा मकोड़ा पेड़ पौधा बन गए तो फिर क्या वश चलेगा? इससे कुछ थोड़ा अपनेको संभालिये। ज्ञानसे प्रीति करिये, ज्ञानके साधनों से प्रीति रखिये, ज्ञानियोंमें प्रमोद रखिये, ज्ञानके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व समर्पित करिये। इतना साहस अगर बना सकते हैं तो कल्याणका मार्ग मिलेगा और यदि मोह ममता तृष्णा इनमें ही लगे रहे तो चाहे कुछ भी क्रियायें करें पर उनसे कल्याण न होगा। एक आत्मपरिचय नहीं है तो सारी चेष्टायें ० (जीरो) जैसा मूल्य रखती हैं। आत्मस्वरूपका जिसको बोध है वह ही प्रभुके स्वरूपको पहिचान सकता है और आत्मस्वरूप का बोध नहीं है तो प्रभुका स्वरूप उनकी दृष्टिमें कुदेवके स्वरूपके समान है। क्योंकि कुदेव कहा है रागी द्वेषी सुख देने वाले, दुःख हरने वाले, यों कल्पना विषयभूतको व हमारे काम आने वालेको। बस ऐसा ही जिनेन्द्र प्रतिमाके आगे लोग करते हैं, ऐसी श्रद्धा रखते हैं कि तू मुझे सुख देगा, तू शादी करा देगा, तू लड़का पैदा करा देगा, तू मुकदमा जिता देगा। ऐसी ही प्रतीति लेकर तो तीर्थ क्षेत्रोंमें लोग घूमते हैं। वही बात यदि यहाँ पायी जा रही तो उन्होंने अपने मनमें जो कुदेवका रूप है वही प्रभुमें समझ लिया। अरे भैया! आत्मस्वरूप

http://www.jainkosh.org

कर यह ऐसा एकाग्र हो जाता कि उसे अनुभव प्राप्त होता है, अलौकिक आनन्द मिलता है। यह बात जिसने पायी वह प्रभुके स्वरूपको स्पष्ट जानता है। ऐसा आनन्द उनके निरन्तर है, निर्विकल्पता उनके निरन्तर है। तो ऐसे प्रभुकी जो भक्ति करता है उसका पुण्यरस बढ़ता है, पापरस नष्ट होता है।

(१४७) **आत्माके अविकार स्वरूपकी समझसे परमात्माके निर्विकारस्वरूपकी समझ और परमात्माके निर्विकार स्वरूपकी समझसे आत्माके अविकार स्वरूपकी समझ**—अपना स्वरूप है अविकार प्रभुका स्वरूप है निर्विकार। अविकारका अर्थ है विकार है ही नहीं। स्वरूपमें विकार है ही नहीं। स्वरूप तो केवल चैतन्यमात्र है। विकार होता है, प्रसंग बनता है, परिणमन चलता है, पर स्वरूप नहीं है विकार जैसे एक दृष्टान्त तो लो थोड़ा समझने के लिए। जलका स्वभाव कैसा है ? सभी लोग बता सकते ना ठंडा। और जब जल गरम हो गया, खौल रहा है तो बतावो उस समय जल ठंडा है कि गरम है, मगर गरमकी स्थितिमें भी जलका स्वभाव गरम नहीं, ऐसा जिसको बोध है वह जलको ठंडा करने के लिए तत्काल चूल्हेसे पानी हटा लेता है, पंखा डुलाता है और शीघ्र ही ठंडा जल प्राप्त कर लेता है। यदि वह वह जल स्वभावतः गरम होता तो वह कभी ठंडा हो ही नहीं सकता था। तो स्वभाव और परिणमन आप परख लीजिए। गरम जलका परिणमन गरम है, पर उस समयमें भी उसका स्वभाव ठंडा है। गरमके समयमें आपको जल ठंडा कहीं न मिलेगा और स्वभाव ठंडा है, यों ही विकारके समयमें आत्माका प्रदेश कोई भी निर्विकार न मिलेगा, सब प्रदेश बिकारसे रचे हुये हैं, तिसपर भी स्वभाव अविकार है और प्रभु निर्विकार हैं मायने विकारसे निर्गत हैं, हट गए हैं, मायने विकार था अब विकार न रहा, यह है प्रभुका स्वरूप। और आत्माका स्वरूप कैसा कि न विकार था, न विकार है, न विकार रहेगा, यह स्वरूपकी बात कही जा रही। परिणमन विरुद्ध होकर भी स्वरूप वही होता जो है। तभी उसे अचल कहा गया है। तो ऐसा जिसको आत्मस्वरूपका बोध नहीं वह जिनेन्द्रके स्वरूपको क्या जानें ? जिसको बोध है वह प्रभुके स्वरूपको जानता है। प्रभुका स्वरूप यह है, प्रभुके स्वभावका प्रकटपना है, मेरा प्रकटपना नहीं है। जैसे गरम जलका स्वभाव ठंडा है पर ठंडपनका प्रकटपना नहीं है, प्रकटपना तो गरमका है, प्रयोगमें जो आयगा वह गरम आयगा। गरम जलका जो ठंडा स्वभाव है वह प्रयोगमें न आयगा। कोई यह समझकर कि जलका स्वभाव तो ठंडा है, भले हो गर्म हो गया, और उसे यदि वह पी ले तो उसकी जीभ तो जलेगी। जले बिना रह नहीं सकती, तो अपने आपके आत्मस्वरूपमें यह स्वभाव, यह सहज शुद्ध सत्त्व, यह ही ध्येय होता है। आत्मानुभवमें यही बात आती है और उस चैतन्यस्वभावका ध्यान धर धर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर अनुभव हो, केवल चैतन्यमात्र अपने आपके सत्त्वके कारण चित्स्वरूप प्रतिभास मात्र केवल जाननका स्वरूप समझा हो तो समझेगा कि आत्मा स्वरूपमें राग नहीं, द्वेष नहीं। भले ही वर्तमानमें विकार परिणमन हैं यहाँ मगर स्वरूपमें नहीं। ऐसा अविकार स्वरूप अपना कोई समझ सके तो निर्विकार भगवानका स्वरूप भी समझ पायगा।

(१४८) **जिनेन्द्रभक्तिके प्रसादसे गुणप्रमोदकी वृद्धि**—यह जिनेन्द्रभक्ति इस भक्तके प्रमादको बढ़ाती है, बड़ा हर्ष होता है उपयोग यहाँ जाय तो। जिसके हृदयमें मोहविष व्याप रहा है उसको इन शब्दोंका कुछ ठीक अर्थ न लगेगा, केवल एक सुनना, बाँचना, चर्चा, बस शब्दसे यह वाच्य है, यह तो सब आ जायगा चित्तमे, पर वास्तविकता क्या है, यह बात चित्तमें न आयगी। जैसे जिसने जो मिठाई नहीं खायी उसके सामने कोई कितना ही उस मिठाईका वर्णन करे पर वह बात उसके अनुभवमें न उतरेगी। मानता तो रहेगा, बोलता तो रहेगा, और उस मिठाईको खिला दिया जाय तो झट उसका अनुभव उसे हो जायगा। बादमें कभी भी आप उस चीजका नाम लेंगे तो झट उसके हृदयमें वह बात उतर जायगी, ऐसे ही आत्माके सहज स्वरूपका अनुभव बन गया तो उसका नाम लेते ही स्वानुभव, आत्मचिन्तन, जिनेन्द्रस्वरूप, प्रभुस्वरूप कुछ भी बोलें, सब बात उसके चित्तमें उतरती जायगी। तो ऐसा प्रभुका स्वरूप जिसने पहिचाना है भक्तिके समयमें उसको प्रमोद जगता है, यह आन्तरिक प्रमोद है। यों तो कोई रविवारका दिन हो और भगवानकी पूजा कर रहा हो। तो "रविव्रतके दिन मांही, सुखसंपति बहु होय तुरत ही" आदि बड़ा गानतान करता है, बड़ी अच्छी मुद्रा बनाता है, पर इसलिए बनाता कि ऐसा करनेसे भगवान हमको सुख समृद्धि करेंगे। तो वहाँ वास्तविक स्वरूपके लक्ष्यसे प्रभुभक्ति करता है।

(१४९) **जिनेन्द्रभक्तिके प्रसादसे सर्वेष्टसिद्धि**—जिनेन्द्रभक्तिसे मैत्री जागृत होती है। सब जीवोंका एक स्वरूप समान विदित होनेसे सर्व जीवोंके प्रति मैत्रीभाव होता है। कान्ति, कीर्ति ये सब जिनेन्द्रभक्तिके प्रसादसे प्रकट होते हैं। सौभाग्य, लक्ष्मी, सुगति, धन-सम्पदा ये सब जिनेन्द्रभक्तिसे प्राप्त होते हैं। पर यों नहीं होते कि प्रभु देने आ जायें। प्रभुभक्तिसे जो पुण्यबंध हुआ, पुण्यरस बढ़ा, पापरस खिरा, उस निमित्त नैमित्तिक योगमें सुख सम्पदा भी मिलेगी। प्रभु मेरेको सुख सम्पदा दे रहे हैं यह श्रद्धा यदि है तो बात न बनेगी, सन्मार्ग न मिलेगा। यहाँ तो केवल आत्मस्वरूपकी अनुरूपताके नाते और परिपूर्णताके नाते प्रभुजिनेन्द्रकी भक्ति चल रही हो और कोई प्रयोजन न हो, कोई अपेक्षा न हो तो उसका पुण्यरस बढ़ता है और उसके प्रसादसे सुख दुःख समृद्धि प्राप्त होती है। तो ऐसी यह जिनेन्द्रभगवानके चरणोंमें की गई भक्ति जब परम्परया हमें मुक्ति प्रदान करती है तो संसारका कौनसा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अभीष्ट कार्य प्रभुभक्तिके प्रसादसे सिद्ध न होगा। यह जीवके लिए सम्बोधन चल रहा, उसमें समझिये भूमिका या मंगलरूप यह प्रथम छंद कहा गया।

शुश्रूषामाश्रयध्वं, बुधजनपदवीं याहि, कोपं विमुंच,
ज्ञानाभ्यासं कुरुष्व, त्यज विषयरिपुं, धर्ममित्रं भजात्मन्।
निस्त्रिंशत्वं जहीहि, व्यसनविमुखतामेहि, नीतिं विधेहि,
श्रेयश्चेदस्ति पूतं परमसुखमयं लब्धुमिच्छास्तदोषं ॥४०२॥

(१५०) **निर्दोष परम आनन्द पानेके लिये मायासे हटकर परमार्थपोषक कर्तव्यका आदेश**—हे आत्मन्, तू चाहता है सुख। सुखके लिए अनेक प्रयत्न करता है, अनेक पुद्गल का संग्रह करता है, अनेक लोगोंसे प्रेम द्वेष आदिक बनाता है। तू सुखके लिए कितना कठिन परिश्रम करता है और उसके फलमें सुख क्या मिलता है इस पर दृष्टिपात करें तो सुख तो क्या उल्टा दु:ख ही मिलता है, जितनी चेष्टायें करे, जितनी उलझन बढ़ावे उतना ही व्याकुलता बढ़ती है। कुछ सुख नहीं पा सकता। यदि तुझे सुखकी इच्छा है और वह भी नित्य-सुखकी इच्छा है, संसारका सुख तो क्षणभरको मिलता है, नष्ट हो जायगा पर ऐसे सुखकी नहीं जो आनन्द सदा काल बना रहे। ऐसे सुखकी यदि इच्छा है तो अब तू कुछ अनोखा कार्य कर। वह कार्य क्या है ? पहली बात सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरुका आश्रय लें। यदि निर्दोष परिपूर्ण गुण वाले शुद्ध आत्माका आश्रय हो तो बुद्धि शुद्ध होगी आत्माकी उन्नति होगी। यदि कुदेवका आश्रय लिया तो जो खुद रागी द्वेषी है, अल्पज्ञ है, संसारमें रुलने वाला है, केवल एक ढोंग बनाया है, अपने को भगवान मनवानेकी प्रसिद्धि कर रखी है तो ऐसे कुदेवका आश्रय लेनेसे न बुद्धि शुद्ध होगी न सन्मार्ग दिखेगा। उसे सुखका मार्ग न मिलेगा।

(१५१) **शाश्वत आनन्द पानेके लिये देव शास्त्र गुरुके आलम्बनका व ज्ञानीजनोंकी संगतिका आदेश**—हे आत्मन्! यदि तू नित्य सुख चाहता है तो सुदेवका आश्रय कर। सच्चे शास्त्र जैनशासनमें ज्ञान और वैराग्यकी बात भरी हुई है, उन शास्त्रोंका सहारा ले, अध्ययन कर, पठन पाठन कर जो विषयोंकी आशासे रहित हैं, निर्ग्रन्थ हैं। आरम्भ रहित हैं, परिग्रह रहित हैं ऐसे साधु जनोंकी भक्ति कर। उनकी सेवा सुश्रुषा कर, तेरी बुद्धि शुद्ध होगी और सन्मार्ग मिलेगा और यदि शाश्वत् आनन्द चाहता है तो कुटुम्ब आदिकका मोह त्यागकर देव, शास्त्र, गुरुकी सेवा कर। नित्य शान्ति चाहनेके लिए तू विद्वान पुरुषोंकी संगति कर। मूर्ख पुरुष चाहे हितू भी हो, उसका मित्र भी हो, भला भी चाहता हो, पर मूर्ख पुरुष की करतूत कभी न कभी इसके अनर्थके लिए होगी। चाहे वह द्वेषसे अनर्थ न करे मगर उसकी करतूत ही ऐसी बन जायगी कि इसका अनर्थ हो जायगा। एक इस नीतिमें कथा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रसिद्ध है कि एक राजाने अपनी रक्षाके लिए पहरेदार बन्दरको रखा था। बन्दर भी समझदार था ट्रेन्ड (कुशल) हो गया था। तो रात्रिके समय उस बन्दरको सिपाहीकी पोशाक पहिनाकर, तलवार देकर उसको पहरेदार नियुक्त कर रखा था और बन्दर भी अच्छी पहरेदारी करता था। एक दिन क्या हुआ कि राजा सो रहा था। कुछ गर्मीके दिन थे, मुख उघाड़े सो रहा था। फिर क्या हुआ कि एक मक्खी आकर राजाकी नाकपर बैठ गई। वह बन्दर उस मक्खीको उड़ाता था पर वह उड़-उड़कर बार-बार उसी जगह बैठ जाती थी। जब कई बार उस बंदरको मक्खी उड़ाते हो गया तो उसे बड़ा गुस्सा आया और सोचा कि मैं तलवारसे उस स्थानको ही याने नाकको ही उड़ा दूं तब फिर वह मक्खी कहाँ बैठेगी? यह सोचकर ज्यों ही नाक काटनेके लिए तलवार उठायी त्यों ही क्या हुआ कि वहीं पासमें कोई एक चोर छिपा था। वह चोर गरीबीके कारण राजाके यहाँ चोरी करने गया हुआ था। वह था तो एक विद्वान कवि, पर परिस्थितिवश उसे वैसा करना पड़ा था, तो वह चोर एक जगह छिपा हुआ उस घटनाको देख रहा था। ज्यों ही बन्दरने राजाकी नाक काटनेका प्रयास किया त्यों ही उस विद्वान कवि चोरसे न रहा गया और बन्दरके पास पहुंचकर उसकी तलवार छुड़ायी, उससे मुठभेड़ कर बैठा। इतनेमें राजा जग गया, और उस विद्वान कवि (चोर) के मुखसे सारा वृत्तान्त सुना तो उस चोरपर बड़ा प्रसन्न हुआ। राजाने उसे हृदयसे लगाया और उसे मनमाना पुरस्कार देकर विदा किया। तो यह घटना यह बात बतला रही है कि मूर्ख चाहे हितू भी हो, कुटुम्बी हो, मित्र हो तब भी उससे अनर्थकी शंका रहती है, और एक विद्वान चाहे वह आज विपरीत हो, चोरी करने ही तो आया था, विपरीत ही तो था मगर विद्वान होनेसे उसकी रक्षा हो गई। तो विद्वज्जनोंकी संगति बड़ी लाभदायक है। कोई जीव किसीका दुश्मन नहीं हुआ करता, वे घटनायें उस प्रकारकी कल्पना बनवा देती हैं। जो विद्वान होगा वह दूसरेका बुरा नहीं कर सकता। तो वास्तविक शान्ति चाहते हो तो विद्वानोंकी संगति करो। उससे कुछ धर्मका आश्रय मिलेगा, ज्ञान बढ़ेगा, सन्मार्ग प्राप्त होगा।

(१५२) शाश्वत आनन्दके लाभके लिये क्रोधपरिहार व ज्ञानाभ्यासका आदेश—इस प्रकरणमें जीवको सम्बोधा जा रहा है कि हे आत्मन्! यदि तू अपना शाश्वत सुख चाहता है तो तू क्रोधको छोड़। क्रोध जीवके सारे गुणोंको भस्म कर देता है, उसकी बुद्धि व्यवस्थित नहीं रहती। धर्मसे विमुख हो जाता है। तो यदि सन्मार्ग चाहिए, शान्ति चाहिए तो तू क्रोधका परित्याग कर। क्रोधमें ही द्वीपायन मुनिने अपना सम्यक्त्व बिगाड़ा। द्वारिका नगरी भस्मकी। खुद भस्म हो गया, नरक भी गया, क्रोध हमेशा इस जीवको संकट लाता है, पर जीवोंके कषायभाव लगा है, प्रतिकूल कुछ बात दिखती है तो क्रोध कर बैठते। बुद्धि-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मान पुरुष वह है कि कैसी ही प्रतिकूल घटनायें आयें उनमें क्रोध न करें और अपने ज्ञानको, अपनी बुद्धिको सही व्यवस्थित रखें। तो यदि शाश्वत आनन्द चाहिये है तो हे आत्मन्! तू क्रोधको छोड़। शाश्वत शान्तिके लिए, मुक्तिके लाभके लिए तू ज्ञानका अभ्यास कर, ज्ञान-स्वरूप आत्माका ज्ञान कर। और उस ज्ञानमें ही अपने ज्ञानको रमा। इसे कहते हैं ज्ञानका अभ्यास। इसके लिए पहले शास्त्रोंका पठन करना, अध्ययन करना, मनन करना, यह आवश्यक होता है और यह इसलिए किया जाता कि ज्ञानस्वरूप अपने आत्माका मनन बना रहे। ज्ञानानुभव ज्ञानके अभ्याससे ही बनेगा और ज्ञानानुभव हुए बिना जीवको मोक्षमार्ग नहीं मिल सकता। जिसे कहते हैं आत्माका ज्ञान हुआ, उसके मायने है ज्ञानका ज्ञान होना, अनुभव होना, ज्ञान है सो आत्मा। कहीं ज्ञान और आत्मा जुदी चीज नहीं है कि आत्मामें ज्ञान भरा हो। अरे ज्ञानस्वरूपको ही आत्मा कहते हैं। आत्मा अलग वस्तु हो और उसमें ज्ञान भरा गया हो ऐसा नहीं, किन्तु ज्ञानमय ही आत्मतत्त्व है। यदि ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान बना रहे तो ज्ञानानुभव बनता है। तो हे आत्मन्! यदि तू निर्बाध शाश्वत आनन्द चाहता है तो तू ज्ञानका अभ्यास कर।

(१५३) शाश्वत शान्तिके अर्थ विषयवैरीके त्यागका आदेश—शाश्वत शान्तिलाभके लिए विषय शत्रुवोंका त्याग कर। जीवका बैरी है विषय। उपयोग विषयोंमें लग जाय, इन्द्रियके विषयोंकी भीतर वाञ्छा जग जाय तो यह विषय इच्छा, विषयभोग ये इस जीवके बैरी हैं। इसके ज्ञान दर्शन गुणका घात करते हैं। पुण्यरस मिटता है, पापरस बढ़ता है और तत्काल भी और आगामी कालमें भी इस जीवको कष्ट भोगना पड़ता है। ये विषयभाव इन्द्रियोंने जैसा चाहा उसी प्रकारकी प्रवृत्ति कर डालना यह विषयोंकी चाह इस जीवका बैरी है। बैरी कोई दूसरा नहीं है। कोई भी जीव इसका बैरी नहीं, विरोधी नहीं, इसको विषय प्रिय लग रहे हैं मोहमें, तो विषयको जिसके कारण बाधा समझता है उसको यह बैरी समझ लेता है, पर बैरी तो ये विषय हैं। और विषय बैरीमें जिनसे बाधा आयी उनको यह बैरी समझने लगता, कैसी उल्टी बात है। बैरीका जो बैरी हो उसे तो मित्र मान लेना चाहिए। आपका कोई दुश्मन है और उस दुश्मनका कोई दुश्मन है तो आपको उससे मित्रता हो जायगी, प्रेम हो जायगा। तो विषय बैरी हैं और विषय बैरीके बैरी बन रहे हैं कोई जीव, तो वह तो मित्र मान लिया जाना चाहिए। वह बैरी कैसे? बैरी तो हमारा विषयभाव है। सो विषय बैरीकी प्रीतिको छोड़ो तो शाश्वत शान्तिका लाभ मिलेगा। जब भी किसी विषयकी इच्छा होती है तो यह जीव बेचैन हो उठता है, और उस बेचैनीसे परेशान होकर यह विषयसाधनों का संग्रह करता है और विषय साधनोंका संग्रह करनेपर यह बेचैनीसे उन विषयोंको भोगता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है और विषयोंको भोगनेके पश्चात् यह फिर बेचैन हो जाता है। विषयोंके प्रसंगमें प्रारम्भसे अन्त तक कष्ट ही कष्ट बसा हुआ है। तो हे आत्मन्! यदि तू शाश्वत शान्ति चाहता है तो इस विषय बैरीका त्याग कर।

(१५४) **आत्मीय ज्ञानानन्दके लाभके लिये धर्ममित्रकी सेवाका आदेश**—आत्मलाभके लिए तू धर्मरूपी मित्रकी सेवा कर। हम आपका वास्तविक मित्र है तो धर्म ही मित्र है, क्योंकि अन्य सब दगा देने वाले हैं। मान लो कोई जीवनमें दगा न दे, बड़ा प्यार रखे तो मरण तो हो ही जायगा। वही एक बड़ा दगा मिल गया। वियोग होनेका कठिन दुःख मानेगा, यह कितना कष्टकी बात है। तो जगतमें कोई भी पदार्थ मेरा मित्र नहीं है, सुखकारी नहीं है। किसी भी पदार्थका नाम लेकर निर्णय बना लीजिए, मेरा मित्र है तो केवल धर्म ही है। और धर्म क्या? आत्माका चैतन्यस्वरूप और अपने आपमें केवल चैतन्यका अनुभव प्रतिभास मात्र कोई तरंग नहीं, विकार नहीं, केवल जानन देखन, ऐसी वृत्ति हो तो यह कहलाता है धर्मपालन। हमारा मित्र धर्म ही है, दूसरा कोई हमारा मित्र नहीं हो सकता। सो हे आत्मन् यदि तू मुक्तिका लाभ चाहता है, सदाके लिए आनन्द चाहता है तो तू धर्म रूपी मित्रकी सेवा कर। बड़े-बड़े पुरुषोंने, तीर्थंकरोंने, चक्रवर्तियोंने, राजा महाराजावोंने सारे जीवन भर क्या क्या नहीं देखा था। राजपाट विषय भोग यश कीर्ति, आदिक दुनियामें जो बड़ी-बड़ी बातें मानी जाती हैं वे सब उनको उपलब्ध थीं, लेकिन उनको उन्होंने त्याग दिया। क्यों त्याग दिया कि उसमें उन्हें सुख नहीं मिला, आनन्द नहीं मिला और उन सबको त्यागकर एक आत्माका ही आश्रय लिया। धर्मका ही आश्रय लिया, तो धर्म ही एक वास्तविक मित्र है। हे आत्मन्! यदि तू शाश्वत् शान्ति चाहता है तो धर्मरूपी मित्रकी सेवा कर। धर्मकी शरणमें जा। जब चत्तारिदण्डकका पाठ करते हैं तो तीसरे दण्डकमें बोलते ना चत्तारिसरणं पव्वज्जामि, मैं चारकी शरणको प्राप्त होता हूं। वे चार क्या हैं जिनकी शरण यह भव्य जीव चाह रहा? अरहंते सरणं पव्वज्जामि मैं अरहंत भगवानकी शरणको प्राप्त होता हूं, क्योंकि वे शुद्ध आत्मा दोषरहित हैं, गुण पूर्ण हैं और यही आनन्दकी अवस्था है, यही मुझे चाहिए। यह ही आदर्श है। तो यह भव्य जीव अरहंतकी शरणको चाह रहा है। 'सिद्धे सरणं पव्वज्जामि—मैं सिद्धकी शरणको चाहता हूं। सिद्ध भगवान दो कर्मोंसे रहित हो गए, शरीररहित हो गए। केवल ज्ञानपुञ्ज आत्मा ही आत्मा रहा। याने अरहंत हुए बाद और पूर्णतया पवित्रताकी स्थिति मिली। पवित्र तो अन्तरंगमें अरहंत थे, मगर बाह्य लेप भी अब न रहा, ऐसे सिद्ध भगवानकी शरणको प्राप्त होता हूं। तो यह तो अरहंत और सिद्धभगवान हैं, देव हैं, वे सदा कहाँ मिलेंगे? जिनसे हमारा काम रोज पड़ सकता है वे हैं साधु,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गुरु, आचार्य, उपाध्याय, साधु । मैं साधुकी शरणको प्राप्त होता हूं । साहू सरणं पव्वज्जामि, क्योंकि रोज उपदेश उनसे मिलेगा, रोज धर्मका साधन कहांसे प्राप्त होगा ? तो साधुवोंकी शरण चाहिए । ये तीन शरण चाहकर भी अभी यह संतुष्ट नहीं हुआ, क्योंकि परमार्थसे तो उनका शरण मिल भी नहीं सकता । यह तो अपने आपमें भाव बना रहा है । वे परद्रव्य हैं, भले ही साधु हैं, सिद्ध होनेके प्रयत्नमें है, लेकिन परका आश्रय परमार्थ आश्रय नहीं कहलाता । तब चौथा शरण क्या चाहा उसने ? 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि' केवलि भगवानके द्वारा कहे गए धर्मकी शरणको मैं प्राप्त होता हूं । केवलि भगवानने बताया कि वस्तुका स्वरूप, आत्माका स्वभाव अंतस्तत्त्व उसकी शरणको मैं प्राप्त होता हूं । तो किसकी शरण गही अन्तमें ? धर्मकी शरण गही । धर्म ही वास्तविक मित्र है । धर्मकी शरणसे ही यह जीव संसार संकटोंसे पार हो जाता है ।

(१५५) **शाश्वत आनन्दके लाभके लिये निर्दयताके परिहारका आदेश**—हे भव्य जीव यदि तू शाश्वत आनन्द चाहता है तो तू निर्दयताका त्याग कर, राक्षसपनेका त्याग कर । स्वार्थमें अंधा मत बन । स्वार्थान्ध होकर दूसरेको मत सता । दूसरेको पीड़ा देनेका परित्याग कर । कोई पुरुष धनी होकर किसी भी कार्यमें, गरीबोंपर भी कुछ खर्च न कर सके बल्कि गरीबोंपर ब्याजपर ब्याज चढ़ाकर उनसे धन वसूल करना चाहे और उन गरीबोंके पास कुछ है नहीं, उन्हें सरकारी कार्यवाहियोंसे सताये, कैसी ही पीड़ा करे तो उसके हृदयको तो देखो, वहाँ निर्दयता कितनी है, और कितने ही बड़े धनी पुरुष देखे जाते हैं कि ऐसी घटनायें आनेपर तो स्वयं कह देते हैं कि भाई तुम अपना जैसे भी हो गुजारा करो, हम सब छोड़ देते हैं । जहाँ जैसी बात दिखती है और ऐसे दयालु पुरुष कहीं दुःखी नहीं होते, उनके और साधन जुटते हैं, पुण्यरस बढ़ता है । तो ऐसे ही एक घटना नहीं, अनेक घटनावोंमें बात सोचिये—हर एकका दिल बता देगा कि मैं दयाभाव पर हूं या क्रूरताके परिणामपर हूं, क्योंकि आप सब जानकार हैं, भगवत्स्वरूप हैं । अपनी बातको कौन नहीं परख सकता । तो जहाँ क्रूरता है वहाँपर शान्तिका लाभ नहीं मिल सकता । अतः हे आत्मन् ! तू क्रूरताका परित्याग कर और दया धर्मको अंगीकार कर । कभी कभी तो ऐसी क्रूरता करने वाले लोग अपने प्राण भी गंवा देते हैं । अनेक दुश्मन बन जाते हैं । तो दूसरोंको दुश्मन बना लेना यह विवेकका काम नहीं । आज थोड़ा नुक्सान होता है, पर उसकी तृष्णाके व्यामोहमें दूसरोंको बहुत पीड़ा दे तो उसका फल बहुत कटुक भोगना पड़ता है । दयाशील रहना, कोई दीन दुःखी दिख जाय तो इसके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करना, जो दयालु है, ज्ञानी पुरुष है उसकी उदारता रोज रहती है । कोई पुरुष सारे जीवनभर तो कृपण रहे, तृष्णा करे, न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

धर्ममें कुछ त्याग कर सके, न अपने खाने-पीनेमें विशेष त्याग कर सके, न दूसरेकी सेवा सुश्रुषामें त्याग कर सके, सारे जीवनभर तो कृपणता रखे और अन्तमें कहे कि हमारा गजरथ चलवा दो, अमुक बना दो, हमारा मंदिर बनवा दो, हमारा अमुक काम करवा दो, इस प्रकार कोई करे तो जरा उसके जीवनकी परीक्षा तो करो, यदि वह रोज उदारता रखता, रोज धर्मकी प्रतीति करता, रोज दयाभाव पालता तो उसका लाभ था। अब जान रहा है यह कि छूट तो रहा ही है मुझसे। अब तो ऐसा ही कर देना ठीक है, तो अंतर तो ताड़िये—धर्मकी प्रवृत्ति ऐसी नहीं होती कि जीवनभर तो क्रूरता रखे और अन्तमें एक गले पड़ेका बड़ा धर्म कर जाय। धर्म यों नहीं होता। धर्म तो भावके अनुसार है, इसलिए यह प्रवृत्ति होनी चाहिए कि हम रोजकी चर्यामें दयालु रहें, धर्मकी प्रीति रखें। तृष्णाका त्याग रखें, यह कार्य यदि हमारा रोज रोज चले थोड़ा थोड़ा तो वह तो लाभ देगा और कोई सोचे कि हम तो मरते समय धर्म करेंगे, जिन्दगीमें नहीं, तो उससे धर्म नहीं बनता। तो जो दयाहीन है, अन्याय करता है, अत्याचारपर उतारू है उसे वास्तविक शान्तिका लाभ कहाँ मिल सकता ?

(१५६) सत्य शान्तिके लाभके अर्थ व्यसनोंसे विमुख होने व नीतिसे चलनेका आदेश—हे भव्यात्मन् ! यदि तू शाश्वत शान्ति चाहता है तो क्रूर परिणामको तज और मुक्तिलाभके लिए तू व्यसनसे विमुख हो जा। व्यसन कहते हैं बुरी आदतको। जुवा, मांस, मदिरा, चोरी, शिकार, परस्त्री, वेश्या इनका सेवन ये सब व्यसन कहलाते हैं। जिसकी जिन्दगी इन व्यसनोंमें लगी है उसको न उस समय शान्ति है और न आगे शान्ति मिलेगी। केवल एक व्यसनपर दृष्टि डालें तो वही एक बड़ा कठिन दिखता है। जुवेंका जिसके व्यसन लगा है वह भी सदा शल्यवान रहता है, उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता। अपने सारे वैभव को अन्तमें वह स्वाहा ही कर देता है। अपने धर्मकी तिलाञ्जलि दे देता है, कोईसा भी एक व्यसन देख लो सबमें अवगुण भरा है, मांस खाने वाला क्रूर होता, उसे दूसरेपर रंच भी दया नहीं। मदिरापानमें बेहोशी, धर्मकी विमुखता, खोटा व्यवहार, चोरी, शिकार, परस्त्री, वेश्या आदि इन सबका प्रसंग इस जीवके लिए दुःखदायी है। एक-एक व्यसन जीवको कष्टकारी है, तो जिनके सातों ही व्यसन लगे हैं उनके कष्टका क्या ठिकाना ? जिनको एक व्यसन लग जाय तो साथ ही अन्य व्यसन भी लग जाते हैं। तो हे आत्मन् ! यदि शान्ति चाहिए है तो व्यसनसे विमुख बनो और नीतिका सेवन करो। जो वास्तविक नीति है धर्मनीति उसपर चलें, ज्ञानलाभ लें, आत्ममनन करें, दूसरोंका आदर करें, न्यायसे धन कमायें, पापसे विरक्त रहें, धर्मकी नीतिपर चलें तो परम सुखकी, संतोषकी प्राप्ति हो सकती है और सदाके लिए आत्माका कल्याण होगा। सो अगर शाश्वत शान्ति चाहिए तो इस छंदमें जो उपदेश किया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गया है उस उपदेशका आश्रय लें।

तारुण्योद्रेकरम्यां दृढकठिन कुचां पद्मपत्रायताक्षीं
स्थूलोपस्थां परस्त्रीं किमिति शशिमुखीं वीक्ष्य खेदं प्रयासि।
त्यक्त्वा सर्वान्यकृत्यं कुरु सुकृतमहो कांतमूर्त्यंगनानां
वाँछा चेत्ते हतात्मन्न हि सुकृतमृते वाँछितावाप्तिरस्ति ॥४०३॥

(१५७) **सांसारिक सुखका बीज पुण्यकर्मविधान**—इसमें जीवसंबोधन प्रकरण चल रहा है। इस जीवको समझा रहे हैं कि हे मनुष्य यदि तुझे इस संसारमें भोगोपभोगके उत्तम साधन चाहिए तो उन साधनोंकी ओर हम मन खराब मत करें किन्तु धर्ममें अपना मन लगावें तो पुण्यका बंध होगा। पुण्यके उदयमें ये सामग्री मिलीं। एक उदाहरण दिया है, जैसे कोई परस्त्रीका रूप निरखता है, उसकी सुन्दरता देखकर इच्छा करता है तो ऐसा भाव करनेसे सिद्धि न होगी, किन्तु तू यदि अपने धर्म कार्यमें सावधान हो तो आगे ऐसे कुटुम्ब, स्त्री, सम्पत्ति आदिक खूब प्राप्त कर लेगा, पर उन्हींका निगाह रखना यह तो तेरे अनर्थके लिए ही है। लोग प्रायः इन्द्रिय भोग उपभोगके साधनोंकी वाञ्छा किया करते हैं, जिनमें प्रधानतया लोग स्त्रीजनोंके रूपको निरखकर उनकी ओर अपना चित्त जगाते हैं। उन जीवों को सम्बोधा गया है कि ऐसी खोटी करनीसे तू कुछ लाभ न पावेगा बल्कि कष्ट ही पावेगा। यदि तुझे ऐसे सुन्दर समागमों की ही इच्छा है तो अपने धर्म कर्तव्योंमें सावधान हो, रीति नीतिके अनुसार चल, जिससे पुण्य बंध होगा, पाप खिरेंगे और जो तू चाह रहा है उस वांछित वस्तुकी प्राप्ति होगी। कहीं पापका भाव करनेसे इष्ट वस्तु नहीं मिलती किन्तु धर्मका भाव रखनेसे परिणामोंमें विशुद्धि बनती है। स्वयं ही सहज सांसारिक सुख साधनोंकी प्राप्ति होती है, तो यह तो एक सुखसाधन प्राप्त करनेका उपाय बताया, पर विवेक इसमें हैं, चतुराई इसमें है कि तुम संसारके भोग साधनोंकी भी चाह मत करो, क्योंकि संसारके सुख किसको मिले हैं, किसको मिलते रहेंगे, कौन सदा सुखी रहेगा? केवल एक व्यक्तिपर निगाह डालकर उसकी चर्या निरख लो। जो पहले पुराण पुरुष हुए हैं उनको देख लो, आगे वर्तमानमें भी जो लोग बड़े कहलाये उनको देख लो आज जिनको सुख मिला है कुछ समय बाद उनको दुःख अवश्य होगा। जिनको आज दुःख है उन्होंने पहले कितना सुखकी कल्पनायें करके अपनेको मौजमें रखा था। तो ये संसारके सुख सुख नहीं हैं, ये दुःख हैं। धोखा है और उल्टे क्लेश बढ़ाने वाले हैं, इस कारण सांसारिक सुख साधनोंकी इच्छा मत करो। उनके संग्रहके लिए तृष्णामें अपना जीवन मत गुजारो, किन्तु आत्माको पहिचानो। आत्मा का आत्मा ही साथी है, दूसरा कोई साथी हो ही नहीं सकता। जो लोग किसी दूसरे जीव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को साथी मान रहे हैं, उनको शरण, मददगार समझ रहे हैं वे अंधेरेमें हैं। कोई भी जीव किसी दूसरेका प्रेमी हो ही नहीं सकता। हर एक कोई अपने स्वार्थका, अपनी कषायका प्रेमी हुआ करता है। सो पहले तो यह ही एक अज्ञान है जो यह समझ लिया जाय कि अमुक भाई मुझसे बड़ा प्रेम रखते हैं। मुझसे कोई प्रेम नहीं करता। जो प्रेम रख रहा, प्रेमकी बात कर रहा उसके ऐसी ही कषाय जगी है, ऐसा ही उसके मनमें भाव हुआ है सो अपनी ही भाव वेदनाको शान्त करनेके लिए उस प्रकारकी प्रवृत्ति करता है। वास्तविकता तो यह है फिर भी यदि संसारके इन सुखोंकी चाह है तो सुख कहीं चाहनेसे नहीं मिला करता किन्तु धर्म कर्म पुण्यके प्रसादसे ये सुख साधन मिला करते हैं।

लक्ष्मीं प्राप्याप्यनर्घ्यामखिलपरजनप्रीतिपुष्टिप्रदात्रीं
कांतां कांतांगयष्टिं विकसितवदनां चिंतयस्यार्तचित्तः।
तस्याः पुत्रं पवित्रं प्रथितपृथुगुणं तस्य भार्यां च तस्याः
पुत्रं तस्यापि कांतामिति विहितमतिः खिद्यसे जीव मूढः ॥४०४॥

(१५८) संसारी प्राणियोंका उत्तरोत्तर तृष्णासे खेदखिन्नपना—हे मोही प्राणी तू व्यर्थ ही तृष्णा करके खेदको प्राप्त हो रहा। तू चाहता है कि संसारमें मैं सबसे बड़ा धनी कहलाऊँ, इसके लिए तू धनके लिए तरसता फिरता है। अन्याय करके, पड़ोसियोंको सताकर, कुटुम्बको सताकर, अत्याचार करके जिस किसी भी प्रकार तू धन समेटना चाहता है। अपने आपको बड़ा धनी बनाना चाहता है, उसकी ओर रात-दिन कल्पनायें, चिन्तायें, मायाचार, नाना वृत्तियाँ बनाकर दुःखी हो रहा है। धनका विशेष अर्जन या तो एकदम पुण्योदय से इकट्ठा किया हुआ ही किसीको मिल जाय, ऐसा होता है या फिर अन्याय करके, अत्याचार करके विशेष धनी बन पाता है। जैसे समुद्र स्वच्छ नदियोंसे नहीं भरा करता, गन्दी नदियों से समुद्र भरा जाता है, ऐसे ही न्यायकी कमाईसे एकदम धनका संग्रह नहीं बनता। कैसी ही अटपट प्रवृत्तियाँ करके संग्रह बनता। तो हे तृष्णा करने वाले पुरुष पहले तो तू इसके लिए वर्तमानमें ही पाप कर रहा, तृष्णा कर रहा, सो पुण्यका उदय हो तो इकट्ठा धन बने और कदाचित् धन एकत्रित हो गया तो इतनेपर भी संतोष नहीं करता, किन्तु स्त्री अच्छी भली चाहिए, इस ओर तृष्णा बढ़ाये रहता है। स्त्री भी प्राप्त हो गई तो उसके आगेकी चाह करता है कि सन्तान हों, पुत्र हों। इस प्रकारकी तृष्णा बनाता है। ऐसा भी वाञ्छित बन जाय तो वह बड़ा हो गया, पुत्रका विवाह हुआ, उसके बाद पोता हुआ, इस तरह तृष्णामें आगे बढ़ता ही जाता है। तृष्णाकी हद नहीं होती। भले ही आज किसीको ऐसा लग रहा हो कि मेरेको तो बस इतना धन हो जाय फिर कुछ नहीं करना, कमाई छोड़ दूंगा, खूब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धर्मसाधना करूँगा, पर उतना धन हो जानेपर वह वे सब बातें भूल जाता है और आगेकी तृष्णा करने लगता है। तृष्णा तृष्णामें ही यह अपना सारा जीवन गँवा देता है और अन्तमें मरण कर जाता है। मरनेपर क्या साथ ले जाता? जैसा परिणाम किया है शुभ अथवा अशुभ, उससे जो पुण्य अथवा पापका बन्ध किया बस वह साथ जाता है, बाकी यहाँका धेला भी साथ नहीं जाता। तो इस जीवको सम्बोधा जा रहा कि तू क्यों व्यर्थ तृष्णामें अपना जीवन खो रहा है? अपने आपको सावधानकर, सन्तुष्ट रख और आत्मदृष्टि करके इसमें ही तू मग्न हो। तो यह जीव अपने आप ही सदा कल्पनायें करके दुःखका उपार्जन कर खेदखिन्न हुआ करता है। सो तृष्णामें उत्तरोत्तर चाह करके अपनी बुद्धि भ्रष्ट करता है और जीवनमें अपना कुछ भी हित नहीं कर पाता।

जन्मक्षेत्रेऽपवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरंध्रे
देहे व्याध्यादिसिंधुप्रपतनजलधौ पापपानीयकुंभे।
कुर्वाणो बंधुबुद्धि विविधमलभृते यासि रे जीवः नाशं
संचिंत्यैवं शरीरे कुरु हतममतो धर्मकर्माणि नित्यं॥४०५॥

(१५६) **असार देहमें आत्मीयताकी मान्यतामें संकटोंका आक्रमण**—यहाँ उन जीवोंको सम्बोधा जा रहा जिनको हित और अहितका विवेक नहीं है कि हे दुर्बुद्धि जीव तू अपने इस शरीरमें क्यों इतनी ममता करता है। देखिये—प्रत्येक मनुष्यको प्रायः अपने शरीरमें ममता हो रही है और शरीरको माना कि यह ही मैं सब कुछ हूं और शरीरके नातेसे ही सारा जगत व्यवहार कर रहा। जितने भी कष्ट हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे हो रहे हैं। रोग इस शरीरमें ही तो हुआ करते हैं। रोग न हो, चंगा हो तो भी इस शरीरमें आत्मबुद्धि करके नाना तरहकी मनकी उड़ान दौड़ाया करता है। मेरा जगतमें यश हो। मेरा मायने यह शरीर, जिसका फोटो उतरवाते हैं, जिसका नाम रखते हैं उसका यश हो, कीर्ति हो। अरे यह शरीर क्षणभंगुर है। यह शरीर अपवित्रताका घर है। पौद्गलिक है, अत्यन्त भिन्न है, इस पर दृष्टि रखकर तू यशकी चाह करके सारे जीवन दुःख पा रहा है। खूब सोच लें, जितने भी कष्ट हो रहे हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे हो रहे हैं। यदि मुझ जीवके साथ शरीर न हो, केवल मैं आत्मा ही आत्मा होऊँ तो इसको फिर क्या कष्ट है? जिसके शरीर नहीं रहता, किसी भी परपदार्थका लेप सम्पर्क नहीं है, केवल ज्ञानज्योतिमात्र यह जीव है उसका नाम क्या है? सिद्ध भगवान। जिनको हम पूजते हैं, जिनको हम आदर्श मानते हैं वे प्रभु शरीररहित हैं, ऐसी ही स्थिति हमारी बने तो हम शान्त रहेंगे, अन्यथा संसारमें कष्ट ही कष्ट मिलेगा।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(१६०) **दुःखके बीजभूत शरीरकी प्रीतिसे संसारसंकटोंकी परिपाटी**—जो जीव संसारमें रहकर सुखकी आशा रखते हैं, मेरेको सुख हो, मौज हो, यह उनकी मूर्खता है। संसारमें सुख रह ही नहीं सकता। सारा संसार दुःखमय है, जिसको सुख मान रखा है वह कल्पना है, ख्याल है। जैसे कोई स्वप्नमें कुछ अच्छी बात देखे, खूब धन मिल गया, अच्छे महल हैं, स्त्री पुत्रादिक आज्ञा मान रहे हैं या राज्य मिल गया, किसीने ऐसा स्वप्नमें देखा तो वह स्वप्नमें मौज मानता, पर बताओ नींद खुलनेपर यह मौज रहता है क्या ? नहीं रहता। वह तो ख्याल था, कल्पना थी, वह सब नष्ट हो गया, ऐसे ही यह जीव मोहमें कुछ सुख समझता है, पर कोई वह सुख है क्या ? और जिसे सुख मान रहा है, जो अपनेको सुखी समझ रहा है वह नियमसे दुःख पायगा। संसारका ऐसा ही नियम है। तो सारे दुःखोंका कारण है शरीरका सम्बन्ध। सो हे दुर्बुद्धि प्राणी तू अपने ही अहित करने वाले शत्रुस्वरूप इस शरीरके पीछे लगकर तू अपने कर्तव्यसे क्यों च्युत होता है ?

(१६१) **अत्यन्त अशुचि पदार्थका निर्णय**—इस शरीरका स्वरूप तो विचार, यह महान अपवित्र है। इस शरीरके समान दुनियामें और कोई गन्दी चीज है क्या ? जिनको लोग गन्दा कहते जैसे नाली, कीचड़ और दुर्गन्धित वस्तुवें, तो उनमें है क्या ? वह जीवका मुर्दा शरीर पड़ा है, उसमें कीड़े बिजबिजा रहे हैं, मांस सड़ गल रहा, तो आखिर यह अपवित्र शरीर ही तो गन्दा रहा। तो जरा और भीतर चलकर सोचें तो यह शरीर गन्दा हुआ क्यों ? जब तक इस शरीर पर जीव न आया था तब तक तो यह गंदा न था, जब जीव आया, शरीर बना तो यह गंदा कहलाया। सो यह जीवके आने पर ही तो शरीर गंदा रहा सो कौन सा जीव आया करता है शरीर पानेके लिए। जो रागी है। द्वेषी है, मोही है। तो रागद्वेष मोहके कारण इस जीवके आनेपर शरीर गंदा रहा, तो मूलमें गंदा क्या रहा ? रागद्वेष मोह। यह विकारभाव और जिससे बढ़ बढ़कर यह शरीर गंदा हुआ, जिस शरीरमें ममता कर रहा है और संसारमें जन्ममरणकी परिपाटी बना रहा है, तो यह शरीर इस जीवसे शत्रुताका व्यवहार कर रहा, उसका दुश्मन बन रहा, शरीर न हो तो यहां कोई कष्ट नहीं। जिसके कारणसे मुझे कष्ट हो रहा उस ही शरीरमें यह मूढ़ प्रीति कर रहा। जो समझदार है। विवेकी है वह इस शरीरमें मोह नहीं रखता, इस शरीरको तपश्चरणमें लगाता है। पहले तो यह ही देखें कि यह शरीर अपवित्र साधनोंसे पैदा हुआ अपवित्र चीजों से बना, अपवित्र चीजोंको हीउगलता है, मलको ही बहाता है। प्रारम्भसे लेकर अन्त तक अपवित्र ही अपवित्र मलोंका टोकना है। तो ऐसे अपवित्र मलोंके धाम इस शरीरसे तू क्यों प्रीति करता।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

(१६२) **अशुचि अस्थिर दोषसर्पबिल रोगधाम पापघट देहमें प्रीति करनेकी मूढता**— यह शरीर गंदा है और बिजलीके समान अस्थिर है, यदि कोई १००-५० वर्ष जिन्दा रह जाता तो इतनेसे समयकी इस अनन्तकालके सामने कुछ गिनती भी है क्या ? अनादि अनन्त कालके सामने उससे भी कम है जितनी देरको बिजली चमकती है। तो यह जीवन, यह शरीर बिजलीके समान क्षणिक है, विनाशीक है और क्षणिक विनाशीक है, इतना ही नहीं। यह शरीर तो नाना दोषरूपी सर्पोंके रहनेके बिलकी तरह है। जैसे बिलमें साँप भरे रहते हैं ऐसे ही इस शरीरमें नाना दोष भरे रहते हैं। तो ऐसा दोषमय गन्दा शरीर तेरे साथ लगा है और तू इस शरीरमें इतनी ममता रख रहा है, इस अपराधका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा। खुद ही को जन्म मरण करके जीवनमें नाना कष्ट उठाते रहने पड़ेंगे। हे मोही प्राणी यह शरीर क्या है ? नाना रोगोंका घर है। अनेक रोगरूपी नदियोंसे मिलकर यह समुद्र बन गया है। सर्वत्र रोग। रोगकी एक जाति है क्या ? जितने शरीरमें रोम हैं उतने प्रकारके शरीरमें रोग होते हैं, उन सब रोगोंका यह शरीर साधन है। यह शरीर पापरूपी पानीका भरा हुआ घड़ा है। पापका घड़ा ऐसा लोग बोलते ही हैं। जब जब शरीरपर दृष्टि होती है तब तब पापके ही भाव होते हैं, धर्म तो आत्माके सहारे होता है, शरीरकी दृष्टिमें धर्म नहीं होता। तो यह शरीर पापरूपी पानीका भरा हुआ घड़ा है। यह शरीर विचित्र मलोंका भंडार है। कितने मल भरे पड़े हैं इस शरीरमें। हड्डी, मज्जा, मांस, खून, चमड़ी, रोम, थूक, मल, मूत्र, कफ, लार, नाक, आँखका कीचड़, कानका कनेऊ, पसीना आदिक ये ही तो सब इस शरीरमें भरे पड़े हैं। सो इन मलोंके घररूपी शरीरसे ही तू प्रीति करता है। इस शरीरको ही मानता है कि यह मैं आत्मा हूं। अरे तू आत्मा इस शरीरसे निराला अमूर्त ज्ञानज्योति स्वरूप है। ऐसे अपवित्र, असार, भिन्न पौद्गलिक देहमें ममता करना, प्रीति करना यह महान मूर्खता है। तब चाहिए क्या ? इस शरीरसे मोह हटाकर धर्ममार्गमें प्रीति करना। यहाँ दो चीजें हैं—शरीर और जीव। शरीर तो यह स्थूल पौद्गलिक दिख रहा है लोगोंको, शरीर यह है और आत्मा अमूर्त ज्ञानस्वरूप जिसमें प्रतिभासका ही काम है वही इसका स्वरूप है, वह ज्ञानमूर्ति है। जब शरीरपर निगाह जाय, दृष्टि जाय तब तो संसार की परिपाटी बढ़ेगी, जन्ममरणका कष्ट बढ़ेगा, और अपने आत्मापर दृष्टि जाय तो धर्ममार्ग मिलेगा, मुक्तिका मार्ग मिलेगा, संसारके संकट टलेंगे। इस कारण शरीरसे मोह हटायें और धर्ममें प्रीति लगायें। शरीरसे आपका मोह हटेगा तो स्वयं ही यह ज्ञान जग जायगा कि कुटुम्ब पुत्रादिक ये मेरे कुछ नहीं हैं तिसपर भी जब शरीरमें सामर्थ्य नहीं है त्यागनेका, तो घरमें रहना ही पड़ेगा और तब आप प्रेमका, रागका बर्ताव करेंगे।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(१६३) **सकल संकटोंके परिहारका बीज आत्मज्ञान**—भैया ! मोह न रहे, अज्ञान न रहे, धर्मसे विचलित न हों। एतदर्थ अपना और परपदार्थका सही बोध करिये और अपने आपको उपादेय मानिये। यह ही आत्मतत्त्व मेरा स्वरूप है, इसकी ही दृष्टि मेरे लिए शरण है। यह ही आत्मा जब दोषसे रहित हो जाता है तो यह ही भगवान कहलाने लगता है। शुद्ध होनेपर यह आत्मा सदाके लिए आनन्दमय होता है। तब संसारके सुखके लिए नहीं तरसना है। सांसारिक सुखोंको कष्ट मानना, अपवित्र मानना, कीचड़ समझना, हेय समझना, जो सांसारिक सुखोंका आदर रखते हैं उन्हें कष्ट भोगना ही पड़ता है। तो जिन्हें कष्ट न चाहिये वे सांसारिक सुखोंसे प्रीति न करें, और सांसारिक सुखोंका आधार जिस शरीरको बना रखा है उससे प्रीति न करें। एक दृष्टिमें आत्मा ही हो, ज्ञानस्वरूप ही उपयोगमें समाया हुआ हो तो यह कहलायगा धर्मपालन। सो भाई शरीरसे मोह ममता हटाकर धार्मिक कार्य करिये, शरीरको बन्धु न समझिये, धर्मको बन्धु समझिये। मेरा रक्षक शरीर नहीं है, मेरा रक्षक धर्म है। धर्म हो तो उसके प्रसादसे सर्वत्र आनन्द ही रहेगा, और अगर धर्म नहीं है, पुण्य भी नहीं है, पापरस भी उमड़ रहा है तो कहाँ जाकर छिपेगा, सब जगह कष्ट पायगा। सो इन सब कष्टोंका आधार यह शरीर है। इस शरीरके शृङ्गारमें, इस शरीरके बार-बार निरखनेमें, शरीरको देखकर अहङ्कार करनेमें, इन सब कार्योंमें पाप है, मिथ्यात्व है। उस शरीरका लगाव छोड़ें, उसका ममत्व त्यागें और धर्मके स्वभावसे प्रीति करें। मैं ज्ञान ज्ञानरूप ही रहूं, मुझे शरीर न चाहिए। मैं शरीरसे निराला केवल जाननहार रहा करूं, बस यह ही सत्य धर्म है और इस ही में आत्माका भला है।

यद्वच्चित्तं करोषि स्मरशरनिहतः कामिनीसंगसौख्ये
तद्वत्त्वं चेज्जिनेंद्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्याः।
किं किं सौख्यं न यासि प्रगतभवजरामृत्युदुःखप्रपंचं
संचिंत्यैवं विधित्स्व स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्वं ॥४०६॥

(१६४) **मोक्षमार्गमें मनको तन्मय करनेसे निकटकालमें जन्मजरामरणरहित आनन्दधामका लाभ**—यह संसारी जीव पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी धुनमें बना रहता है। सो सभी जीवोंकी बात देख लो और उनमें इस मनुष्यकी कहानी और विकट है। यह मनुष्य इन्द्रियविषयोंमें पशु पक्षियों आदिककी अपेक्षा भी और अधिक बढ़ा चढ़ा है। इस मनुष्यके मन है, भाषा है, बोली है, साहित्यिक कलायें हैं, तो अपनी इन पायी हुई कलावोंका प्रयोग इन विषयभोगोंमें ही खर्च कर रहा है। सो इस जीवको आचार्य महाराज सम्बोधते हैं कि हे जीव जिस प्रकार तू कामकी व्यथासे व्यथित होकर कामनीके संगजन्य सुखमें मनको लगा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रहा है, अन्य काम-काज छोड़कर उन्हीं विषयोंके साधनोंमें तन्मय हो रहा है उस प्रकारकी तन्मयतासे यदि धार्मिक भक्तिसे प्रेरित हुये उस मनको जिनेन्द्रभक्तिमें लगाये, जिनेन्द्रदेवके द्वारा बताये गए तत्त्वमें मनको लगाये तो निश्चयसे समझिये कि जन्म जरा मृत्युसे रहित होकर तू निकट कालमें मोक्षको पायगा। भैया! सब कुछ धुनकी लीला है। जीव सिवाय धुन और भावके और कर ही क्या सकता है? यह ज्ञानमात्र है। केवल ज्ञानकी परिणति ही बनायेगा, भाव बनायेगा, इसके अतिरिक्त और करेगा क्या? किसी पुद्गलसे कोई सम्बन्ध नहीं कि किसी पदार्थको किसी तरह वह परिणमा दे। यह तो केवल भाव बनाता है और भाव वनाकर उसकी धुन बनाये रहता है। सो यह जीव अपने संस्कारोंके कारण विषयभोग के साधनोंमें अपनी धुन बनाये हुए है। कैसी तन्मयतासे यह विषयसाधनोंमें लगता है, उस ढंगसे तन्मयता यदि धर्मके कार्योंमें लग जाय तो जीवका उद्धार हो जाय, मगर मोहकी ऐसी लीला है कि इसको मोहके काम तो सरल लग रहे हैं और आत्मीय काम उसे कठिन लग रहे। कितनी उल्टी बात है। जो पराधीन है, जिसपर हमारा अधिकार नहीं, पुण्ययोगसे प्राप्त हुआ है इसकी बात तो इसको लगती है बडी सरल कि मैं कर सकता हूं, मैं धन खूब कमा सकता हूं, मैं इतनोंका पालन-पोषण कर सकता हूं, मैं बड़ा रोजिगार कर सकता हूं। यों बाहरी कामोंके करनेमें इसको लग रही आसानी और जंच रहा कि मेरे वशका काम है जब कि ये बाहरी संग प्रसंग इस आत्माके वशके नहीं हैं याने वर्तमान भावके अनुसार संसार के समागम मिल जायें यह इसके आधीन नहीं है। यद्यपि जिस पुण्यके उदयसे ही सब कुछ मिल रहा है वह पुण्य जब बँधा था तो आत्माके परिणामका ही निमित्त पाकर हुआ था। कहा जाता कि अपना ही कमाया हुआ भोग रहे हैं। सो इस तरह तो अपनी ही करतूतका फल भोगा, पर वर्तमानमें हम भाव कुछ करते हैं बीतती हमपर कुछ है। तो वर्तमान भाव हमारे वर्तमान सुख दुःखकी घटना नहीं बना पाते, यह पूर्वकृत दैवके उदयानुसार होता है।

(१६४) **अनधिकार चेष्टा त्यागकर स्वाधीन आत्मरमणके पौरुषका कर्तव्य**—हम यदि पूर्णतया स्वतंत्र हैं, समर्थ हैं तो मोक्षमार्गके काममें हैं, सो आज यह योग्यता पायी है हम आपने कि इस मनको मोहसे हटाकर मोक्षमार्गमें ले जाना चाहें तो ले जा सकते हैं। सो इस जीवको समझाया कि जिस लगनसे तू विषयसाधनोंमें लग रहा है ऐसी लगनसे धार्मिक भक्तिसे प्रेरित होकर जिनेन्द्र द्वारा बताये गए मोक्षमार्गमें लगे और इस मोक्षमार्गको ही ध्येय समझे तो निश्चयसे समझ कि जन्म जरा मरण दुःखसे रहित होकर तू अनन्त आनन्दके स्वरूपको प्राप्त करेगा। सो अब बाहरी समस्त झगड़ोंको छोड़कर परम पवित्र मार्गमें अपने चित्तको स्थिर कर। देखिये—जैसी आप सबकी आज गृहस्थावस्था है और कितनी उलझनें

http://sahjanandvarnishastra.org/

इसके अन्दर हैं, रोजिगार करना, और कितनी तरहसे उसके लिए परिश्रम करना, विचार करना ये बातें करना होता है और उस गृहस्थदशामें आजीविका न हो तो भी बात न बनेगी। लेकिन यह तो कला हो सकती है कि साधारण आजीविकाके लिए पौरुष करके जो कुछ प्राप्त हो जायगा उसके अन्दर संतोषपूर्वक हम गुजारा बना सकेंगे। फिर चिन्ता किस बात की। मनुष्यको चिन्ता होती है तृष्णाके कारण। गुजारेके लिए चिन्ता नहीं होती क्योंकि गुजारेकी कोई कानून या लिमिट नहीं बनती है, वह तो अपने आपकी परिस्थिति और भाव के अनुसार है कोई लोग हजार रुपया माहवार कमा कर भी समझते कि हमारा गुजारा नहीं चलता और कोई ऐसे लोग भी हैं कि जो १००-५० रुपये माहवार कमाकर भी गुजारा कर लेते। सो जो लौकिक बातें हैं उन्हें तू मुख्य मत बना। जैसा बीतेगा, गुजरेगा, गुजर ले और उसीमें हम अपनी नीति न्यायअनुकूल करेंगे, पर इस दुर्लभ जीवनको पाकर मुख्य काम तो यह है कि संसारसे छूटनेका उपाय बना लिया जाय। जब तक यह शरीर साथ लगा है तब तक चैन नहीं है। खूब भली प्रकार सोच लो। प्रत्येक कथनमें, प्रत्येक स्थितियोंमें इस जीव के साथ शरीरका लगना ही एक अभिशाप है। इससे ही जीवमें कष्ट पड़े हुए हैं। तो यह निर्णय बनाइये कि मुझे आखिर शरीररहित केवल आत्मा ही आत्मा रहना है। यदि यह निर्णय बन गया तो देखिये—अभीसे फर्क आ जायगा। तकलीफ होगी तो कम महसूस होगी, उपेक्षा कर डालेंगे, मान अपमान, निन्दा प्रशंसा आदिक सभी बातोंमें क्षोभ न आयगा, क्योंकि जान रहे कि मुझे तो शरीरसे ही निराला बनना है, और शरीरसे रहित हुए बिना शाश्वत शान्ति न मिल पायगी। एक भवमें आप कुछसे कुछ साधन बना लें, पर उससे पूरा पड़ जायगा क्या? मरण होगा और जैसा बन्ध किया, जैसा संस्कार बना उसके अनुसार अगले भवमें सुख दुःखके समागम मिलेंगे। मुझे शरीररहित होना है।

(१६५) **यथार्थ स्वपरभेदविज्ञान कर एकत्वनिश्चयगत अन्तस्तत्त्वमें रुचि करनेका कर्तव्य**—भैया, शरीरको देखकर क्या खुश होना? यह तो मेरे लिए अभिशाप है, कलंक है, उपाधि है, पर जब बन्धन बना है शरीरका तो ढंगसे निपटेंगे। इस शरीरका एकदम विरोध करके इसकी परवाह बिल्कुल न करना चाहें तो हम न निपट पायेंगे। शरीरकी नौकरी लीजिए जितनी जैसी स्थिति है, पर ध्यान रखना है इस बातका कि जीवनमें मेरेको आत्म-स्वरूपकी साधना करना है। दूसरा कोई कार्य मेरे करनेके योग्य नहीं है। सो हे हितैषी आत्मन्! धुन बने अपने आत्मकल्याणकी, मोक्षमार्गकी। मोक्षमार्गमें अपने चित्तको रमा और परिवार मिला है उसे भी ऐसी ही सीख दें, ताकि तेरा कोई बाधक न बने। वहाँ भी धुन ऐसी ही बने कि इस जीवनमें जीकर आत्मकल्याणका लाभ लेना है। मोह हटे, परमात्माके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गुणोंका स्मरण रहे, मेरे सहज स्वरूपकी दृष्टि रहे बस यही चाहिये जीवनमें अन्य सुख साधन प्रसंग न चाहिये । मिलेगा वही जैसा उदय है, पर ऐसा चाहें मत याने अपना सर्वोच्च मत मानो कि इन बाह्य साधनोंके मिलने पर ही मेरा महत्व है, मेरा जीवन है, मेरा पोजीशन है । पोजीशन रखें चारित्रकी, शुद्ध आचरणकी प्रभुके ज्ञानमें हमारी आपकी सही पोजीशन झलकेगी वह तो लाभदायक है और जगतके मोही अज्ञानी प्राणियोंकी निगाहमें जिस किसी भी प्रकारकी अपनी पोजीशन बतानेका प्रयास करूँ वह बिल्कुल बेकार है । धुन की बात है । जिसको आत्मप्रकाश मिला है उसकी धुन आत्महितके अनुरूप बनेगी, जिसको आत्मस्वरूपकी सुध नहीं है उसकी धुन विसम्वादके लिए होती है । सो हे आत्मन् ! बाह्यविषयक विसम्वादको त्याग, पवित्र जैन शासनमें अपने चित्तको स्थिर कर ।

सद्यः पातालमेति प्रविशति जलधिं गाहते देवगर्भं ।
भुंक्ते भोगान्नराणाममर युवतिभिः संगमं याचते च ।
वांछत्यैश्वर्यमयं रिपुसमितिहतेः कीर्तिकांतां ततश्च
धृत्वा त्वं जीव चित्तं स्थिरमतिचपलं स्वस्य कृत्यं कुरुष्व ॥४०७॥

(१६६) **चंचलचित्त प्राणीका बदल बदलकर पातालमें चित्त, समुद्रमें प्रवेश**—अपने आपमें अपनी बात निरखते हुए सोचिये, यह चित्त चंचल रहता है । भले ही कुछ पुरुष गम्भीर हैं । बड़ी धीरतासे उसपर विचार करना है । पर जहाँ बाह्य वस्तु विषयक विचार है वहाँ एक जगह चित्त स्थिर रह ही नहीं सकता । कुछ लोगोंके चित्तकी चंचलताका वेग और किस्मका है कुछका और किस्मका, मगर बाह्यपदार्थका आश्रय वाला चित्त चञ्चल ही रहेगा । वह स्थिर नहीं बन पाता । हे जीव ! तेरा चित्त बड़ा ही चञ्चल है । कुछ क्षणको भी यह एक रूपमें स्थिर नहीं रह पाता । कभी तो यह चित्त पातालकी बातें सोचता, वहाँ चित्त ले जाता । सुन रखा, समझ रखा जहाँ इसको इष्ट जंचता है वहाँ यह अपना चित्त ले जाता है । तो कभी यह चित्त समुद्रमें घुसता है । चित्त एक जगह स्थिर कहाँ रहता ? कभी कुछ ध्यान आता कभी कुछ । कभी कभी तो लोग ऐसा प्रश्न कर डालते हैं कि जब कभी माला लेकर बैठते हैं या जाप सामायिकका संकल्प करके बैठते हैं तब यह चित्त और अधिक घूमता है सो बात क्या है ? जाप और सामायिककी स्थिति एक निरालम्बकी स्थिति है याने किसी एक ओर आलम्बन लिया नहीं और स्वका आलम्बन मिला नहीं तो ऐसी स्थितिमें यह चित्त चलता है तो कोई ऐसा सोचे कि जाप सामायिकको तो अपने किसी एक धंधापानी में लग जाय तो वह चित्त अधिक चंचल नहीं होता, मगर यह सोचना ठीक नहीं है । भले ही जाप सामायिकमें चित्त यहाँ वहाँ जा रहा है तो कमसे कम आपको वह क्षण बतला तो

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहा है कि हमारा इस इस जगह राग बसा है। इतनी त्रुटियाँ हैं, पर किसी एक इन्द्रिय विषयमें चित्तको लगाया तो भले ही थोड़ी देरको वहीं चित्त लग रहा मगर कितनी त्रुटि है, कितना भीतर संस्कार बसा है कि कुछ मालूम नहीं पड़ता। अब यदि चित्त चंचल जंच रहा तो उसको रोकनेका यत्न करें। चित्तकी चंचलताको दूर करनेका भली भाँति वाला उपाय यह है कि आत्माके शाश्वत सहज स्वरूपका मनन करने लगें, क्योंकि मेरे लिए यह मेरा सहज स्वरूप ध्रुव है, कभी धोखा देने वाला नहीं है चूँकि पर पदार्थ जिसका हम ख्याल करते हैं वह स्वयं विनाशीक है, उसके आधीन नहीं है। बाहरी पदार्थ हैं। उनका आश्रय किया हुआ चित्त स्थिर नहीं रह सकता। सो अपने चित्तको स्थिर रखना चाहते हैं तो एक निज स्वरूपमें अपने चित्तको लगा।

(१६७) **चंचलचित्त प्राणीका कभी स्वर्गमें चित्तभ्रमण कभी भोगमें प्रवर्तन**—अहो मनुष्यका कितना चञ्चल चित्त है। कभी पातालमें गया कभी समुद्रमें गया कभी स्वर्गका रास्ता नापता, स्वर्गमें देव हुआ। उन देवोंको बड़ा सुख है, हजार वर्षमें भूख लगती है, कंठसे अमृत झड़ता है, शरीरमें रोग नहीं होता, वैक्रियक शरीर है। हाड़ माँस मज्जा वहाँ नहीं है, चित्त वहाँ जाता है, वहाँ भी चित्त चञ्चल ही रहता है। जैसे यहाँ गरीबोंको धनिक लोग बड़े सुखी नजर आते हैं, पर धनिक लोग खुद जानते हैं अपने चित्तको कि क्या सुख है? हार्ट फेल वाली बात गरीब और मजदूरोंके अधिक नहीं हुआ करती। हार्ट फेल वालोंकी संख्या अधिकतर मिलेगी समृद्धशाली पुरुषोंकी। चाहे वे धनसे समृद्ध हों या राज काज संभालनेके ओहदेसे समृद्ध हों, तो जैसे यहाँ गरीबोंको धनिक लोग बड़े सुखी नजर आते हैं पर सुख वहाँ रंच नहीं, ऐसे ही मनुष्योंको ये देव सुखी नजर आते मगर देवोंको भी सुख नहीं। चित्त उनके भी है। कषायें उनके भी लगी हैं, उनका भी चित्त स्थिर नहीं रहता। बल्कि उनका तो और भी अधिक अस्थिर चित्त है, क्योंकि उनको ताकत अधिक मिली है। कहीं से भी कहीं क्षण क्षणमें दौड़ सकते हैं। कहीं भी सैर कर सकते हैं। तो दुःख तो भावोंसे चलेगा। शारीरिक सुख है तो क्या करें? जहाँ कल्पनायें जग रहीं वहाँ तो कष्ट ही कष्ट है। तो यह जीव कभी स्वर्गका रास्ता नापता, स्वर्गोंके स्वप्न देखता है तो कभी यह मनुष्योंके भोग भोगता है। चित्तकी अस्थिरता बतला रही है कि इस चित्तको सही ठीक ठिकाना नहीं मिला, अतएव यह जगह जगह डोलता रहता है, कहीं टिक नहीं पाता। ठीक ठिकाना है स्वयंका सहजस्वरूप। जब मैं स्वय सत् हूं तो अपने आप अपने सहज स्वरूप मैं हूं। आज उपाधिके सम्पर्कसे विकृत स्थिति बन गई है, लेकिन स्वरूप तो मेरे में नित्य अन्तः प्रकाशमान अचल है। तो जो मेरा स्वरूप है, स्वभाव है, चेतनामात्र वहाँ ही तू अपने चित्तको ले

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जा, मनन कर। जैसे जैसे अभ्यास बढ़ेगा, अपने स्वरूपको निरखेगा वैसे ही वैसे स्थिरता बढ़ेगी।

(१६८) **चंचलचित्त प्राणीके भोगसाधनोंकी तृष्णासे विकट क्षोभ—**अपना कारण समयसार, यह अपना सहज आत्मप्रभु जब तक नहीं मिला जब तक इसका अनुभव नहीं बना तब तक यह चित्त बाह्य विषयोंमें डोलता रहता है और चूँकि विषयोंमें चित्त रमानेसे कष्ट ही होता है सो यह निर्लज्ज होकर विषयोंके साधनोंके कष्ट भोगता रहता है और उन्हीं साधनोंमें ललचाता रहता है। किस विषयके साधनमें बतलावो शान्ति मिलती है ? सुख मौज मानना और बात है, शान्ति मिलना और बात है, जहाँ चित्त चंचल है, जहाँ क्षोभ मचा हुआ है, क्षोभके ही कारण विषयोंको भोगता है, क्षोभ पूर्वक ही भोग रहा है, भोगनेके बाद भी इसमें मलिनपना आता है। संसारके सुख साधन इसके लिए शान्तिके कारण कैसे हो सकते ? मगर यह चंचल चित्त स्वर्गोंका रास्ता नापता है, मनुष्योंके भोग भोगता है, यह कभी देवांगनावोंका संग चाहता है। सुन रखा कि देवगतिके जीव, देवांगनाओंका स्वरूप सो यह चंचल चित्त कभी कभी वहाँ भी दौड़ता है, यह धन पानेकी तृष्णा इच्छाको बढाता ही रहता है। मनुष्य हुए किसलिए जैसे लोग कहते हैं ना—आये थे हरि भजनको ओटन लगे कपास। यद्यपि कपास ओटना भी एक काम है मगर ऐसा विमूचन वाला काम है कि दिन भर तो कपास ओटा मगर कोई किलो आधा किलो ही रूई ही निकाल पाये, याने परिश्रम तो बड़ा किया पर काम थोड़ा सा हुआ। तो ऐसे ही समझो कि आये तो थे हम प्रभुके भजनको, आत्माकी उपासनाके लिए आये थे मगर लग गए पञ्चेन्द्रियके विषयोंके भोगमें। अपनी बीती हुई जिन्दगीसे ही अनुभव कर लीजिए, शिक्षा ले लीजिये कि इस बीती हुई जिन्दगी तक हमने क्या क्या नहीं भोगा ? मगर कुछ धरा है क्या पासमें कि वह सुख जुड़ गया हो और उन सुखोंको निरखकर आज भी आनन्द ले रहे हो। रंच नहीं मिला, और बजाय सुखके कष्ट सामने रहा।

(१६९) **धनकीर्ति भोग आदि सबकी लिप्सा तजकर ज्ञानानुभूतिका पौरुष करनेका अनुरोध—**भैया, दुर्लभ मनुष्यजीवनको पाकर हमें चित्त कहाँ रमाना चाहिए ? इसका निर्णय बनाइये। रमाना चाहिए अपने आपके शाश्वत सहज चैतन्यस्वरूपमें। पर इसका जब ज्ञान नहीं, अनुभव नहीं, इस ओर दृष्टि ही नहीं जाती तो यह चित्त बाहर बाहर डोलता है। धन पानेकी इच्छामें रात दिन व्यग्र रहते हैं और कभी चाहते हैं कि मेरी कीर्तिमें जो बाधक हैं वे मेरे शत्रु हैं, उनका सफाया किया जाय और इस कीर्तिका बहुत विस्तार किया जाय। शरीर में कितना व्यामोह है कि कीर्ति चाहता है यह। मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूं, ऐसा जानकर कौन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कीर्ति चाहेगा ? यह शरीर ही मैं हूं, ऐसी जब बुद्धि हुई है तब ही कीर्तिकी चाह पैदा होगी। सो यह सब मिथ्याभावका ही तो प्रसार है। सो यह चपल चित्त जगह जगह डोल रहा है। इसके डवाडोलसे कोई सिद्धि नहीं। तब कर्तव्य यह है कि इस चित्तको एक जगह स्थिर रखिये। किस जगह स्थिर रखा जाय ? जो स्वयं जगह है मेरा शाश्वत चित्स्वरूप, वहाँ चित्त रमावो, यह ही मौलिक धर्मपालन है और इस ही की सेवाके लिए बार बार धर्ममें अपना चित्त लगाइये। भोगसाधनोंमें अपने चित्तको न लगाइये, क्योंकि भोगसाधनोंमें चित्त रमेगा तो यह चंचल ही रहेगा और धर्ममें चित्त लगेगा तो धीरता आयगी। तब ही हम अपने आप में कुछ समृद्धि का भी अनुभव कर सकते हैं।

नो शक्यं यन्निषेद्धुं त्रिभुवनभवनप्रांगणे वर्तमानं
सर्वे नश्यंति दोषा भवभयजनका रोधतो यस्य पुंसां।
जीवाजीवादितत्त्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्ये निवेश्य
तत्त्वे चेते विदध्याः स्ववशसुखप्रदं स्वं तदा त्वं प्रयासि ॥४४८॥

(१७०) **आत्माश्रय बिना चित्तकी चंचलताके निरोधकी अशक्यता**—इस परिच्छेदमें जीवको सम्बोधन किया है। ये प्राणी विषयोंकी प्रीतिके कारण चंचल चित्त वाले हो गए हैं। चित्त क्यों चंचल है ? उत्तर उसका एक ही है कि इसका चित्त विषयोंमें रमना चाह रहा है। विषय हैं विनश्वर, विषय हैं पराधीन, विषय हैं अपनेसे भिन्न। तो उसमें लगाया हुआ चित्त स्थिर कैसे हो सकता ? फिर विषयोंमें जो चित्त लगा है वह हो गया अपनेसे बाहर। जब अपने स्वरूपसे बाहर हो जाय तो वह स्थिर कैसे रह सकता ? तो चंचल चित्त वाले पुरुषोंको सम्बोधा है कि देख तेरा चित्त ऐसा चंचल चल रहा है कि तीनों लोक रूपी आँगनमें घूमते हुएको कोई भी नहीं रोक सकता। क्षणमें कहीं क्षणमें कहीं चित्त जा रहा। यह चित्तकी चंचलता बिल्कुल स्पष्ट है और बाहरी पदार्थोंमें रमकर कोई चाहे कि मैं स्थिर चित्त वाला हो जाऊँ तो कभी नहीं हो सकता। स्थिर चित्त होनेके लिए स्वाधीन स्थिर तत्त्व का आश्रय चाहिए। वह है आत्मस्वरूप। जिसको अपने स्वरूपका परिचय है और जान लिया है कि यह ही मेरा सर्वस्व है, यहाँ ही जिनको संतोष होता है उनका चित्त तो चंचल न होगा, बाकी विषयोंमें जब प्रेम है तो चित्त चंचल होगा ही।

(१७१) **आत्महितके लिये आचरणका प्रारंभसे अन्त तक सहयोग**—कल्याण केवल ज्ञानसे नहीं है, केवल ऊपरी आस्था बनानेसे नहीं है, मात्र चर्चामें समय गुजारनेसे नहीं है। उसके लिए चाहिये कुछ प्रयोगात्मक आचरण। आचरणहीन पुरुषके सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता। कोई सोचे कि यह तो केवल ज्ञानकी बात है, जान लो, तत्त्वका जानना बना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लो उसकी बात बोल लो, सम्यक्त्व हो जायगा, सो न होगा। सम्यक्त्व होता है आत्माके अनुभवपूर्वक। आत्मानुभवपूर्वक ही सम्यक्त्व जगता है, सम्यक्त्व जगे बाद आत्मानुभूति रहे न रहे, बहुत समय बाद मिले, मगर यह नियम है कि सम्यक्त्व जब उत्पन्न होता है तो आत्मानुभूति पूर्वक ही होता है, और आत्माका अनुभव अन्तः संयम, सदाचार, अपनी ओर अभिमुखता, व्यसन आदिकका परिहार हो, नाना विकल्पजालसे छूटें, यह बात हुए बिना आत्माका अनुभव नहीं जग सकता। तो आप समझिये कि सम्यक्त्व पाना यों ऊपरी भावसे केवल यह ही ध्येय जिसने बनाया कि आचरणकी क्या आवश्यकता, सम्यक्त्व हो गया, काम बन गया, तो भाई आचरण बिना सम्यक्त्व न होगा और आचरणकी वृद्धि बिना मोक्षका लाभ न होगा। तो जिसकी अभिमुखता आत्माकी ओर है, जिसका आचरण वैराग्यपूर्ण है, विषयोंमें जिसका चित्त नहीं रमता उसके ही स्थिरता आयगी और वह ही शान्तिका लाभ पा सकेगा। करणानुयोगमें बताया है कि ७ प्रकृतियोंका जो क्षय होता है, जिससे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ वे ७ प्रकृतियाँ हैं अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन-मोहनीयकी तीन मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। इन ७ का क्षय क्या एक साथ होता है? पहले क्षय होता है अनन्तानुबंधीका। इसके बाद क्षय होता है दर्शनमोहका। अनन्तानुबंधी प्रकृति है चारित्रमोहकी, जो किसी प्रकारके आचरणका घात करती है। अनन्तानुबंधीका क्षय होनेपर एक ऐसा आचरण बनता है कि जिसके पालनपर अन्तर्मुहूर्त बाद दर्शनमोहका क्षय होता है। प्रयोगात्मक विधि बनाये बिना अनुभूति न होगी, सम्यक्त्व न जगेगा।

(१७२) सहज स्वावलम्बन बिना बेतुकी विडम्बना—जब अपने आपका स्वरूपका आश्रय बनता है तो चित्तमें स्थिरता आती है। इसके बिना इस जीवका चित्त इतना चंचल है कि तीन लोकमें यह सर्वत्र चक्कर लगाता ही रहता है। कभी कुछ विचार, कभी कुछ विचार। कभी कहीं गया, कभी कहीं गया। यदि इस चित्तकी चंचलताका निरोध हो जाय अर्थात् एक सहज आत्मस्वरूपको ही प्रधान कर ज्ञान जानता रहे तो इसीको कहते हैं ऐकाग्र्य। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका एकत्व होना ही ऐकाग्र्यका परम स्वरूप है। तो ऐसी एकाग्रता आ जाय तो जन्म मरणके समस्त दुःख नष्ट हो सकते हैं। थोड़ीसी सुविधा मिल गई। लोगोंके बीच बैठकर थोड़ा बोलना आ गया, कुछ लोग कहने लगे कि यह भाई अच्छे समझदार हैं, पंडित हैं, ज्ञानी हैं, कुछ धन आदिककी सुविधायें हो गईं, कुछ राजकाजमें चला, प्रतिष्ठा, प्रभाव बन गया तो इतनेका क्या गर्व करना? यह गर्व लायक चीज नहीं है। यह तो जितना बाहर उड़ान चलती जायगी उतना ही इसको भविष्यमें कष्ट मिलेगा। जो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जितनी सुख सुविधावोंमें मस्त रहता है वह उससे कितना ही गुना अन्तमें कष्ट पाता है। यह बात देखो हुई, बीती हुई सब तरहसे समझ लीजिए। जिनसे प्रेम था उनका वियोग हो गया, आज उस बारेमें सोच सकते हैं यदि विवेक है कि मैंने व्यर्थ ही इतना समय उनके स्नेहमें गंवाया। लाभ क्या मिला ? जो सुख सुविधावोंमें मस्त होना चाहते हैं और यहाँ ही गर्व रखते हैं उनको बहुत बड़ा कष्ट आने वाला है। पुण्यके फलमें जो हर्ष नहीं मानते, सुख सुविधा सम्पदावोंमें जो अपने आपको मस्त नहीं बनाते, उनके भी ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं कि यह सब दैवका (भाग्यका) फल है और पापका उदय आनेपर उसमें विह्वल नहीं होता, उसका भी ज्ञाता रहता है कि यह भी दैवका फल है। वह पुरुष अपने चित्तको स्थिर रख सकता है। जिनको दैवफलमें हर्ष विषाद करनेकी प्रकृति पड़ गई है उनका चित्त स्थिर कैसे हो सकता है।

(१७३) **शरण्य सहज परमात्मतत्त्वका शरण पाये बिना जीवका बेठिकाने परिभ्रमण**—चित्तकी एकाग्रताका मूल उपाय निज सहज आत्मस्वरूपमें आत्मत्वकी प्रतीति है। यहाँ ही मनको रमा। केवल एक भावका ही तो सारा खेल चल रहा है। किस ओर दृष्टि है कि क्या बीत रहा है, यह बात आप खूब निर्णयमें रखिये। जब दृष्टि बाह्य विषयोंकी ओर रहती है तो क्षोभ है, आकुलता है, अज्ञान है। चित्तकी अस्थिरता है। अपनेमें दीनताका अनुभव है। और ऐसी स्थिति है कि जैसे वह बेठिकाने हो रहा हो, कहीं ठिकाना नहीं पड़ता, और जब अपने सहज ज्ञानमात्र ज्ञानघन आनन्दधाम सहज आत्मस्वरूपकी सुध होती है कि मैं यह हूं तो चूंकि यह कभी अलग नहीं हो रहा, यह कहीं बाहर न भग जायगा। यह तो अन्तः ही बना रहता है और इस ही में आत्मत्वका अनुभव कर रहा है तो ऐसे अपने आपके स्वभावको लखने वाला पुरुष धीर बनता है। उसमें इतना साहस आ गया, उसमें इतना सदाचार आ गया कि वह बाहरी पदार्थोंकी परिणति निरखकर क्षोभ नहीं मचाता, आकुलता नहीं करता। जानता है कि जो मैं समझता था सो ही तो हो रहा। इन विषयसाधनोंमें मौज मानने वाला पुरुष यह नहीं सोच पाता कि ये साधन नष्ट होते हैं। वह अपने बारेमें समझता है कि ये जो कुछ मुझे समागम मिले हैं ये सदैव रहेंगे, ऐसा उसके भीतर अवधारण बना हुआ है। भले ही कदाचित् दूसरोंका विषयसाधन नष्ट होता देखकर कह उठते हैं कि यह जो मिला है सब नष्ट होगा, पर अपने बारेमें नहीं सोच सकता, क्योंकि उसे उन साधनोंमें प्रीति लगी है। जिनमें प्रीति लगी है उनके नष्ट होनेकी कल्पना न कर पायगा। तो भले ही यह जान रहा कि मेरेको सुख साधन मिले हैं और ये सदा रहेंगे, स्त्री पुत्रादिक ऐसे आज्ञाकारी मिले हैं, मैं बड़ा भाग्यशाली हूं, मेरे समान भाग्यशाली और कौन होगा ? यों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

बड़ा मस्त हो रहा, लेकिन जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होगा। यह नहीं कल्पनामें लाता कि इनका वियोग होगा, पर इसके न सोचनेसे कहीं वियोग रुक तो न जायगा। तो जब वियोग होता है तब यह उन सुखके दिनोंकी मौजसे कई गुना कष्ट भोगता है। चित्त की चंचलताके बस ये ही तो फल हैं।

(१७४) **नैमित्तिक भावोंसे विविक्त अन्तस्तत्त्वके आलम्बनमें शाश्वत शान्तिका लाभ**—अपने आपके स्वरूपका आलम्बन लें तो चित्तमें एकाग्रता बनेगी और संसार संकटोंसे छुटकारा पानेका अवसर मिलेगा। अतः हे हितैषी पुरुष तू इस चंचल चित्तको रोक, इस चंचल चित्तको जीत। जीव अजीव आदिक यथार्थ तत्त्वोंके प्रकट करने वाले जैन शास्त्रोंके चिन्तत मननमें अपने चित्तको लगा और आत्माधीन शान्तिको प्राप्त कर। आत्मकल्याण स्वाधीन है और सुगम है और जिन बाह्य विषयोंमें रम रहा है, संग्रह कर रहा है, जिसकी व्यवस्था बना रहा हैं ये सारी बातें पराधीन हैं और कठिम हैं। कठिन क्या असम्भव हैं। कल्पनामें ही यह मानता है कि मैं ऐसा कर लेता हूं, पर कर थोड़े ही पाता। यह तो अपने भाव भर बनाता है बाकी जो कुछ होता है वह सब ओटोमेटिक याने निमित्तनैमित्तिक योग से होता है जिसे कहते हैं ओटोमेटिक हो रहा। लोग बोलते ना कि यह छापने वाली प्रेस मशीन जर्मनीसे आयी है ६०-७० हजारमें, यह ओटोमेटिक काम करती है, यह कागजको खुद उठाती है, छापती है, और छपे हुए कागजको एक जगह धरती है, यह ओटोमेटिक काम करती है। तो इसका अर्थ क्या है कि इस निमित्तनैमित्तिक योग पूर्वक काम हो रहा, अमुक पेंच पुर्जा इस प्रकार चल रहा, उसके संयोगमे दूसरा इस प्रकार चल गया, उसका निमित्त पाकर यह पुर्जा इस प्रकार चल गया, उसका वहाँ सम्बन्ध बना, इस तरह सब काम चल रहा। तो संसारकी जितनी घटनायें हैं सुखकी दुःखकी वे सारी घटनायें निमित्तनैमित्तिक योगपूर्वक हैं। उनमें तेरा स्वरूप नहीं। उन सब विडम्बनासे उपयोग हटाकर सहजानन्दमय निजधाममें मनको विलीन कर।

(१७५) **निमित्तनैमित्तिक योगके यथार्थ परिचयसे प्राप्त उपलब्धियां**—यहाँ इतनी बात समझना कि हमारे सुख दुःख रागद्वेषादिक विकारमें केवल कर्मविपाक निमित्त है। जो बाहर इतनी चीजें पड़ी हैं विषयभूत घर मकान, कुटुम्ब, मित्र, शत्रु आदिक ये निमित्त नहीं कहलातीं। ये निमित्त हैं ही नहीं। हमारे विकारमें ये बाहरी पदार्थ आश्रयभूत बनते हैं, निमित्त नहीं होते। निमित्त तो केवल कर्मविपाक है, सो कर्मविपाक निमित्त है, रागद्वेषादिक भाव नैमित्तिक हैं, ऐसा जाननेसे हमको दो प्रेरणायें मिलीं। पहली तो यह कि जितने बाहरी विषयभूत दृश्यमान पदार्थ हैं ये मेरे विकारके बिगाड़के निमित्त नहीं हैं, इनपर तू रोष तोष

http://sahjanandvarnishastra.org/

मत कर, इनमें तू विकल्पबुद्धि मत कर। ये तो आश्रयभूत हैं। तूने स्वयं अपने विषयभूत बनाकर इनको आरोपित किया है। इनमें आश्रय हटा, आलम्बन इनका तज। पहली प्रेरणा तो यह मिलती है निमित्तनैमित्तिक योगका सही परिचय होनेसे। दूसरी प्रेरणा यह मिलती है कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक भाव ये नैमित्तिक हैं, ये तेरे स्वभाव नहीं हैं। तेरे ही मात्र सत्त्वसे, केवलसे ये बन गए हो परप्रसंग बिना, ऐसा नहीं है। ये तेरे स्वरूप नहीं, तेरे स्वभाव नहीं, ये परभाव हैं, रागद्वेषादिक भाव परभाव हैं कि स्वभाव। यदि स्वभाव हैं तो सदा रहना चाहिए, फिर तो इनसे कभी मुक्ति हो ही नहीं सकती, जब परभाव हैं, रागद्वेषादिक भाव परभाव हैं यह आपने कैसे समझा ? तो कुछ लोग यह उत्तर देने लगते कि आश्रयभूत परपदार्थोंमें उपयोग जानेसे ये रागद्वेषादिक होते हैं इस कारण परभाव हैं, पर इस कारण परभाव नहीं हैं ये। यद्यपि यह भी बात है व्यक्त विकारमें, पर विकारोंके परभावपने का कारण यह नहीं है कि इन विषयभूत पदार्थोंका आश्रय लेकर विकार जगे हैं इस कारण परभाव हैं, किन्तु किस कारण परभाव हैं कि कर्मोदय निमित्तके सन्निधानमें ही ये हो पाते हैं इस कारण परभाव हैं। इन दो बातोंमें अन्तर क्या है ? कोई रागद्वेषादिक भाव जो अबुद्धि पूर्वक हैं, अव्यक्त हैं, उन विकारोंके समय तो किसी भी आश्रयभूतका आश्रय नहीं रहता और विकार सो हो गए, मगर उन अव्यक्त विकारोंके समय कर्मविपाक रूप निमित्त सान्निध्य है ही। तो पर मायने निमित्तभूत कर्मोदय, उसका सन्निधान पाकर होने वाले भावको परभाव कहते हैं। सो एक मुख्य काम तो यह है ना कि हम अपने आपको अपने स्वभावरूप अनुभवें। सो जब हमने यह जाना कि ये विकार औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, तो इनसे हमारी उपेक्षा हो जाना प्राकृतिक बात है। इनमें क्या सिर रगड़ना ? इनमें क्या मन फंसाना ? यह तो बिगाड़ है, विकार है। ये तो परभाव हैं, विनश्वर हैं, मेरे स्वरूपसे निराले हैं। मैं तो एक शाश्वत चैतन्यस्वरूप मात्र हूं, इस स्वभावकी दृष्टि सुगमतया हो जाती है निमित्तनैमित्तिक भावका यथार्थ परिचय होनेसे यह तीसरी प्रगति है।

(१७६) **सहजात्मस्वरूपकी सम्हालका चमत्कार**—अब पुनः सम्हाल कीजिये कि कैसी सम्हाल रखना है ? पहली सम्हाल तो यह है कि जगतमें जितने दृश्यमान पदार्थ हैं, जिनमें चित्त जानेसे ये विकार बढ़ते हैं, व्यक्त होते हैं, ये दृश्यमान पदार्थ मेरे विकारके निमित्त कारण नहीं हैं, किन्तु आश्रयभूत कारण हैं, पहले तो यह सम्हाल बने, दूसरी यह सम्हाल बने कि ये रागद्वेषादिक भाव कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए हैं इसलिए ये परभाव हैं, ये निमित्तके खातेसे जुड़कर मेरेसे दूर हट जावें। जैसे दर्पणके सामने हाथ किया, वहाँ हाथका फोटो आ गया तो दर्पणमें आया हुआ फोटो यह नैमित्तिक है, हाथका सान्निध्य पाकर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हुआ है। यह दर्पणके स्वभावरूप नहीं है, स्वाभाविक नहीं है, निरुपाधिक नहीं है, इसलिए समझदार आदमी अगर दर्पणमें वह फोटो नहीं चाह रहा तो हाथको हटा देता है। तो उस नैमित्तिकको, फोटोको निमित्तके खातेमें डालकर निमित्तके साथ ही उसको दूर कर देता है, पर यहाँ नैमित्तिक तो है और निमित्तके हटनेपर यह नैमित्तिक हट जाता है, पर निमित्तको हटानेका उपाय निमित्तपर दृष्टि डालना नहीं है, किन्तु अपने स्वभावकी सम्हाल करना है। इतना अन्तर है। इन सर्व अन्य पदार्थोंसे विविक्त अपने आपके स्वरूपमें एकत्वगत शुद्ध अर्थात् परसे रहित अपनेमें परिपूर्ण चैतन्यशक्ति मात्र अपनेको समझें, प्रतीतिमें लें, अनुभवें तो वहाँ कर्मोंमें संक्रमण होना, कमजोरी होना, क्षीण होना, घात होना ये सब बातें स्वयं उनकी परिणतिसे होती रहती हैं। हमारा कर्तव्य तो अपने सहज स्वरूपकी सम्हाल है। इस सम्हाल में संतोष, शान्ति, धीरता, स्थिरता, सन्मार्ग ये सब बातें पायी जा रही हैं।

(१७७) **सहजात्मस्वरूपकी सम्हालके संदर्भमें प्रभुभक्तिकी उपयोगिता**—अपने सहज स्वरूपकी सहज सम्हालमें जब हम नहीं रह पाते तो यह सम्हाल जिनके बन चुकी है ऐसे आत्मावोंका भजन करना, गुणस्मरण करना ताकि हम अपनी सम्हालके लिए फिरसे उद्यमी बन जायें। यह ही है प्रभुभक्तिका सम्बंध। प्रभुभक्ति क्यों कर रहे हैं? प्रभुका स्वरूप, मेरा स्वरूप एक समान है, किन्तु 'अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान।' सो यह अन्तर नैमित्तिक है। जो नैमित्तिक होता वह मिटाया जा सकता। जो स्वाभाविक होता वह मिटाया नहीं जा सकता। यह मिट जायगा अपने स्वरूपकी सम्हाल करनेसे। बाहरके अचेतन अचेतनमें जो निमित्तनैमित्तिक योगकी व्यवस्था है वहाँ तो यह बात चलती है कि निमित्तको हटा दिया जाय तो नैमित्तिक न रहेगा। हाथको हटा लिया जाय तो दर्पणमें वह फोटो न रहेगा। यहाँ भी यही विधि है कि निमित्तके दूर होनेपर नैमित्तिक भी दूर हो जायगा, मगर यहाँ इस निमित्तपर वश नहीं चल सकता। यह तो केवल एक यह ही तंत्र है कि अपने सहज आत्मस्वरूपकी सम्हाल करिये, उसरूप अनुभविये, यहाँ ही अपना उपयोग रखिये, यहीं संतुष्ट होइये, यहीं रत होइये, यहीं रहकर परम विश्राम करिये तो वे सब बातें जो होनी चाहियें कर्म हटनेके लिए, निमित्त दूर होनेके लिए जैसा कि करणानुयोगमें बताया है वह सब प्रक्रिया स्वयं होने लगती है। तो हमारे दो ही काम तो मुख्य रहे, उनमें भी एक ही मुख्य रहा निज सहज आत्मस्वरूपकी सावधानी, दृष्टि, प्रतीति, अनुभूति और इस ही प्रयोजनकी सिद्धिके लिए जो सम्हाल कर चुके हैं ऐसे शुद्ध आत्माकी भक्ति, पंच परमेष्ठियोंकी भक्ति। प्रभुभक्ति, सहज आत्मस्वरूपका मनन। बस यह ही हम आपको इस दुर्लभ जीवनमें करनेकी बात है। इसीकी पूर्तिके लिए अन्य सब व्यवस्थायें धार्मिक चला करती हैं। तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अपने स्वरूपके अभिमुख हों और चित्तकी चंचलता समाप्त करें, इस ही उपायसे हम अपने मोक्षमार्गमें प्रगति कर पायेंगे।

मित्रत्वं याति शत्रुः कथमपि सुकृतं नापहर्तुं समर्थो
जन्मन्येकत्र दुःखं जनयति भविनां शक्यते चापघातुं।
नैवं भोगोऽथ वैरी मृतजननजरादुःखतो जीव ! शश्व-
त्तस्मादेनं निहत्य प्रशमशितशरैर्मुक्ति भोगं भज त्वं ॥४०६॥

(१७८) भोगवैरीकी अपरिवर्तित प्रबल शत्रुता—इन भोगासक्त संसारी प्राणियोंको सम्बोधन किया जा रहा कि हे जीव संसारमें जैसा अहित ये विषयभोग करते हैं वैसा अन्य कोई भी तेरा अहित नहीं कर पाता। हम आपका वास्तविक दुश्मन कौन ? मिथ्यात्व और ये विषयकषाय। ये हम आपके प्रबल बैरी हैं। दूसरा कोई मेरा बैरी नहीं है। कोई भी जीव मेरे विरोधके कारण कुछ नहीं करता, किन्तु जिसमें उसे भला मालूम होता वह काम वह करता है और हम यहाँ विषयोंमें बाधा समझते हैं तो उसके विषयमें कल्पना करते हैं कि यह मेरा विरोधी है। जगतमें मेरा विरोधी दुश्मन, अहितकारी कोई दूसरा पदार्थ नहीं। मेरे ही ये विषयभोग, काल्पनिक काम ये ही प्रबल शत्रु हैं। कुछ विवेक पाया है, ज्ञान पाया है तो उसका फल यही है कि इन विषयोंसे विराम लें। यदि विषयोंसे विरक्ति नहीं होती, इनसे उपेक्षा नहीं होती, विराम नहीं लेते, तो वह ज्ञानकी वार्ता एक तोता रटंत मात्र है। खुद पर उसका कुछ असर न पड़ा और ज्योंका त्यों दुःखी रहता। बात बातमें, धर्मकी चर्चा ही में जो क्रोध उमड़ आता है उसका कारण क्या है ? अज्ञान। शरीरमें अज्ञान, शरीरमें अहंकार, मनके विषयोंसे प्रीति. ये सभी दोष उस पुरुषमें मौजूद हैं, उसको लाभ क्या मिला ? सो हे जीव तू निर्णय कर कि मेरे अहितके करने वाले हैं ये विषयसाधन, भोग। दूसरा कोई अहित नहीं करता। ये विषयभोग, पञ्चेन्द्रियके भोग, मनके यश कीर्तिका लाभ ये ही प्रबल बैरी है जो इस आत्माको परेशान किए हैं, तिड़बिड़ा रहे हैं और यह आत्मा क्षुब्ध होकर कर्म बाँध रहा है। देहधारी शत्रु तो कभी किसी कारणसे शत्रु हुए पर मित्र भी हो सकता है, पर अपनी वासना विषयोंके भोग, ये कभी मित्र नहीं हो सकते। आज जिस पुरुषको हम मान रहे कि यह हमारा विरोधी है, दुश्मन है, पर कलके दिन कहो कोई ऐसी बात बन जाय कि वह मित्र बन जाय, पर ये विषय कषाय किसी भी समय मित्र नहीं हो सकते। और फिर ये व्यर्थकी कल्पनायें। मानो स्पर्शन, रसना आदिक इन्द्रियके विषयोंको भोग डालें तो इस जीवके पास बढ़ क्या गया यह तो ज्योंका त्यों रिक्त है, क्योंकि तृष्णा है, आशा हैं, उसके कारण इसका गड्ढा ज्योंका त्यों खाली है। सो बाहर कोई पुरुष जिन्हें लोग शत्रु

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मानते हैं वे तो कदाचित् मित्र हो जायेंगे, पर ये विषय तेरे कभी भी मित्र नहीं हो सकते।

(१७६) **भोगवैरीमें पुण्यापहरण व निष्प्रतिक्रिय दुःखजननकी विशेषता**—अब देखिये—इन विषयोंमें माने गए अन्य शत्रुवोंकी अपेक्षा कितनी प्रबलता है। दूसरे प्राणी जिनको हमने शत्रु करार किया है वे शत्रु उसके पुण्यको नहीं छीन सकते, और हुआ भी ऐसा ही। कितनी ही घटनायें हुईं ऐसी कि उन शत्रुवोंने बुरा करना चाहा, पर उसका पुण्य न छीन सके। श्रीकृष्ण नारायणके पुत्र प्रद्युम्नपर कालसम्वरके अनेक पुत्रोंने कितने उपद्रव ढाया, कहीं गुफामें ले गए, कहीं बावड़ीमें ढकेला, पर सर्वत्र निधि पाया। उसके पुण्यको न छीन सके, पर ये विषयबैरी इसके पुण्यको छीन डालते हैं, यहाँ विषय बैरीमें और लौकिक शत्रुमें तुलना बतायी गई है, यह कितना प्रबल बैरी है। कोई शत्रु अधिकसे अधिक एक जन्ममें दुःख दे देगा, पर विषय शत्रु भव-भवमें दुःख देते हैं। अब तुलना करो, जो विषय रुचते हैं, जिनके लिए जीवन समझ डाला है वे विषय हम आपके कितने बड़े दुश्मन हैं, उनसे विराम लेना चाहिए और आत्महितके लिए जो मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके पालनका उस मार्गसे चलना चाहिए। ये विषय बैरी कैसा प्रबल शत्रु हैं। ये माने गए मनुष्य दुश्मन कभी कोई प्रहार करे तो हम उसका प्रतिकार कर लें, मुकाबला कर लें, उसे हरा दें, कुछ प्रतिबंध किया जा सकता है, किन्तु जब ये विषयशत्रु मुझपर लद जाते हैं तो हम निष्प्रतिबंध हो जाते हैं, उस वासनाके वश होकर जो कुबुद्धि जगती है उसके अनुसार ही व्यवहार कर बैठते हैं। तो देखिये अन्य शत्रुवोंसे कितनी अधिक प्रबल शत्रुता है इन विषमोंमें। कभी कोई शत्रु दुःख दे दे तो उस दुःखको हम दूर कर सकते हैं, पर विषय शत्रु ऐसे नहीं हैं। वे विलक्षण हैं, प्रबल दुःखके हेतुभूत हैं, ये किसीके भी हितकारी नहीं हैं।

(१८०) **आत्मज्ञान व विषयविरक्तिमें अपना हित**—अब अपनी अपनी बीती व होनी सब कुछ सोचिये—भीतर इस जगतमें जो प्रिय लग रहा है, इन्द्रियके विषय, उन विषयोंके साधन, स्त्री-पुत्र, मित्रादिक, सुजन जो जो भी प्रिय जच रहे हैं उनके मौजका फल क्या होगा? कष्ट। दुःख, संसारमें जन्ममरणकी परिपाटी, इस अज्ञानका फल यही है। तो यह बात हमें प्रतिदिन सोचनी चाहिये और उसके अनुसार हमें प्रयोग करना चाहिए भीतरमें कि मेरे बैरी ये विषय शत्रु हैं, इनसे हटना तत्त्वज्ञान और वैराग्यके बलसे बनेगा। तत्त्वज्ञान में जब यह समझ बन जाय कि मेरा परमार्थ निरपेक्ष वास्तविक अपने ही स्वरूपके कारण जो कुछ मुझमें है वह तो एक चेतनामात्र है। शुद्ध प्रतिभास हैं। वहाँ राग रंग कषाय विषय ये हमारे स्वरूपमें नहीं हैं। यह कर्मकी छाया है। कर्मका प्रतिफलन, नैमित्तिक भाव, पर भाव इनसे मेरा मेल नहीं है। तो अविकार ज्ञानस्वरूपको आराधना करिये तो ये विषयोंके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आक्रमण सब दूर हो जायेंगे। ये विषयशत्रु, ये गंदे परिणाम ये अनेक दुःखोंको उत्पन्न करने वाले हैं। भव भवमें जन्म मरणके कारणभूत हैं। पुण्यको हरने वाले, किसी तरह रोके न जा सकें ऐसे विषयोंका लगाव इस जीवके लिए कलंक है, कष्ट है, अभिशाप है, बरबादी है। ये भोग आज बड़े सस्ते लग रहे, सरल मालूम होते, पर ये बड़े महँगे पड़ते हैं। इनका फल बड़ा कटुक होता है। आत्माका ज्ञान, आत्माकी दृष्टि, आत्मस्वरूपमें ही आत्मत्वका अनुभव, संतोष, यह है सन्मार्ग, जिसमें धोखा नहीं। वर्तमानमें शान्ति, आगे शान्ति, और इन इन्द्रिय-विषयोंकी प्रीति, विषयसाधनोंका व्यामोह ये सब पर हैं, परभाव हैं, अतएव इनका लगाव नियमसे कष्टका ही देने वाला है। सो हे जीव समझ और शान्तिरूपी तीक्ष्ण बाणोंके प्रहारसे अपने इस विषयवासना शत्रुका विनाश कर और मोक्षमार्गकी प्रगति करके मुक्तिका आनन्द प्राप्त कर। जो समागम है उसमें न रमना। वह सब लगाव दुःखका हेतु है, उनकी उपेक्षा करके अपने सहज आत्मस्वरूपमें मनको लगाना यह तो है कल्याणका उपाय और यदि ऐसा नहीं बनता तो जैसे संसारमें रुलते चले आये, रुलते आ रहे, आज ऐसे शुभ अवसरको यदि यों ही खो दिया गया तो इसका कुछ प्रायश्चित्त न हो पायगा। कीड़ा मकोड़ा एकेन्द्रिय आदि किसी भी भवमें उत्पन्न हो गए तो अब क्या करेंगे ? यहाँ तो जरा जरासी कला पाने पर शान बगराते, अहंकार करते, घमंड करते, मैं ही सब कुछ हूं ऐसा मानकर ऐंठे जा रहे भीतर ही भीतर मगर जैसी करनी वैसी ही आगे भरनी। कीड़ा मकोड़ा, पेड़-पौधे बन गए अब कहाँ रहेगी शान ? क्या गुजरेगी ? इस वास्ते नम्र रहना, क्षमाशील रहना, सरल रहना, इन परवस्तुवोंसे तृष्णाको त्यागना, ऐसी सही करनी करनेमें ही अपना हित है।

रे जीव ! त्वं विमुंच क्षणरुचिचपलानिंद्रियार्थोपभोगा-
नेभिर्दुःखं न नीतः किमिह भववनेऽत्यंतरौद्रे हतात्मन् !
तृष्णा चित्ते न तेभ्यो विरमति विमतेद्यापि पापात्मकेभ्यः
संसारात्यंतदुःखात्कथमपि न तदा मुग्ध ! मुक्तिं प्रयासि ॥४१०॥

हे आत्मन् ! इन बादलोंमें चमकती हुई बिजलीके समान विनश्वर इन इन्द्रिय विषयोंके भोगोंको छोड़ दे। जैसे मेघमें बिजली चमकती है। तो तुरन्त नष्ट हो जाती ऐसे ही ये इन्द्रिय विषयभोग क्षणभरको मिले हैं, क्षणके बाद ही ध्वंस हो जाते हैं। वे साधन ध्वंस नहीं हुए, यहाँका भाव ध्वंस हो गया, मति ध्वंस हो गई। तो ये सब क्षण विनश्वर हैं। और देखो इन विषय शत्रुवोंने इन इच्छा आदिक विकारोंने इस संसाररूपी गहन वनमें भटकते हुए तुझको क्या क्या दुःख नहीं दिया। दुःख जितना मिलता है वह विषयोंकी प्रीतिके कारण मिलता है। कोई किसी विषयमें प्रीति किए है, कोई मनके विषयमें प्रीति किए हुए है। इस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जगतमें मेरा यश फैल जाये, हाय यह कितनी गंदी भावना है। चाहे औरका विध्वंस हो, पर मेरा नाम बढ जाना चाहिए, ऐसा सोचने वालेके कितना मिथ्यात्व लगा है। शरीरमें अहंबुद्धि हुए बिना मेरा यश फैल जाय यह भावना नहीं बनती। क्या कोई अमूर्त ज्ञानमात्र आत्माको मैं समझे और सोचे कि मेरा यश हो जाय ऐसे किसीके भाव बना? जो यशके पीछे मर रहा है और यशके पीछे दूसरोंकी बरबादी तकको भी तक रहा है, मेरा नाम सर्वत्र फैले, इस धुनमें लगा हुआ है, उसको तीव्र मिथ्याभाव बना हुआ है। तो यह विषयोंकी प्रीति इस जीवका अनर्थ करने वाली है। क्या क्या दुःख नहीं दिया इन विषयोंके प्रेमने? जो संसारमें बड़ेसे बड़े क्लेश हैं वे सब विषयप्रेमसे ही तुझको प्राप्त हुए हैं। सबकी विचित्र विचित्र घटनायें हें, नाना ढंगके क्लेश हैं। सबकी बात सब अपनी अपनी जानते हैं। परख लो, अपने बचपनसे लेकर अब तक जो भी कष्ट पाये हैं वे कष्ट किस कारणसे मिले? इन्द्रिय और मनके विषयोंसे प्रेम है तब कष्ट पाया। सो यदि अब भी इन विषयोंके साथ ही रहनेकी इच्छा है तो पापस्वरूप विकार इच्छावोंके साथ ही तेरेको मौज आ रहा है। अब भी इनको ही भोगना चाहता है। तो हे मूढ़ जीव निश्चयसे यही समझ कि अनन्त दुःखोंके देने वाले इस संसारसे फिर छुटकारा न हो पायगा। किसी तरह निस्तारा होना शक्य नहीं है। अज्ञान, मोह, मिथ्यात्वभाव ये तेरे प्रबल बैरी हैं। फिर तो सदा ही संसारमें रहकर, पड़कर, गिरकर दुःख पाता रहेगा। अपनेको सम्हालिये, ज्ञानप्रकाशमें प्रेम कीजिए, गुणी जनोंका सत्संग कीजिए। अपने आपमें अहंकार भाव न रखिये। जो भली-भाँति चलोगे तो रास्ता सही मिलेगा। जो खोटी बुद्धिसे चलोगे तो रास्ता न मिलेगा। यह आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। अपने आपके ज्ञानबलसे यह हित, अहित, सत्य, मिथ्या सबका निर्णय कर सकता है, पर जब कोई खोटी श्रद्धा हो जाती है तो विवेक करने वाली प्रतिभा फिर चित्तमें नहीं रहती। एक गाँवकी ऐसी घटना है। उस गाँवके एक छोरपर एक बढ़ई रहता था। तो मुसाफिर जब दूसरे गाँवके जाने वाले उस गाँवसे गुजरते थे, तो जो सबसे पहले घर मिलता वहाँ मुसाफिर उससे पूछता कि अमुक गाँवका रास्ता किधर गया? तो वह बढ़ई बड़ा ही मजाकिया (मजाक करने वाला) दूसरेके कष्टको न समझने वाला उल्टी राह बताता था। मानो है तो पश्चिमकी ओर वह गाँव, और बता दिया दक्षिणकी ओर। बता दिया इसी तरफ जाना। थोड़ा गाँवमें जाकर रास्ता फूटा है दक्षिणको, उस रास्तेसे जाना, और देखो इस गाँवमें सभी लोग मजाकिया रहते हैं, तुम किसीसे पूछोगे कि अमुक गाँवका रास्ता किधरको गया तो वे तुम्हें उल्टा बतायेंगे। अब वह बेचारा मुसाफिर आगे जाता है और लोगोंसे पूछता है कि अमुक गाँवका रास्ता किधरको गया? तो वे लोग सही-सही बता देते कि पश्चिमको गया, मगर वह यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

विश्वास किए बैठा था कि देखो बढ़ई ठीक ही कह रहा था, वास्तवमें इस गाँवके सभी लोग मजाकिया हैं। इस उल्टी श्रद्धा होनेके कारण फल क्या होता है कि वह दक्षिणकी ओर बढ़ता चला जाता है। जब आगे दूसरा गाँव मिलता है, वहाँ पूछता है तो वे लोग बताते हैं कि अरे तुम तो उस गाँवसे ही रास्ता भूल गए। उल्टे जावो और वहाँसे फिर पश्चिमकी ओर जाना। खोटी श्रद्धामें फिर सन्मार्गकी ओर चाहे कोई कितना ही समझाये मगर वह लग नहीं सकता। देखिये कितनी बड़ी विपत्ति है कि जिसने दिमागको ही खोटा कर दिया ऐसा मिथ्या श्रद्धान इस जीवका प्रबल बैरी है, और उस ही के प्रसंगसे ये इन्द्रियविषय इसपर प्रेक्टिकल शत्रुता निभा रहे हैं। सो इस संसारके जंजालसे बचना है तो विषयोंकी प्रीति छोड़ो। तत्त्वज्ञानकी ओर लगो। तत्त्वज्ञानकी ओर मन लगेगा तो पार हो जावोगे और अपनी पुरानी हठपर ही अड़े रहोगे तो संसारमें रुलोगे।

यत्तस्त्रीनेत्रलोलाद्विरम रति सुखाद्योषितामंतदुःखा-
त्प्राज्ञान् प्रेक्षातितिक्षामतिधृतिकरुणामित्रताश्रीगृहांश्च।
एतास्तारुण्यरम्या न हि तरलदृशो मोहयित्वा तरुण्यो
दुःखात्पातुं समर्था नरकगतिमितांनंगिनो जीव! जातु ॥४११॥

(१८१) विषयरतिकी घातकता व दुःखोंसे बचानेमें अत्यन्त असमर्थता—५ इन्द्रिय और एक मन इन ६ के विषयोंमें रहकर यह जीव अपने आपको बरबाद किए जा रहा है। उनमें प्रधान अज्ञानविषय है स्पर्शनइन्द्रिय। उसके विषयमें यहाँ आचार्यदेव समझा रहे हैं कि हे जीव मत्त स्त्रियोंके नेत्रकी तरह चंचल और अन्तमें दुःखके देने वाली इस स्त्रीविषयक रतिका सुखका त्याग कर दो। यौवन अवस्थासे जो सुन्दर लगती हैं ऐसे स्त्रीजन बड़े-बड़े प्रतीक्षा गुणोंके धारी पुरुषोंको भी चलित कर देती हैं, जिनमें बड़ी प्रतिभा, जिनमें अधिक सहनशीलता, बुद्धि, करुणा, मित्रता आदिक सर्व गुणोंमें सम्पन्न पुरुषोंको भी मलिन करनेके ये साधन हैं। वास्तविक बात तो यह है कि इस जीवको स्त्रीजन क्या, अन्य साधन कोई भी विचलित नहीं करते, किन्तु यह ही जीव अज्ञानवश कामादिक प्रकृतियोंके उदयका निमित्त पाकर स्वयं विकृत बनता है। उस विकारके समय जब बाह्य साधनोंको उपयोगमें लेता है तो विकार प्रकट हो जाता है। देखो विकारके बारेमें बहुत सूक्ष्मतया यह सिद्धान्त समझना कि ये विकार नैमित्तिक भाव है, परभाव हैं, कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए हैं, इस कारण परभाव हैं। इनके साथ जब दृश्यमान किसी भी पदार्थमें उपयोग लगता है तो ये विकार प्रकट होते हैं। यदि नहीं उपयोग लगता है तो ये विकार अव्यक्त होकर निकल जाते हैं, पर विकार कर्मोदयका निमित्त पाकर ही हो पाते हैं इस कारण ये परभाव कहलाते हैं। यद्यपि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नहीं करता, पर उपादानमें ही ऐसा स्वभाव पड़ा है कि अशुद्ध उपादान अनुकूल निमित्त सान्निध्य पाकर अपनी परिणतिसे अपनेमें विकारभावको प्रकट करता है। यदि ऐसा न होता तो ये विकार मिट न सकते थे नित्यविकारका कर्ता बन जाता। वास्तविकता तो यह है। इस वास्तविकताको जानने वाला पुरुष इन विषयोंके फंदेमें नहीं पड़ता। सो हे आत्महित चाहने वाले पुरुष विषयवासनाओंसे विराम लेकर अपनी रक्षा कर। ज्ञान और वैराग्य ये दो ही अपने वास्तविक मित्र हैं, दूसरा कोई मित्र नहीं। मोह और विषय ये ही वास्तवमें अपने शत्रु हैं, दूसरा नहीं।

(१८२) **आत्मस्वरूपमें उपयुक्त होना अहितसे हटनेका उपाय**—भैया, क्या करना कि हम अहितसे तो हट जायें और हितमें लग जायें, बस उसका उपाय यह है कि आत्माके अविकार स्वरूपका परिचय करें और बाह्यविषयोंसे अपने मनको हटा लें। मिलावटमें भी प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्वरूपमें ही रहती है। तैल पानी मिल गया, पर तैलमें तैलका स्वरूप, पानीमें पानीका स्वरूप, दूध पानी मिल गया, पर पानीमें पानीका स्वरूप, दूधमें दूधका स्वरूप। उपाय बनाया जाय, अग्निमें तपाया जाय तो पानी पानी उड़ जायगा, दूध रह जायगा। तो शरीर, कर्म और जीव इन तीन चीजोंका आज मिलावट है, मिश्रण है और उस ही प्रसङ्गमें यह पर्याय बनी है। इसे असमानजातीय द्रव्य पर्याय कहते हैं। इस संश्लेषके होनेपर भी जीवके स्वरूपमें जीव है। पुद्गलके स्वरूपमें पुद्गल है। युक्तिसे, प्रतिभासे इस भेदको समझ लें और अपने स्वरूपसे प्रीति रुचि रखें और अन्य स्वरूपसे अरुचि रखें। यह इन्द्रजाल है, मायाजाल है। इसमें लुभ गए तो बरबादी है, न लुभा गए, अपनेको सम्हाल लिया, सावधान रहे तो अपनी उसमें विजय है। बात दोनों सामने हैं। यदि संसारमें रुलना है तो उसका उपाय है शरीरादिकमें अहंबुद्धि रखिये, और इन विषय कषायोंका खूब मौज लूटिये। और यदि जन्ममरणके संकटसे छूटना है तो आत्माके सहज चित्स्वरूपमें आस्था बनाइये। उसमें मैं का अनुभव करनेका पौरुष कीजिए और समस्त बाह्य तत्त्वोंसे मोह ममत्व हटा लीजिए। अब इन दोनोमें जो पंथ रुचता हो उसपर चलिये। कल्याण रुचता हो तो कल्याणमार्गपर चलिये और पतन रुचता हो तो उसपर तो चल ही रहे हैं। उसका विवेक करें, अहितको छोड़ें और हितपंथमें लगें।

दृष्ट्वा लक्ष्मीं परेषां किमित हतमते खेदमतः करोषि
नैषा नैते न च त्वं कतिपयदिवसैर्गैत्वरं येन सर्वं।
तत्त्वं धर्मं विधेहि स्थिरविशदधिया जीव मुक्त्वान्यवार्ता।
येन प्रध्वस्तबाधां विततसुखमयीं मुक्तिलक्ष्मीमुपैषि ॥४१२॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(१८३) **धनिकोंको दयापात्र जानकर उनसे ईर्ष्या न कर धर्ममें चित्त लगाते हुए खेदरहित होनेका उपदेश**—हे अविवेकी पुरुष ! तू दूसरेकी बढ़ती हुई लक्ष्मीको देखकर क्यों भीतर घुला जाता है ? ईर्ष्या करके क्यों अपनेको दीन बना रहा है ? मनुष्योंकी प्रकृति है ऐसी कि दूसरे बड़े लक्ष्मीवान धनिकोंकी विभूति देखकर यह भीतर ईर्ष्या करता है, जलन करता है, घूरता रहता है। उसको समझाया है कि तू क्यों व्यर्थ अपना घात कर रहा है ? क्यों नहीं चलना चाहता ? उसका यह कारण है, पहली बात तो यह है कि जो उसको वैभव लक्ष्मी प्राप्त हुई है वह विनाशशील है, सदा न रहेगी। दूसरी बात यह है कि जिस लक्ष्मीको पाकर उसमें यह मस्त हो रहा है तो वह अपनेको भूल गया, अपने स्वरूपसे बेसुध हो गया, यह एक बड़ी विपत्ति उसने अपने आपपर लदी है। वह तो दयाका पात्र है, न कि ईर्ष्याका पात्र है। वह तो बहुत बड़ी विपत्तिमें है, वह अपना विघात कर रहा। तीसरी बात यह है कि ये तो बाह्य पदार्थ हैं, उनकी लालसा रखनेसे लोभ नहीं बल्कि हानि ही है। आत्मा अपने एकत्वस्वरूपमें है, अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें है, इसका कोई साथी नहीं, इसका साथ कोई देने वाला नहीं, न रहने वाला है। तो व्यर्थ ही बाह्य पदार्थोंमें जिनका मुझसे कोई लेन देन नहीं, कल्पना करके कर्मबंध किया जा रहा और जन्म मरणकी परम्परा बढ़ाई जा रही है, तू ऐसे धनिकोंको देखकर जले मत, किन्तु उनको विपदामें ग्रस्त समझ और उनको तो दयापात्र समझ। ये धनिक जन जो अपने वैभवमें मस्त हैं उनपर यह बड़ी विपत्ति है। संसारके जो जितने अधिक इन सुखोंसे सुख समझते हैं वे उससे कई गुना दुःख पायेंगे, यह बिल्कुल निश्चित बात है। तो वे दयापात्र हैं ऐसा समझ, न कि धनिकोंको देखकर उनसे जलन रख। यह वैभव, यह दृश्यमान जगत क्षणभर बाद न रहेगा, तब तू स्थिर हो, शान्त चित्त हो, धर्मका सेवन कर। धर्म क्या वस्तु है ? धर्म आत्माका स्वरूप है। अपने आप सहज मेरे ही सत्त्वके कारण जो मेरेमें शक्ति है, कला है बस वही धर्मका स्वरूप है। उसरूप अपनेको मान। मैं यह केवल चेतना मात्र हूं। और इसका कोई कार्य है तो चिद्वृत्ति, शुद्ध प्रतिभास, जिसमें कोई कल्पना नहीं जगती, वह मेरा कार्य है, ऐसा अपने आपको निरख, यही धर्मसेवन है, इसके प्रतापसे सारे संकट टलते हैं। तो तू अपने धर्मका पालन कर और बाह्यविभूतिको देखकर उनकी वाञ्छा न कर। यदि ऐसी चर्या रहेगी तो सदा बाधावोंसे जो रहित है ऐसा निर्वाणपद तू प्राप्त कर लेगा और जो यहींके इन दृश्यमान क्षणभंगुर अत्यन्त भिन्न असार बाह्य वैभवोंको ही तरसता होगा तो बस मरे, पैदा हुए, जिन्दगीसे जिए, वहां भी नाना कष्ट पाया, फिर मरे फिर जिए, बस यह ही धारा चलती रहेगी। यदि यही पसंद है तो यहांके सुख साधनोंमें तू अपना मन फँसा और यदि सदाके लिए निर्बाध आनन्द चाहता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है तो अपने सहज स्वरूपकी दृष्टि कर।

भोगा नश्यंति कालात्स्वयमपि न गुणो जायते तत्र कोपि
तज्जीवैतान् विमुंच व्यसनभयकरानात्मना धर्मबुद्धया।
स्वातंत्र्याधेन याता विदधति मनसस्तापमत्यंतमुग्रं
तन्वंत्येते तु मुक्ताः स्वयमसमसुखं स्वात्मजं नित्यमर्च्यं ॥४१३॥

(१८४) **विनश्वर भोगोंको शीघ्र ही स्वयं त्याग देनेमें आत्मलाभ**—देख ये इन्द्रियके विषय जो कुछ भी नजर आ रहे हैं तो वे क्या नजरमें आ रहे, क्या ज्ञानमें आ रहे ? इन बाह्य पदार्थोंके बारेमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द और नामवरीकी कल्पनायें ये ही तो विषयभूत हैं। तो ये सब विषय किसी न किसी समय निकट ही कालमें स्वयमेव नष्ट हो जाने वाले हैं। सो इस तरह ये पदार्थ स्वयं नष्ट हो जायें, तो ये विमुक्त होकर जिनमें तू रम रहा था वे पदार्थ तुझे कोई गुण प्राप्त करा जायेंगे क्या ? तेरेमें कुछ सुधार बना जायेंगे क्या ? नहीं। बिगाड़ किया था और वियोग होनेपर भी इसके ख्यालमें बिगाड़ ही रहेगा। जिन पदार्थोंको यह मोही पुरुष इष्ट समझता है उनके संयोगमें भी बिगाड़ उनके वियोगमें भो बिगाड़। जब संयोग बना है तब आत्मासे बेसुध और बाह्यमें उपयोग, अज्ञानदशाका प्रसार, अपना घात ही घात चल रहा है और जब इसका वियोग हो गया तो इसके वियोगमें कष्ट, महा संक्लेश, आर्त ध्यान कर करके अपना घात करेगा। तो इन सब पदार्थोंकी उपेक्षा करके यह आत्मस्वरूपकी दृष्टिमें ही अपना निर्वाह है, बाकी तो इन बाह्य पदार्थोंके संयोगमें भी कष्ट और वियोगमें भी कष्ट, इस कारण हे जीव ! भयंकर दुःख देने वाले इन बाह्य विषयोंको तू खुद ही तज दे इनका वियोग होनेसे पहले, इसमें तू लाभ पायगा। पहले ज्ञान द्वारा समझ तो सही कि ये मेरी सत्तासे अत्यन्त भिन्न हैं, इनकी सत्ता इनमें है, मेरी सत्ता मुझमें है। क्या सम्बंध है ? कौनसी गुंजाइश है जिससे कि यह बात बने कि ये भोग विषय, ये मकान धन-धान्य ये कुटुम्बीजन ये मेरे कुछ तो कहलायें ? उनके सत्त्वको परखिये, रंच भी गुंजाइश नहीं है कि एक भी परमाणु, एक भी जीव कुछ भी मेरा हो सके। मोहकी कैसी विचित्र दशा है कि इन अनन्त जीवोंमें से जिनको आज गैर समझ रहे, परिचय भी नहीं, कोई एक जीव घरमें पैदा हो गया, पुत्र हो गया, अब उसकी शक्ल देख देखकर यह ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा समझते हैं उस भिन्न जीवको एकमेक कर डालते हैं, यह तो इस जीवपर बड़ी विपदा है, मोहके समान प्रबल शत्रु इस जीसका और कौन हो सकता है ? सो जब तक ये विषय, ये साधन, ये पाये हुए वैभव नष्ट न हों, उससे पहले ही तू छोड़ दे, क्योंकि ये तो नष्ट होंगे ही। ये नष्ट होंगे और तू छोड़ न सके तो उनके वियोगमें भी कष्ट पायगा। और उससे पहले

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तू छोड़ देगा तो उनसे तेरा चित्त भी हट गया, शान्ति पायगा, सन्मार्ग पायगा। यदि तुझसे पहले इसने छोड़ा तो तू कष्टमें रहेगा। उनके छूटनेसे पहले तूने अगर छोड़ दिया तो तू अनंत धाम, अनन्त सुख पायगा। अब यह तू विचार ले कि तू पहले ही इन सबसे मुक्त होना चाहता है या ये अपने आप छूटें और तू उनके वियोगका दुःख पाये, यह ही स्वीकार करता है ? कुछ विवेक कर। जो हितका मार्ग है उस मार्गपर चल।

धर्मे चित्तं निधेहि, श्रुतिकथितविधिं जीव भक्त्या विधेहि,
सम्यक्स्वांतं पुनीहि, व्यसनकुसुमितं कामवृक्षं लुनीहि।
पापे बुद्धिं धुनीहि, प्रशमयमदमान् शिढि, पिंढि प्रमादं,
छिंधि क्रोधं, विभिंधि प्रचुरमदगिरींस्तेऽस्ति चेन्मूक्तिवांछा ॥४१४॥

(१८५) **धर्ममें चित्त लगाने व शास्त्रोक्तविधिसे आचरण करनेका मुमुक्षुवोंका कर्तव्य**—हे आत्मन् ! यदि तुझे मुक्तिकी इच्छा है तो अपनी चर्या इस प्रकार बना, उस चर्याका इस छंदमें जिक्र किया है। मुक्ति मायने छुटकारा, किससे छुटकारा ? जन्ममरणसे छुटकारा जन्म मरण क्यों होता है ? आयुकर्मके उदयमें नया भव मिला, आयुकर्मके उदयमें यह भव मिटा, उस ही समय नवीन आयुकर्मका उदय हुआ, दूसरा भव मिला। इस निमित्तनैमित्तिक योगमें यह परिपाटी चली आ रही है। तो जहाँ समस्त संकटोंसे छुटकारा होता है वहाँ शरीरसे, कर्मसे, विकारसे सबसे छुटकारा हुआ। यदि संकटोंसे छुटकारा पाना है तो उनसे छुटकारा पानेका उपाय क्या है ? क्या शरीरको मले, शरीरका घात करे तो यों शरीर मिटेगा ? अरे यों तो और भी बुरा शरीर मिलेगा। तो क्या जो कर्मोंकी बात सुन रखी है उन कर्मोंका नाम ले लेकर उनको मिटानेकी बात कहें ? प्रभुस्तवनमें उन कर्मोंको ही खूब गालियाँ दें, इस प्रकार कर्मोंसे छुटकारा हो जायगा क्या ?, यों भी छुटकारा नहीं है। तब कैसे छुटकारा होगा ? कर्मफल जो रागद्वेषादिक विकार हैं ये नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं, परभाव हैं, मेरे स्वरूपमें इनका क्या सम्बंध है ? मेरे स्वरूपसे बाह्य हैं। इन बाह्य तत्त्वोंको क्यों लपेटें ? मैं अपने स्वभावरूप ही अपनेको अनुभवूं, यह स्थिति बन सके, केवल चैतन्यमात्र प्रतिभ समात्र अपने आपको अनुभव सके तो यह पुरुषार्थ समस्त संकटोंसे छुटकारा दिलायगा।

(१८६) **जीवविकारके संदर्भमें निमित्तनैमित्तिक योगके यथार्थ परिचयमें आत्मप्रगतिका अवसर**—सब कुछ तत्त्वज्ञान विकारसे हटने और स्वभावमें रमनेके लिए कराया जाता है। सबका एक ही प्रयोजन है, क्योंकि आत्माकी शान्ति, वास्तविक समृद्धिका लाभ विकारसे हटकर स्वभावमें रमनेपर ही होता है, सो आप आत्माके सहज स्वरूपका ज्ञान करें और जिनसे छुटकारा पाना है उन विकारोंका भी निर्णय बनायें जिससे कि उपेक्षा बन जाय। तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

संक्षेपमें आप एक सुगम विधिसे समझिये, ये विकार हैं, ये नैमित्तिक हैं, यह बात अगर यथार्थ रूपसे समझमें आये तो आपमें तीन प्रकारसे प्रगति बनेगी। यथार्थ समझ क्या कि पूर्वबद्ध कर्म जिसमें प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग चार प्रकारका बन्ध तत्काल हो गया था उनका जब अनुभाग उदय होता है तो होता है, कर्मके अनुभागका उदय कर्ममें है, सो जैसे कोई चूने का डला है और उसका काल समाप्त हो जाय या उसपर कोई पानी डाल दे, उदीर्णा हो जाय तो जैसे उस डलेका विडरूप बन जाता है, फूल जाता है, विचित्र स्थिति बन जाती है और उसके बाद वह शक्तिहीन हो जाता है, ऐसे ही कर्ममें जो अनुभाग पड़ा है, फलशक्ति उदय आनेपर या उदीर्णा होनेपर उस कर्मनिषेकमें बड़ा भयंकर विस्फोट होता है। जैसे दर्पण में यदि किसी लड़केने दाँत निकाला हो, बुरी प्रकारकी चेष्टा वाला मुख फोटोमें आ रहा है तो आप यह समझिये कि ऐसी भयंकर चेष्टाका वह मुख बना रहा है और उसका निमित्त पाकर यह भयंकर फोटो आ रहा है, ऐसे ही जब कर्ममें अनुभाग उदय होता है तो कर्ममें ही भयंकर स्थिति बनती है और उसकी फोटो, प्रतिफलन यह है जो रागद्वेष जैसा भयंकर रूप जीवमें बन रहा है, बस विकारका निमित्तनैमित्तिक योग यहाँ है, अन्यत्र नहीं। ऐसा परिचय करनेमें आपको तीन सुविधायें मोक्षमार्गकी प्रगतिके लिए मिलती हैं।

(१८७) निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयमें होने वाली प्रगतियोंका निरूपण—निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका प्रथम लाभ यह है कि जो लोगोंने यह भ्रम कर रखा है कि ये दृश्यमान पदार्थ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिक, धन वैभव कुटुम्ब मित्र आदिक ये मेरेको सुख दुःख देनेके निमित्तभूत हैं, एक तो यह भ्रम खत्म हो जायगा। वास्तवमें ये दिखने वाले पदार्थ मेरे सुख दुःखके निमित्त नहीं हैं। हमारे सुख दुःख रागद्वेष विकारके निमित्तभूत केवल कर्मविपाक है, दूसरा नहीं है। फिर लगता तो है यह। ये आश्रयभूत कहलाते हैं। इनमें उपयोग लगाया जायगा तो व्यक्त विकार बनेगा। तो विकारको प्रकट करनेके लिए ये आश्रयभूत कारण बनते हैं, आरोपित कारण बनते हैं। हमारे बनाये हुये कारण बनते हैं। ये वास्तवमें निमित्त नहीं हैं। निमित्त तो केवल कर्मोदय है। तो देखिये कितना शान्तिका अवसर मिला। जो घबड़ाते थे—हाय यों हो जायगा तो मुझे कष्ट हो जायगा। बाहरमें यों चीज बन बैठेगी तो मेरा क्या हाल होगा? अरे कुछ भी बन बैठे उससे मेरा हाल नहीं बिगड़ता। वह तो आश्रयभूत है। हम उनको उपयोगमें ही न लें तो फिर क्या बिगाड़ होगा? तो एक तो आश्रयभूत पदार्थोंसे उपेक्षा हो जाती है जिससे तत्काल शान्तिका अवसर मिलता है निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयमें दूसरी प्रगति यह है कि जहाँ यह जाना कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकार नैमित्तिक हैं, वहाँ यह बोध तो हुआ ना कि ये मेरी चीज नहीं हैं,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मेरे लिए वह कलंक है, अभिशाप है। मेरेसे विकार निपटकर केवल मेरे दुःखका ही बीज बनता है, जब यह बोध हो गया तो उन विकारोंके भी लगाव न रहेंगे। तीसरी प्रगति क्या कि जिसने विकारको नैमित्तिक समझा है उसने उससे निराले अपने स्वभावको समझा है। जिसने चैतन्यमात्र अपने स्वरूपको समझा है वही इस परभावको समझ सकता है। तो स्वभावदृष्टि होते ही सुगमतया ये तीन प्रगतियां चलती हैं।

(१८८) **विकारसे हटने व स्वभावमें लगनेके पुरुषार्थियोंका कर्तव्य**—विकारसे हटना, स्वभावमें लगना, बस यह ही एक काम पड़ा हुआ है, दूसरा मेरेको कोई काम नहीं पड़ा। यदि यह कर सके तब तो हमारे ये क्षण सफल हैं और यह बात यदि नहीं बनती तो लोग कहा करते हैं ना एक कहावत कि "आये थे हरिभजनको, ओटन लगे कपास।" यह जैनशासन, यह सुकुल, यह जिनवाणीका श्रवण, यह प्रतिभा, यह क्षयोपशम, ये मानो पाया था, इसलिए कि सदाके लिए संकट छूट जायें, ऐसा यह उपाय बना लें, किन्तु उपाय बनाया इसने संसारमें रुलनेका ही। सो यदि तू मुक्ति चाहता है तो उसका उपाय बना ले। चाहता कि नहीं चाहता ? देख सारे दुःखकी जड़ यह शरीरका सम्बन्ध बन रहा है। एक मोटे रूपसे सोचो—यदि शरीर न होता, केवल मैं ही मैं आत्मा होता जैसा कि मैं स्वरूपसे सत् हूं तब क्षुधा, तृषा, रोग, खांसी, ज्वर, श्वांस आदिक ये कहांसे होते ? यदि शरीर न होता इस जीवके साथ तो इसको वेदना यहां आती क्या ? केवल ज्ञानपुञ्ज जैसा कि मैं अपने शरीरसे हूं वैसा ही रहता तो इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग अपमान, निन्दा, गाली गलौज, कल्पना आदि ये बनते क्या ? किसी पुरुषने समझा कि मेरेको तो बड़ा अपमान हो गया तो उसने शरीरको समझा कि यह मैं हूं तब जाकर अपमानकी कल्पना बनी। ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको मानें कि यह मैं हूं तो उसके अपमानकी कल्पना बन ही नहीं सकती। इसका अपमान होता ही नहीं है। तो सारे कष्ट इस शरीर सम्पर्कमें हुए हैं। तो एक तो भावना बनाना कि मुझे तो शरीररहित अपना सत् चाहिए। ऐसी वाञ्छा होनेपर आपका शरीरसे मोह हट जायगा। इस शरीरका क्या मोह करना कि जिसके सम्बन्धसे दुःख ही दुःख रहता है और जो कुछ ही समय बाद इन इष्ट जनों द्वारा जला दिया जायगा। उस शरीरको इस ज्ञानसे पकड़े रखनेमें तुझे लाज नहीं आती। यह तो अत्यन्त भिन्न वस्तु है।

(१८९) **मोहके इच्छुक जनोंको संतोंका आदेश**—भैया, अपने ज्ञानस्वरूपको सम्हाल, धर्ममें चित्तको लगा दे। जैसी वास्तवमें विधि बतायी है, धर्मसाधनाका उपाय बताया है उस उपायमें मन लगाकर चल, अपने मनको पवित्र रख। मनकी पवित्रता उसके बन सकती है जो कि सर्व जीवोंमें उस चैतन्यस्वरूपको निरख सकता है। इसीके बलसे दूसरोंसे घृणा न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रहेगी, दूसरोंसे द्वेष न रहेगा, अपने आपमें नम्रता जगेगी, गुणोंमें प्रमोद जगेगा, अपना विकास होगा। अपने मनको पवित्र रखें और व्यसन रूपी फूलोंसे फूले हुए इस कामरूपी वृक्षको काट डालें, कामभावको त्याग दें, इसके फूल फल केवल विपत्तियाँ हैं, व्यसन हैं। पापकर्मसे अपने चित्तको हटा लें, शान्ति, दमन, और यम नियमका सहारा लें, विषयोंका शमन करें, इन्द्रियों का दमन करें। अयोग्य कार्योंका सदाके लिए त्याग करें या कुछ अवधि लेकर त्याग करें। बाह्यपदार्थोंका त्याग करना यदि कठिन लग रहा है तो इसके मायने है कि उनमें व्यामोह है। विषयोंका परिग्रहोंका यथाशक्ति याने शक्ति न छिपाकर उनका परिहार कर। यदि तू चाहता है तो प्रमादको दूर कर, क्रोधादिक कषायोंको नष्ट कर, घमण्डको चूर कर। घमण्ड कोई एक विधिका नहीं होता, किसीको बलका घमण्ड, किसीको रूपका, किसीको ज्ञानका, किसीको अपने ऐश्वर्यका, किसीको अपने चलाका घमंड है। जहाँ मद भरा हुआ है चित्तमें वहाँ आत्मस्वरूपकी दृष्टि नहीं बन सकती। अहङ्कारका मोह मिथ्यात्वसे सीधा सम्बन्ध है। जो मैं नहीं हूं उसमें अहंबुद्धि रखना अहङ्कार है और इस ही का अर्थ प्रसिद्धिमें घमण्ड है। सो हे आत्मन्! जैसा कि इस छन्दमें बताया गया उन विधियोंको किए बिना वास्तविक आनन्द पानेकी आशा करना केवल दुराशा है। तू मुक्ति चाह और मुक्तिके लिए धर्ममें चित्त लगा, कषायोंका परित्याग कर, सर्व जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरख। तत्काल भी आनन्द पायगा और इसी विधिसे कर्म नष्ट होंगे, सदाके लिए आनन्द पायगा।

बाधाव्याधावकीर्णे विपुलभववने भ्राम्यता संचितानि
दग्ध्वा कर्मेधनानि ज्वलितशिखिवदत्यंतदुःखप्रदानि।
यद्दत्ते नित्यसौख्यं व्यपगतविपदं जीव मोक्षं समीक्ष्य
बाह्यांतग्रंथमुक्ते तपसि जिनमते तत्र तोषं कुरुष्व ॥४१५॥

(१६०) **अनादि भवभ्रमणमें संचित कर्मेन्धनको जलानेके लिये निर्ग्रन्थ तपश्चरणमें संतोष करनेका उपदेश**—हे आत्मन्! बाधा रूपी व्याधोंसे व्याप्त इस संसाररूपी गहन वन में तूने अनादिकालसे भ्रमण किया है। जीव कबसे है? क्या कोई दिन बता सकते कि इससे पहले न था। जो न था वह है नहीं हो सकता। जो है उसका आदि अन्त नहीं होता। जीव है तो यह अनादिसे है। तो अनादिसे क्या इसकी हालत रही? यदि यह शुद्ध होता पहले तो अशुद्ध हो न सकता। यह अनादिसे ही अशुद्ध पर्यायमें चला आ रहा है। जीव यह स्वतंत्र सत् है, जैसे कि अन्य सभी पदार्थ सत् हैं इस कारण इनका स्वरूप इनमें है और वह स्वरूप यही है। जो है इस प्रकारका शुद्ध स्वरूप है, किन्तु परिणति अनादिसे अशुद्ध ही चली आ रही है। सो अनादिसे भ्रमण करते हुए तूने जिन कर्मोंको कमाया, जो कर्म जाज्वल्मान अग्नि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के समान दुःख देने वाले हैं ऐसे जिन कर्मोंका संचय किया है उनको जलानेके लिए उपाय बना। वह उपाय है बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों परिग्रहोंसे रहित होकर चैतन्यस्वरूपमें उपयोग लगानेरूप परम तपश्चरणका करना। तू तपश्चरणमें अपना चित्त लगा, विषयोंसे चित्त को हटा। इस परम तपश्चरणका फल नित्य और आपत्तिरहित मोक्षसुख है। तू तू ही है, तुझमें दूसरेके सत्त्वका मिलावट नहीं है, अब तू जैसा है वैसा अपनेको मान ले तब तो मोक्ष को प्राप्त कर लेगा और दूसरोंसे मिला हुआ दूसरोंके कारण ही मेरा अस्तित्व है, ऐसा अगर भाव रहेगा तो संसारका रुलना ही बना रहेगा।

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि।
कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे
पर्यालोच्येति जीव ! स्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं श्रय त्वं ॥४१६॥

(१६) **सहजस्वरूपदृष्टि करके मोक्षमार्गमें विहार करनेका उपदेश**—जैसे बताते हैं कि जलका स्वभाव ठंडा होता है, और जिस समय अग्निका संयोग पाकर वह जल गरम हो गया तो परिणति क्या है और स्वभाव क्या है, जैसे वहाँ बात समझमें आ रही है कि परिणति गरम है, विकृत है, अशुद्ध है, स्वभाव शीतल है। एक दृष्टान्त है। दृष्टान्त एक देश हुआ करता है, ऐसे ही अपने वर्तमान आत्माका विचार करे, परिणति अशुद्ध है, स्वरूप इसका चेतनामात्र है, जैसे दर्पणका स्वरूप स्वच्छ है, पर उसमें वर्तमान फोटो रहा ही करता है, दर्पणको आप सन्दूकमें बन्द कर दें तो क्या वहाँ प्रतिबिम्ब न रहेगा ? दर्पणको डिब्बेमें बन्द कर दीजिए तो क्या वहाँ प्रतिबिम्ब न रहेगा। जो सामने है उसका प्रतिबिम्ब। तो वहाँ निजी स्वच्छता और प्रतिबिम्ब जैसे दोनों पाये जाते हैं ऐसे ही आत्मामें निजी स्वरूप स्वच्छता और प्रतिबिम्ब नाना प्रकारके ज्ञान और जब कर्मोदयका निमित्त सन्निधान है तो वहाँ नाना प्रकारके रागद्वेषादिक विकार। तो परिणति अशुद्ध है, स्वभाव अपने रूप है, प्रयोग किसका होगा ? फल किसका मिलेगा, अनुभव किसका बनेगा ? जैसा परिणमन है उसका, और जिसके विवेक जग गया, ज्ञान जग गया वह अपने स्वरूपको दृष्टिमें लेकर मोक्षमार्गमें प्रगति करता है। सो मेरा एक शाश्वत आत्मा है, पर इस समय यह संसारमें दुःख भोग रहा है। मेरा स्वभाव ज्ञान, दर्शन, आनन्द यह सब है और वर्तमान हालत संसारमें दुःख भोगनेकी है, सो भले ही यह परिणति चल रही है, परन्तु परमार्थ तत्त्व तो देख, तेरा मात्र आत्मा ही तेरा है, अन्य कुछ तेरा नहीं, एक वस्तुका दूसरा कुछ होता नहीं। तब धन, स्त्री पुत्रादिक पदार्थ कुछ भी तेरे नहीं हैं। तेरा सत्त्व मात्र तेरा है जो तेरे अस्तित्वमें है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परिणमनमें है वह तो तेरे पास है। तेरी वस्तु है, बाकी अन्य कुछ भी तेरा नहीं है। परिण-मन भी जो नैमित्तिक है वह भी तेरा नहीं, क्योंकि यह मेरा नहीं है, सोच तो सही। मेरे घरमें आये हैं, मेरे शरीर सम्बंधसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिए सब कुछ नाता रिश्ता बन रहा है यह तो कहता नहीं यह इस कारण तेरे नहीं कि ये कर्मोंसे उत्पन्न हैं और विनाशीक हैं, यह संयोग, यह सम्बन्ध ये कर्मजन्य हैं, और इसी कारण विनाशीक हैं, इनका वियोग होगा, अतः ये सब तेरे नहीं हैं, इनमें मोह करना बिल्कुल व्यर्थ है। ऐसा कुछ ध्यान तो ला। अपने स्वरूपको तो टटोले नहीं और बाहर ही बाहर दृष्टि करके क्षोभ मचाये तो इसका कष्ट कोई दूसरा भोगने न आयगा। तेरेको ही कष्ट भोगना पड़ेगा। सो हे आत्मन् ! परम हितकारी सत्य मोक्षमार्गका आलम्बन कर, ये बाहरी कुछ भी तत्त्व आलम्बनके योग्य नहीं हैं, अपनेको बार-बार अनुभव कर कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानघन हूं, सहज आनन्दमय हूं, ज्ञानमात्र हूं अर्थात् मैं अपने सर्व प्रदेशोंमें ज्ञानसे ठोस हूं, सहज आनन्दमय हूं, मेरे स्वरूपमें कष्ट है ही नहीं। दुःख तो बताया जाता है, आनन्द मेरे स्वभावमें है, सो अपने स्वभावकी दृष्टि कर और मोक्ष-मार्गका आलम्बन कर।

ये बुध्यंतेऽत्र तत्त्वं न प्रकृतिचपलं तेऽपि शक्ता निरोद्धुं
प्रोद्यत्कल्पांतवातक्षुभितजलनिधिस्फीतवीचिस्यदं वा।
प्रागेवान्ये मनुष्यास्तरलतरमनोवृत्तयो दृष्टनष्टा-
स्तच्चेतश्चेद्गतत्स्थिरपरमसुखं त्वं तदा किं न यासि ॥४१७॥

(१९२) **प्रकृतिचपल चित्तके वेगकी प्रबलता और उसके विघातका उपाय**—यह मन बड़ा चंचल है, इसका वेग बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी रोकनेमें असमर्थ हो जाते हैं। इस चंचल मनके वेगको कौन रोक सकता है ? जैसे कल्पांतकालमें अर्थात् प्रलयके समयमें जो प्रबल वायु का वेग चलता है उस वायुसे प्रेरित समुद्रकी लहरोंको कौन रोक सकेगा ? ऐसे ही इस अज्ञानी के प्रबल मनकी चंचलताको कौन दूर कर सकता है ? पूर्व समयमें भी अनेक चञ्चल मन वाले रहे, मरण किया, अन्यत्र उत्पन्न हुए, कोई न रह सके। मनकी चंचलतासे कोई सिद्धि नहीं। इन विषयोंकी चञ्चलतासे कोई सिद्धि नहीं, इन विषयोंके प्रेमसे कोई सिद्धि नहीं। एक अपने सहज आत्मस्वरूपका परिचय पा ले तो तेरा हित है। ऐसा यह मन चञ्चल है, इसकी चञ्चलता दूर करनेके लिए सभी प्रकारका उपदेश है, जो शुद्धोपयोगमें तो ठहर नहीं पाता, यह तो बड़े त्याग तपश्चरण द्वारा साध्य है और शुभोपयोगसे घृणा कर करके अपना समय गुजारा तो उसके खोटे भवितव्यको कौन रोकने वाला है ? निरन्तर इस मनको सत्कार्योंकी ओर लगाये रहें अन्यथा अशुभमें, पापमें इसका मन लगेगा। दूसरे जीवोंसे घृणा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करना यह पाप है और धर्मके नामपर घृणा रखना यह और भी महापाप है। सर्व जीवोंका स्वरूप एक समान है, उस सहज स्वरूपपर दृष्टि क्यों नहीं जाती ? परिणतिपर क्यों दृष्टि जाती है ? स्वरूपपर दृष्टि प्रथम जाय तो प्रयोग तो परिणतिसे ही होगा, बाद परिणतिका ख्याल रखें ऐसा ज्ञानबल है तब तो अपनेमें सन्तोष करिये और किसीको देखते ही बाहरी दृष्टि जगे तो इस अज्ञानका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा।

(१६३) स्वरूपदृष्टिके बलसे परम आनन्द पानेका तंत्र करनेका उपदेश—भैया ! अपने आपमें सही विचार करिये—सर्व जीव एक चित् स्वरूप हैं। जितना अपराध है यह सब नैमित्तिक है। जीवका स्वयंका स्वरूपका क्या अपराध ? पर वह प्रकट नहीं है अतएव भ्रमण कर रहा। सो हे चञ्चल मन वाले पुरुष, देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिमें, गुणी जनोंकी संगतिमें, गुणी जनोंसे अपने आपके दोषोंकी गर्हा निन्दा करनेमें दूसरेके गुणोंका स्मरण करनेमें, सभी प्रकारके सत्कार्योंमें तू अपने चित्तको लगा, पर ध्यान रख केवल एक ही कि मुझे शरीर रहित आत्माकी स्थिति पानी है और वह स्थिति जिस उपायसे प्राप्त हो सकती है वह उपाय है इस अपने सत्तामात्र सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लेना। सो ध्येय तो यह रहे मुख्य, पर प्रवृत्ति अपनी शुभोपयोगकी करें, गृहस्थोंके शुभोपयोगकी प्रधानता आचार्योंने कहा है। शुभोपयोगसे भ्रष्ट हुए गृहस्थोंको कहीं ठिकाना न पड़ पायगा। एक कथानक है कि एक राजाको देवता सिद्ध हो गया वह देवता बड़ा कठोर था। सिद्ध होते ही बोला—राजन् काम बताओ, हम तुरन्त करेंगे और अगर काम न बताओगे तो हम तुम्हें तुरन्त खा जायेंगे ? तो राजाने कहा—अच्छा अमुक महल बना दो।···लो महल बन गया, राजन् काम बताओ।····तालाब बना दो।····लो तालाब बन गया, राजन काम बताओ।····सड़क बना दो।····लो सड़क बन गयी, काम बताओ। अब वह राजा बड़ी चिन्तामें पड़ गया कि आखिर कहाँ तक इसे काम बतायेंगे। यदि इसे काम न बतायेंगे तो यह मुझे मार देगा सो उसे एक युक्ति समझमें आ गई। बोला—एक ५० हाथका लम्बा लोहेका डंडा गाड़ दो···गाड़ दिया, काम बताओ। इसके एक छोरमें लोहेकी लम्बी साँकल बाँध दो और एक छोर अपने कमरमें बाँध लो।··· बाँध लिया, काम बताओ।····अच्छा अब तुम बन्दर बन जावो और हम जब तक मना न करें तब तक इस लोहेके डंडेमें चढ़ो उतरो। अब चढ़ गया तो उतरनेका काम पड़ा है, उतर आया तो चढ़नेका काम पड़ा है। इस तरह करते करते वह तो बड़ा हैरान हो गया, अन्तमें हार मानकर बोला—राजन् माफ करो, हमें इस परेशानीसे बचावो, अब जब कभी आप याद करेंगे तभी हम आपकी सेवामें हाजिर होंगे···। तो यह मन बन्दरकी तरह चञ्चल है। इसको काममें लगाये रहो तो यह वशमें रहेगा और अगर इसको काम न बतावोगे तो यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अशुभ कामोंमें लग जायगा। यह आप सब अनुभव भी कर रहे होंगे। तो इस बेईमान मन को जो धीरता पूर्वक वश कर लेगा, शान्त कर लेगा, उसे आत्मतत्त्वमें लगा लेगा तो परम सुख साधन भूत मोक्ष पद निकट कालमें ही प्राप्त होगा। अपनेसे बाहर कोई भी पदार्थ आश्रय करने योग्य नहीं है, एक आत्मस्वरूप ही आश्रय लेने योग्य है। और उसके नातेसे जिसके आत्मस्वरूप प्रकट हो गया है, परिणतिमें भी वही अवस्था आयी है जो स्वभाव है वह परमात्मा आराध्य होता है। अपने मनको परमेष्ठियोंकी भक्तिमें अपने आपके स्वरूपके मननमें लगा, तेरेको कल्याणमार्ग मिलेगा।

रे पापिष्ठातिदुष्ट ! व्यसनगतमते निंद्यकर्मप्रसक्त
न्यायान्यायानभिज्ञ प्रतिहतकरुण व्यस्तसन्मार्गबुद्धे।
किं किं दुःखं न यातो विनयवशगतो येन जीवो विषह्यं
त्वं तेनैनो निवर्त्यं प्रसभमिह मनो जैनतत्त्वे निधेहि ॥४१८॥

(१६४) **पापाशयवश किये कर्मोंके फलका स्मरण कर निवृत्तिमार्गमें चलनेके कर्तव्य का उपदेश**—सदा पाप कर्मोंमें ही लवलीन रहने वाले ये पुरुष अपने आपके आचरणपर विचार तो करें, तृष्णावश न जाने किन किनसे क्या-क्या व्यवहार करते हैं। असत्य, छल कपट, मायायुक्त वचन बोलकर न जाने किस किस प्रकारके व्यवहार करके अपना आचरण करते हैं। सो हे पाप करनेमें लवलीन रहने वाले पुरुष और भी अपनी त्रुटियोंको तो निरख। इन्द्रियविषयोंका तो तू लोलुपी बना है और अहंकारमें ऐसा डूबा है कि मैं ही समझदार हू, मैं ही बुद्धिमान हूं, अपने आपको ज्ञानी समझ रहा है और है विषयलम्पटी। सो अपने आपकी त्रुटिको तो निरख। नीचकर्ममें लगे हुए हे पापिष्ट, न्यायकी पहिचानसे रहित निर्दय होकर तू मोक्ष मार्गसे भृष्ट हो रहा और पुण्योदयसे कुछ सुखसाधन पाया तो तू इतना अहंकार बसा रहा है कि तेरी दृष्टिमें अन्य कोई मानो जीव ही नहीं है, मैं ही सब कुछ हूं, ज्ञानी हूं, ध्यानी हूं, समझदार हूं, पुण्यशाली हूं, वैभववान हूँ, ऐसा अपनेमें अहंकार बसाये है और अन्तः नीचकर्ममें लग रहा। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापोंमें रहना यह अपने आपको भृष्ट करना ही तो है। ऐसे श्रेयोमार्गसे भृष्ट हुआ जीव न जाने क्या क्या दुःख नहीं भोगता। नरकोंमें नरक जैसा, पशुपक्षियोंमें रहकर उन जैसा, मनुष्योंमें मनुष्य जैसा, जिस भवमें गया उस ही भवमें तू ने कल्पनासे या शरीरकी व्याधिसे या अनेक कारणोंसे अहंकारवश तू ने दुःख भोगा। अब तू पापके परिणामोंको तिलाञ्जलि दे दे और जैन शासनके अनुसार जो चर्या कही गई है, आचरण कहा गया है उस आचरणमें, उस संयममें अपने मन को लगा। शरीरका यह जीव इतना रुचिया बन गया है कि संयम साधना किये जानेके प्रश्न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर ज्ञानकी गप्प लगाकर अपनेको विषयोंका प्रेमी रखना चाहता है, इतना विषयलोलुपी है। कदाचित कोई यह कहे कि ज्ञान बिना विषयोंका त्याग करना, संयमका पालन करना ये फल नहीं देते, तो क्या ज्ञान बिना असंयमसे बना रहना यह फल दे देगा ? कुछ तो बिचार, इस अपवित्र शरीरसे इतनी प्रीति क्यों की है ? अपनी शक्तिको न छिपाकर जैन शासनमें बताया गई विधिसे अपनेको आचरणमें लगा और साथ ही साथ अन्तः विशुद्धिके लिए तू परमात्मतत्त्व की, सहज आत्मस्वरूपकी उपासनामें चल। जो इन विषयोंको तिलाञ्जलि न देगा तो संसार में जन्म मरणके दुःख सहते ही रहना पड़ेगा।

लज्जाहीनात्मशत्रो कुमतगतमते त्यक्ततत्त्वप्रणीते
धृष्टानुष्ठाननिष्ठ स्थिरमदनरते मुक्तिमार्गाप्रवृते।
संसारे दुःखमुग्रं सुखरहितगताविंद्रियैः प्रापितो यै-
मापिद्या स्तेषजीव ! व्रजसि गतघृण ! ध्वस्तबुद्धे ! वशित्वं ॥४१६॥

(१६५) दुःखबीज कुकर्मोंमें उमंग करनेकी निन्दा—हे लज्जारहित आत्माके शत्रुभूत मिथ्या धारणावोंके मतोंके आलम्बन करने वाले तत्त्वश्रद्धानसे रहित जीव, कुछ तो विचार कर। जो पापकी प्रवृत्तियाँ हैं, इन्द्रियके विषय सेवन हैं, कामादिकमें जो दृढ़ प्रतीति कर रखी है उन प्रवृत्तियोंसे इस संसारमें तू ने अपने आपको बड़े कष्टमें रखा। रंच भी अपने को आनंद न दिला सका। चिन्ता, विचार, कल्पना, क्षोभ, हापड़ धूपड़ अधीरता, पराधीनता आदि कितनी ही तकलीफ पायी, पर तू अपने उस मोहको न छोड़ सका, कष्ट ही पाता रहा, जिस मोहके कारण उस ही मोहसे तू लगाव भी रखता रहा। तो जिन इन्द्रियों ने दुःखमयी संसारमें तुझे नाना प्रकारके कष्ट दिया तू उन इन्द्रियोंके वश अब भी चल रहा है। अब तो इन्द्रियकी दासता छोड़ दे और अपने धर्माचरणमें लगा दे। देखिये—इस शरीरके प्रति जो लगाव है, यह मैं हूँ इस प्रकारकी भीतर जो बुद्धि है यह बहुत बड़ा पाप है, इसीके कारण ही दूसरेका अपमान करना, दूसरोंसे अपमान मानना, कितनी ही मनकी उड़ान ये सारे कष्ट इस शरीरके लगावसे चल रहे हैं। शरीरकी कल्पना छोड़कर स्वयं ज्ञानमय अपने आपके इस ज्ञानस्वरूपको निरख और देख ले कि ज्ञानमें ज्ञानको रमानेसे कैसी निराकुलता मिलती है, जब कि इन बाह्य समागमोंमें चित्तको रमानेसे कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ता है। सो इन इन्द्रियके वश मत हो, इनका लगाव छोड़ अर्थात् इनको अपना सर्वस्व मत मान। एक सेवककी भाँति जब तक आवश्यकता है तब तक इस शरीरकी रक्षा करते हुए अपने आत्मस्वरूपकी उपासनामें, मननमें अपने चित्तको लगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सर्वव्याघ्रेभवैरिज्वलनविषयमग्राहशत्रुग्रहाद्यान्
हित्वा दुष्टस्वरूपान् ददति तनुभृतां ये व्यथां सर्वतोऽपि ।
तान् कोपादीन्निकृष्टानतिविषमरिपून्निर्जय त्वं प्रवीणान्
रे रे जीव ! प्रलीनप्रशमगतिमते दग्धभग्नस्वशत्रो ॥४२०॥

(१९६) **जीवके प्रबल शत्रु कामादिक विकार**—शान्ति सुखसे विमुख हुए हे प्राणी तू जिन पदार्थोंको अपना बैरी समझता है वे वास्तवमें तेरे बैरी नहीं हैं। ये लोग जिन्हें बैरी समझते हैं साँप, शेर, हाथी, अग्नि आदिक वे वास्तवमें तेरे शत्रु नहीं हैं, किन्तु तेरे ही चित्त में जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदिक बसे हैं ये ही तेरे बैरी हैं, क्योंकि वे बाह्य पदार्थ तेरे शुद्ध स्वरूपका विघात करने वाले नहीं हैं। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ परिणमन नहीं कर पाता क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वयं अपना अस्तित्व लिए हुए है, किन्तु ये विकार, मोह, काम क्रोधादिक भाव ये तेरे शुद्धस्वरूपका साक्षात् विघात करने वाले हैं, अर्थात् तेरी शुद्ध अवस्थाको प्रकट नहीं होने देते। तब वास्तवमें तेरा शत्रु कौन रहा ? ये काम क्रोधादिक भाव। तो अब तू किसी भी पर पदार्थको अपना बैरी मत समझ, किन्तु विकारभावको ही अपना घातक समझ कर उनकी असलियत जान और उनकी उपेक्षा कर। इसी प्रकार जिन को तू अपना हितू समझता हैं वे वास्तवमें तेरे कठोर शत्रु है, इस ओर ध्यान दे।

(१९७) **मोही जीवका मौलिक मोह**—इस मोही जीवको सबसे प्यारा क्या है ? सबसे अधिक प्यारा है इसको अपना विकार। यह तो एक कहना मात्र है कि बन्धु प्रिय है, पुत्र प्रिय है, धन प्रिय है, बाह्य वस्तु प्रिय हैं। बाह्य वस्तु प्रिय बने ऐसा वस्तुस्वरूपमें हो ही नहीं सकती, क्योंकि प्रेम एक पर्याय है। राग परिणति है। किसकी परिणति है ? इस मोही रागी अशुद्ध जीवकी परिणति है। तो परिणति स्व द्रव्यके प्रदेशोंमें रहेगी या परद्रव्यके प्रदेशोंमें पहुंचेगी ? चाहे विकार परिणति हो वह भी अपने ही द्रव्य प्रदेश में रहती है अन्य जगह नहीं रहती। परिणति इस जीवकी है, तो रागका प्रयोग स्वयंपर हुआ या अन्य पर हुआ ? स्वयं पर हुआ। तो यह जीव अपने पर ही प्रेम करता है दूसरे पर नहीं करता। और यह करता है अपने इस विकार रूप पर। घरमें कोई लुटेरा आ जाय बंदूक लिए हुए तो सबको अपनी-अपनी पड़ती है। वहाँ फिर जो प्रेमकी गप्प मारी जा रही थी वह कहाँ जाती है ? एक दूसरेका ख्याल कोई नहीं करता, वह स्वयं अपने प्राण बचाकर झट भगता है। तो खुद पर ही तो वास्तवमें इसने प्रेम किया, पर विकृत स्वयं पर प्रेम किया। कोई ऐसे भी महापुरुष हुए हैं कि वे शुद्ध स्वरूपकी रुचि करते हैं। मोही जीव अपने विकृतरूप की रुचि करते हैं, पर कोई किसी दूसरेमें प्रेम नहीं कर पाता। तूने अपना हितू समझा है हे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मोही अपने विकारस्वरूपको। क्रोध, मान, माया, लोभ इन विकारोंसे तू प्रेम करता है। राग में राग होनेमें ही तू अपना महत्त्व समझता है।

(१६८) **विकार शत्रुवोंसे हट कर शाश्वत शरण्य सहज स्वतत्त्वमें रुचि करनेका कर्तव्य**—राग भी खोटा होता है, ज्ञान जग जानेपर भी कुछ काल तक राग चलता है, मगर ज्ञानी जीवको अपने राग परिणमनमें राग कभी नहीं होता। मोही, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव को अपने विकार परिणमनसे बड़ा प्रेम होता है। यह मैं हूं। सो हे प्राणी जिसको तू अपना हितू समझता है वह तेरा वास्तवमें शत्रु है। तुझे सब तरहसे पीड़ा देने वाला कौन? यह भीतरकी कल्पना, भीतरका विकार, भीतरका मोहविलास, यह तुझे पीड़ा देता है। यह निकृष्ट है और बड़ी कठिनतासे जीतने लायक है। यह सुगमतया नहीं जीता जा पा रहा। जीता तो जाता सुगमतया, जिसे मार्ग मिल गया उसे सब सुगम है, जिसको वह मार्ग नहीं मिल उसके लिए कठिन है। एक निज अंतस्तत्त्वमें आपा माने, फिर यह सब सुगमतया जीत लिया जायगा, पर कोई कुमार्गपर तो चल रहा और उसे मान रहा कि मैं ठीक चल रहा हूं तो उसका यह हठ इतना कठिन होता है कि उसे इस आग्रहका छोड़ना कठिन होता है और वह संसारमें रुलता है। ये विषय ही तेरे कठिन शत्रु हैं। तब तू अन्य जीवोंमें बैर बुद्धिको त्याग दे और अपने इन विकारोंको शत्रु समझकर विकारोंसे हटनेके लिए तू अपना पौरुष कर।

मैत्रीं सत्त्वेषु मोदं गुणवति करुणां क्लेशिते देहभाजि
मध्यस्थत्वं प्रतीपे जिनवचसि रतिं निग्रहं क्रोधयोधे।
अक्षार्थेभ्यो निवृत्तिं मृतिजननभवाद्भीतिमत्यंदुःखाद्
रे जीव त्वं! विधत्स्व च्युतनिखिलमले मोक्षसौख्येभिलाषं ॥४२१॥

(१६६) **सर्व प्राणियोंमें मैत्रीकी सद्भावना**—हे आत्मन्! तू अपने कल्याणके लिए शाश्वत मोक्षका आनन्द पानेके लिए तू सद्भावनाको कर। सर्व प्राणियोंमें मैत्री भाव कर। कहाँ तो यह चाहिए कि चाहे एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक कोई भी जीव हो सर्व जीवोंमें उनके सहज चैतन्यस्वरूपको निरखना और इस नातेसे उनमें मैत्री भाव आना और कहाँ रागद्वेष मोहके वश होकर गुणीजनोंसे भी विमुख होना, घृणा होना और अपने आपमें अहंकार लाना। एक ऊँची स्थिति पाकर भी यदि विकल्पका काम चल रहा है तो इतना कठिन विकल्प होगा कि फिर सुलटना बड़ा कठिन होगा। करणानुयोगमें बताया है कि यह जीव त्रस पर्यायमें आता है तो कुछ अधिक दो हजार सागर तकके लिए आता है, इसके बाद फिर त्रस पर्याय नहीं रहती। इसके बाद नियमसे स्थावरोंमें जन्म लेना होता है। जीवनका एक एक क्षण कीमती है। जिसमें परिणामोंकी सावधानी रखना परिणामोंको नम्र, क्षमाशील कपट रहित

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सही रखना अन्यथा इतने ऊँचे स्थानसे गिरकर उसकी बहुत ही खोटी अवस्था प्राप्त होगी। तो देखो सर्व जीवोंमें तू मैत्री भाव रख, अपने पर करुणा कर, बाहरमें कुछ मत समझ, मत देख। न बाहरका कोई संकोच बना, अपने आप पर दया करके जो अपने योग्य पंथ है, मार्ग है आत्ममार्ग उस मार्गके अनुसार प्रवृत्ति कर। सबसे पहली विजय यह है कि प्रत्येक जीवमें मेरे सहज स्वरूपका दर्शन हो। जैसे अन्य लोग कहते हैं कि घट-घटमें भगवान बसा है, उन के घट घट तो समस्त पदार्थ हैं पर यहाँ हम आपका घट घट जीव पदार्थ है। समस्त जीवोंमें वह भगवत् स्वरूप बसा हुआ है। अपने सत्त्वके कारण अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप स्वयं सहज किस रूप है उस रूपके सर्व प्राणियोंमें दर्शन करें। इससे लाभ यह होगा कि शत्रुता और मित्रता इन दोनोंकी कल्पना दूर हो जायगी और सहज विरक्ति जगेगी। सर्व जीवोंमें मित्रता करें अर्थात् किसी भी जीवके दुःखकी भावना मत करें। सर्व जीव अपना स्वरूप प्राप्त करें। एक चादरकी ओटमें ही बड़े समुद्रका अवगाह रुक गया, ऐसे ही एक स्व परके विभ्रमकी ओट में इस आनन्दधाम भगवान अंतस्तत्त्वका अनुभवरूप अवगाह रुक गया। स्वरूपदृष्टि करें और स्वरूपदृष्टि करनेका पात्र तब ही हो पायगा जब कि कषायें मंद हों। कुछ थोड़ा विवेक हो, जैन शासनके अनुसार आचरण वृत्ति चलनेका प्रयास हो, ऐसे योग्य आत्मामें वह दृष्टि जगती है जिससे सहज स्वरूपका दर्शन होता है। तो हे मुक्ति सुख चाहने वाले पुरुष सर्व जीवोंमें मित्रताका प्रयोग कर।

(२००) **गुणवंतोंमें प्रमोदकी सद्भावना**—हे मोक्षाभिलाषी आत्मन्, गुणवानोंका आदर कर। मनुष्योंमें एक बड़ी दुर्बलता यह होती है प्रकृत्या कि वे अपनेको यह मान बैठते हैं कि मैं जो समझता हूं बस समझ वही है और अन्य जीवोंमें शायद यह भी नहीं समझ पाता कि इसमें भी ज्ञानस्वरूप है। वह समझता है कि अगर यह जान रहा है तो कुछ उधार जान रहा है, एक ऐसी अहंकारकी वृत्तिकी दुर्बलता मनुष्योंमें प्रकृत्या होती है और इस त्रुटि के कारण वे गुणवंतोंके प्रति आदरभाव नहीं रख सकते। उसका फल यह होता है कि दर्शन-मोहका तीव्र बन्ध होता है और संसारके जन्म मरणकी परिपाटी लम्बी हो जाती है। हितके लिए तो यह प्रकृति बनना चाहिए कि अपनेमें अपनी कमी देखें, दोष देखें ताकि घमंड न आये और उन दोषोंको दूर करनेका मनमें भाव जगे। यदि कोई ज्ञानी पुरुष है, सम्यग्दृष्टि है, चतुर्थ गुणस्थानमें है तो अपने अविरत भावके प्रति उसे खेद है, अविरत भावको दूर करने का निरन्तर भाव रहता है और उसे अपनी यह अविरत त्रुटि नजर आती है और कोई अज्ञानी है तो अपनेमें ज्ञानकी, सम्यक्त्वकी कल्पना बनाकर अविरत भावकी ओरसे तो कुछ कल्पना ही नहीं जगती। दूसरोंके व्रत महाव्रत आदिकको विष देखता है मगर अपने अविरत

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भावकी मोहविषता उसकी नजरमें भी नहीं आती और कल्पित अपनेमें बुद्धि बनाकर अहंकार करता है। तब ही तो बताया है कि ज्ञानी वही है जिसके संयमके लिए एक भीतर छटापटी का भाव रहता है। मैं कब संयम पालूं, कब आत्ममग्न रहूं, यह बुद्धि उनके ही जग सकती है जिनको गुणवंतोंमें प्रमोदकी भावना है और अपने आपमें अहंकार नहीं जगता। सो हे मुक्तिसुखके इच्छुक तू गुणवानोंमें प्रेम कर। कदाचित् कोई न हो गुणवान सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संयमी और उसके बाह्य रूपसे और अपनी एक भक्ति परिपाटीसे उनमें प्रमोद जगे तो उससे हानि नहीं है, किन्तु किसी ज्ञानीकी आसादना हो जाय तो उससे विकट हानि है। अतः सावधान रह और गुणवंतोंके प्रति प्रमोद रख। दूसरोंमें क्यों नहीं गुणका दर्शन होता? उसका कारण यह है कि स्वयंमें गुणोंके प्रति प्रेम नहीं, किन्तु विकारके प्रति दोषके प्रति प्रेम है, जिसको दोषकी प्रकृति रहती है जिसको दोषका आदर रहता है उसे अन्यत्र तुरन्त पहले दोष ही नजर आते हैं, जिसको गुणोंसे प्रेम रहता है, अपने गुणोंमें रुचि रहती है उसको अन्यत्र प्रथम गुणके दर्शन होते हैं। तो हे मुक्तिसुखके इच्छुक पुरुष इस जगतमें कोई किसीका सहाय नहीं, अपने आपपर स्वयं करुणा करनी होगी और अपने आपमें अपना पौरुष जगाना होगा। तू गुणप्रेम कर। गुणीजनोंका आदर कर, उनमें प्रमोदभाव कर।

(२०१) दुःखी जनोंमें कारुण्यकी तथा विपरीतवृत्तियोंमें माध्यस्थ्यकी सद्भावना—हे सुखेच्छुक! जो रागादिकसे पीड़ित हैं, किसी भी कारण दुःखी हैं उन दुःखी जीवोंमें करुणाभाव कर। तेरेमें सामर्थ्य है कि अपने किसी पौरुषसे उसके संकटके दूर करनेमें हम सहयोग दे सकते हैं और फिर भी तू उनपर दया नहीं करता है, क्रूर परिणाम रखता है तो उस रौद्रध्यानका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा। तू दुःखी जीवोंपर दया कर। चौथी बात—शत्रुवोंमें, अज्ञानियोंमें, विरोधियोंमें जिन्हें मान रखा कि ये विपरीत वृत्ति वाले हैं उनमें मध्यस्थ भाव रख, क्योंकि विपरीत वृत्ति वाले अर्थात् दुष्ट लोगोंमें यदि राग करे तो आपत्ति, द्वेष करे तो आपत्ति। तो जो दुष्ट जन हैं उनमें तू मध्यस्थ भाव रख, उनसे शत्रुता मत कर, उनसे बदला लेनेकी भावना मत रख। जान ले कि परवस्तु हैं, ऐसा परिणमन है, उनमें मध्यस्थ भाव रख।

(२०२) जिनोपदिष्टतत्त्वश्रद्धान, क्रोधपरिहार व भोगपरिहारकी सद्भावना—५वीं बात—जिनेन्द्रभगवानके वचनोंपर श्रद्धा कर। प्रभुने क्या उपदेश दिया। कैसे आत्मदृष्टि करना, कैसे कषायोंपर विजय करना, कैसे अन्य पदार्थोंकी उपेक्षा करना। जो उपाय बताये गए हैं उन उपायोंका श्रद्धान कर और शक्ति न छुपाकर उन उपायोंपर चल। छठवीं बात—क्रोधरूपी योद्धावोंके शत्रुवोंके निग्रह करनेमें लवलीन हो। क्रोध परिणति, जरासी प्रतिकूल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बात किसीकी दिखी तो झट चित्तमें क्रोध भर आता है। ऐसे कायर जन आत्मकल्याण कैसे कर सकते हैं ? तो क्रोधका निग्रह कर। ७वीं बात—इन्द्रियभोगोंसे सर्वथा दूर रह। कामसेवन किया, स्पर्शनइन्द्रियका सुख लिया तो कौनसा लाभ पा लिया ? बहुत बड़ी अवस्थामें पहलेके किए हुए अपराधोंपर पछतावा होता है। किसी पुरुषको तो अत्यन्त बुढ़ापा होनेपर भी पछतावा नहीं होता, बल्कि उनका स्मरण करके भीतर मौज मानता है। अनेक प्रकारके पुरुष हैं जो बुढ़ापेमें भी पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण कर मौज मानते हैं। शान समझते हैं और दूसरोंको जताते हैं कि हमने ऐसे ऐसे सुख भोगे, वे तो बहुत हीन नम्बर वाले व्यक्ति हैं, उनसे अच्छे तो वे हैं जो अपने भोगे गये भोगोंपर, अपराधोंपर पछतावा करते हैं कि हमने व्यर्थ समय खोया, और सबसे भले वे हैं कि अपनी जवानीके समय भी उन सब अपराधोंसे दूर रहनेकी भावना रखते हैं और उनसे भले वे हैं जो बचपनमें ही उन सबसे दूर रहनेकी भावना रखकर शुद्ध आचरण वाले बन जाते हैं।

(२०३) **भोगासक्तोंका एक चित्रण**—वेदान्तकी जागदीशी टीकामें एक छोटासा दृष्टान्त दिया है कि एक भंगिन मलका टोकना लिए जा रही थी, बाजारमें से निकली, तो एक सज्जनने उसको बहुत बढ़िया सफेद चमकीला तौलिया दिया और कहा कि तू इस तौलियासे ढाक ले, इस मलको देखकर बहुतसे लोगोंको कष्ट होता है, सो उसने उस चमकीले, साफ तौलियासे ढाक दिया मलके टोकनेको। अब उसे देखकर उसके पीछे तीन व्यक्ति लग गए। तो भंगिनने पूछा—आप लोग मेरे पीछे क्यों लगे हैं ? तो वे बोले—हम लोग देखना चाहते हैं कि तुम इस टोकनेमें क्या लिए जा रही हो ? तो भंगिन बोली—मल है इस टोकनेमें। तो मलका नाम सुनकर उनमेंसे एक व्यक्ति वापिस हो गया, दो व्यक्ति अभी भी पीछे लगे रहे। फिर भंगिनने पूछा—आप लोग अभी भी पीछे क्यों लगे हैं ? तो वे बोले—हमें तुम्हारी बातपर विश्वास नहीं होता, तुम झूठ बोलती हो। हमें तो खोलकर दिखाओ तब विश्वास होगा। सो भंगिनने तौलिया उघाड़ दिया, सो मल देखकर उन दो में से एक व्यक्ति वापिस लौट गया। उस तीसरे व्यक्तिको अभी भी विश्वास न हुआ, वह फिर भी भंगिनके पीछे लगा रहा। भंगिनने फिर पूछा—भाई अभी भी तुम मेरे पीछे क्यों लगे हो ? तो वह व्यक्ति बोला—हम तो जब सूंघ सांघकर अच्छी तरह परीक्षा करके समझ लेंगे तब विश्वास होगा, तभी वापिस लौटेंगे। आखिर भंगिनने टोकना उघाड़कर रख दिया, उसने भली-भांति सूंघ-सांघकर परीक्षा कर लिया तब वापिस लौटा। तो ऐसे ही समझो कि कुछ लोग ऐसे होते कि जरासे उपदेशमें, निर्देशमें विषयभोगोंका परिहार करते हैं, कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उनको देख-भालनेके बाद छोड़ते हैं और कुछ ऐसे मोही होते हैं कि उस ही की चिन्तामें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहेंगे, छोड़ेंगे कभी नहीं। ये विषय तेरे शत्रु हैं, इनमें प्यार न रख, प्रीति कर तो अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, धर्मपालनमें, आत्मस्वरूपके निरखनेमें। और उसमें उपयोग रमाकर तृप्त रहनेमें तू अपना पौरुष कर।

(२०४) **जन्ममरणव्याप्त संसरणसे निवृत्त होने व शाश्वत मोक्षका आनन्द पानेकी सद्भावना**—हे आत्महितैषी, अब तो दुःख देने वाले जन्म, जरा, मरणसे भयभीत हो। देख तुझे यदि जन्म चाहिये तो उसका सबसे सुगम उपाय है कि इस शरीरकी मानता रह कि यह मैं हूं। बस तुझे खूब जन्म मिलते रहेंगे। जरा और मरण प्राप्त करते रहनेकी भी यही विधि है कि खूब इस शरीरको आपा मान कि यह ही मैं सर्वस्व हूं, बस तुझे खूब जीवन मिलेंगे, अनेक जन्म मिलेंगे। सो जरा सोच तो सही कि जन्म ले लेकर तूने क्या नफा पाया? कष्ट ही कष्ट पाया। जन्मते समयका कष्ट, मरते समयका कष्ट और जन्ममरणके बीचमें जितनीसी जिन्दगी मिलती है उसमें नाना तरहके कष्ट, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, नाना वेदनायें, नाना आशायें करके नाना कल्पनायें करके कष्ट पाता है। सो अब तू जन्म जरा मरण आदिकसे भयभीत हो अर्थात् उनसे दूर होनेके लिए शरीरसे उपेक्षा कर। ६वीं बात—अन्तिम बात यह है कि कर्ममलरहित पवित्र नित्य शाश्वत सुखके प्राप्त करनेकी अभिलाषा रख। यह पूर्ण निर्णय बना कि मुझे तो शरीररहित केवल स्वरूपमात्र रहनेकी स्थिति प्राप्त हो और इसके लिए इसी समय शरीरसे निराले ज्ञानमात्र अपने अंतःस्वरूपकी उपासना कर।

कर्मानिष्टं विधत्ते भवति परवशो लज्जते नो जनानां
धर्माधर्मौ न वेत्ति त्यजति गुरुकुलं सेवते नीचलोकं।
भूत्वा प्राज्ञः कुलीनः प्रथितपृथुगुणो माननीयो बुधोपि
ग्रस्तो येनात्र देही तुद मदनरिपुं जीव! तं दुःखदक्षं ॥४२२॥

(२१५) **कामविषयकी अतिनिन्द्यता**—आत्मस्वरूपका बोध न होनेसे इस जीवके इन्द्रियविषयोंमें प्रीति अनादिसे चली आ रही है। शरीरको माना कि यह मैं हूं और इन्द्रिय द्वारा ज्ञान हो सक रहा है, परोक्षज्ञानकी यही विधि है, जाननहार तो आतमा है, पर जैसे किसी कमरेमें बन्द पुरुष खिड़कियों द्वारा ही देख सकता है ऐसे ही इस बन्धनमें बद्ध जीव इन इन्द्रियों द्वारा ही जान सकता है। सो इस जीवको इन्द्रियोंमें प्रीति होना प्राकृतिक बात है। सो यह जीव इन्द्रिय विषयोंमें आसक्त हो रहा है, इसे सहज आनन्दके धाम निज स्वरूप की सुध ही नहीं है और आनन्द पानेका इसका व्रत है, सो आनन्द यह जरूर पायेगा, चाहेगा, चाहे विकृत हो, चाहे शुद्ध हो। तो यह इन्द्रियविषयोंसे इन्द्रियकी सेवाके लिए प्रीति कर रहा है और उन विषयोंके दुःखमें दत्त विषय है कामविषय। जो अन्य विषयोंकी अपेक्षा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बहुत ही बेकार है। विषय सभी बेकार हैं, पर खाना पड़ता है, संयमका साधनभूत शरीरकी रक्षा करनी होती है, खाना जरूरी हो गया जीवन रखनेके लिए। एक सही वातावरण भी चाहिये नहीं तो यह शरीर मुर्झा जायगा, तो थोड़ा गंधका वातावरण भी जीवनके लिए उपयोगी है। नेत्र सदा काम करते रहते हैं। हाँ पलक बन्द कर लो तो न करेंगे काम, देखते तो रहते ना, इन नेत्रोंसे हम स्वाध्याय करें, सत्संग करें, गुरुदर्शन करें, प्रतिबिम्बदर्शन करें, हम कई कामोंमें इनका उपयोग कर सकते हैं। अच्छा कर्णेन्द्रियकी भी बात देख लो—प्रवचन सुनना, जिनवाणी सुनना, उपदेश सुनना, यों बहुतसे कामोंमें इन कानोंका उपयोग कर सकते हैं, पर स्पर्शनइन्द्रियका उपयोग तो बताओ और क्या हो सकता? उसमें कामसाधनकी बात कह रहे, इन इन्द्रियविषयोंमें रसनादिके विषयोंको तो हम कुछ ठीक उपयोग भी बना सकते, पर इस कामविषयक जो विषय है उसका उपयोग कोई नहीं बन सकता। इतना गंदा अपवित्र अहितकारक यह विषय है, जिसके विचारसे खोटा बंध, जिसके आरम्भमें खोटा बन्ध, जिसके प्रयोगमें खोटा बंध।

(२०६) **कामवशी जीवोंकी अयोग्य कार्य करनेमें निर्लज्जता व विवेकशून्यता**—हे प्राणी सबसे प्रबल शत्रु तेरा है काम जिसके कारण कुछ बड़ा बन जानेपर भी विद्वान्, कुलीन, गुणी, सम्माननीय होनेपर भी अनिष्ट कार्योंको कर डालता है। कैसा यह भूत है कि देवोंका भूत फिर भी अच्छा, पर अपने आपमें जो कामविषयक भूत है वह कितना विनाशकारी है कि बुद्धिको बिगाड़ दे और अनिष्ट कार्योंको करा दे। और कामके वश होकर यह जीव ऐसा पराधीन हो जाता कि इसको तनिक भी लज्जा नहीं आती। जो कामके वशीभूत हैं अनेक लोग उनको कोई तिरस्कारपूर्व वचन भी सुना देता है, वे परोक्ष भी सुन लेते हैं पर वे कामासक्त जन अपने आग्रहको नहीं छोड़ पाते। कैसा विवश है यह जीव अज्ञानके कारण। अज्ञान मोह जैसी कोई विपदा नहीं। जिसको परिचय न हो पदार्थोंका उसपर बड़ी विपदा है। चूंकि जगतमें हम आप रहते हैं, कर्मके वातावरणमें रहते हैं तो हमको सर्वतोमुखी ज्ञान चाहिए तब हम आत्माके स्वरूपकी आराधना कर सकते हैं। जिनसे हमें हटना है उनका परिचय करते नहीं हैं सही, सो हटनेका प्रयोग न बन पायगा, सो अनात्म तत्त्वोंका भी विधिवत् परिचय चाहिये। कार्य यह होगा फिर कि अनात्मतत्त्वसे हटना आत्मतत्त्वमें लगना, पर इस विधिके लिए हमें सर्व प्रकारसे ज्ञान चाहिए, और ज्ञान बढ़ता जाय वह लाभ ही देगा। तो यथार्थ ज्ञान बिना इस जीवके इन्द्रिय विषयोंमें आसक्ति बन जाती है और उनमें प्रधान हैं स्पर्शनइन्द्रियका विषय। सो इसके वश होकर लोग निर्लज्ज होते हैं, अनिष्ट कार्य कर डालते हैं। कामी पुरुषके धर्म अधर्मका विचार नहीं रहता है, मानो उसके दिमागमें कीड़ा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नाचने लगता है। बुद्धि व्यवस्थित नहीं रह पाती।

(२०७) निष्काम अन्तस्तत्त्वकी भावनासे कामादि विकारोंका शमन—कामव्याधिसे निवृत्त होनेके लिए मौलिक उपाय निष्काम अविकार अंतस्तत्त्वका अनुभव है। आत्मभक्तिमें कोई कोई चरण हैं ऐसा जिनका अर्थ सबको विदित नहीं हो पाता। उनमें एक चरण यह भी है— "सर्वगत आत्मगत रत न, नाही विरत, ब्रह्मप्यारे।" यहाँ आत्मस्वरूपके चार विशेषण दिए गए हैं—यह आत्मस्वभाव ऐसा है कि जैसा स्वभाव है वैसा विकास हो जाय तो यह सर्वगत हो जाता है। अर्थात् ज्ञानद्वारा लोकालोक सबमें पहुंच जाता है। सर्वज्ञ होकर, लेकिन सर्वथा एकान्ततः यह न समझना, वह आत्मगत है सदैव यह बहुत आत्मस्वरूप आत्म-प्रदेशोंमें ही रहता है। सर्वज्ञदेव सब जगह जा जाकर नहीं जानते, किन्तु अपने स्वरूपमें ही लीन रहकर जानते हैं, आत्मप्रदेशोंमें ही यह ज्ञान अपनी ऐसी परि-णतिसे परिणम रहा है कि जिसमें सर्व सत् ज्ञेय हो रहे सो आत्मगत। रत न, आत्म-स्वरूप रागी नहीं है इसका स्वरूप है जानना। देखिये वर्तमानमें ऐसी बात है उस मुझमें विकार तो है पर मेरे स्वरूपमे विकार नहीं। जैसे पानी गरम है तो गर्मी पानीमें तो है पर गर्मी पानीके स्वभावमें नहीं है। जैसे यह बात खूब समझमें आ जाती, यद्यपि पानीका स्व-भाव ठंडा नहीं है, न गर्म है, वह कोई द्रव्य भी नहीं है पर दृष्टान्त एकदेश होता है, यह बात भली-भाँति समझमें आ जाती है, पानीमें गर्मी है, पानीके स्वभावमें गर्मी नहीं। हाँ कोई उस गर्म पानीको पी ले तो स्वभावकी मेहरबानी वहाँ प्रयोगमें न आयगी, पर्यायकी मेहरबानी प्रयोगमें आयगी याने गरम पानीको पीनेसे स्वभाव ठंडा है इस कारण जीभ न जले सो बात न बनेगी याने जीभ जल जायगी। सो परिणतिकी ओरसे तो मुझमें सब प्रदेशोंमें विकार बन रहे हैं पर स्वरूपमें विकार नहीं। जो अपने आपके सत्त्वसे है जो सत्त्वमें है वह है मात्र चेतना। अब उसमें राग है तो यह नैमित्तिक है इसलिए स्वरूपमें नहीं, पानीमें गर्मी है वह नैमित्तिक है इसलिए गर्मी पानीका स्वभाव नहीं। नैमित्तिकताके परिचयकी बड़ी मेह-रबानी है कि आश्रयभूतसे उपेक्षा हो जाय, नैमित्तिकसे उपेक्षा हो जाय, निमित्तसे उपेक्षा हो जाय और स्वभावकी अभिमुखता हो जाय। तो ये सब विकार नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूपमें नहीं हैं। सो अविकार स्वरूपकी आराधनाके प्रतापसे इन निमित्तोंमें छंटनी बनेगी, स्वयं सहज और यह नैमित्तिक भी गायब हो जायगा। सहज आत्मस्वरूपके आलम्बनका ऐसा चमत्कार है कि यह जीव जैसा सही है वैसा ही विकसित हो जाय।

(२०८) कामादिविकारोंसे हट कर अविकार स्वभावमें लीन होकर शाश्वत शान्ति पानेके लिये आचार्य द्वारा जीवोंको संबोधन—यहाँ जीवोंको सम्बोधन किया है कि यह काम

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भाव बड़ा अनर्थकारी भाव है। कामके वशीभूत होकर यह जीव गुरुजनोंकी संगति छोड़कर नीचोंकी प्रीति करने लगता है। विकारी पुरुषोंको गुरुजन न जचेंगे ठीक, उनको तो आसक्त, व्यमोही, अविरती, परिग्रही, विषयव्यामोही पुरुष ही भले जचेंगे और कदाचित् उनसे यह उपदेश मिल जाय कि तुम ज्ञानकी बात मुखसे बोल लो, तुमको सब छुट्टी है, तुम मोक्षमें जावोगे, कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं। तो जैसी प्रकृति अनादिसे पड़ी है उसी प्रकृतिको पोषने वाले वचन मिल जायें तब तो और भी अच्छा लगेगा। इसे गुरुजनोंकी, विरक्तजनोंकी संगति नहीं सुहाती, कामी पुरुष तो प्रकट ही नीच लोगोंका सहवास करेंगे। नीच मायने व्यामोही आसक्त कामप्रेमी। उनकी संगतिमें जायगा। सो हे भाई सर्वप्रथम तू कामको तो जीत। ब्रह्मचर्यके मायने क्या है? स्पर्शनइन्द्रियके विषयोंको जीतेगा, कामको जीतेगा। सिर्फ इसीके मायने ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचर्यका शुद्ध अर्थ है—अविकार ब्रह्मस्वरूपमें लीन होना। तो इसका अर्थ यह है कि सर्व विषयोंसे हटकर केवल अविकार चित्स्वरूपमें रमना, इसे ब्रह्मचर्य कहते है, लेकिन यह बात सोचिये कि प्रसिद्धि इसीकी क्यों हुई? स्पर्शनइन्द्रियके विषयों पर विजय करनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। प्रसिद्धि ऐसी है ना? रसना इन्द्रियके विजयमें ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि नहीं। अन्य इन्द्रियके विषयके विजयसे ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि नहीं। एक काम वासना स्पर्शनइन्द्रियके विजयमें ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि है। इसका कारण यह है कि सर्वविषयों में गंदा, अपवित्र, घातक, किसी भी अपेक्षामें इस जीवका भला न करने वाला, कभी भी हितके उपयोगमें न आने वाला विषय है यह काम, इसलिए इसके त्यागमें ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि हुई, सो हे हितार्थी पुरुष सर्व प्रथम इस काम पर विजय कर।

रागाद्युक्तोपि देवोंतरतदितररजः ग्रंथशक्तोपि साधु—
जींवध्वंसोपि धर्मस्तनुविभव सुखं स्थाष्णु मे सर्वदेति।
संसारापातहेतुं मतिगतिदुरितं कार्यते येन जीव—
स्तं मोहं मर्दय त्वं यदि सुखमतुलं वांछसि व्यक्तबाधं ॥४२३॥

(२०६) **जीवका मौलिक व्यामोह**—हे आत्मन्! यदि तू अनन्त निर्बाध शाश्वत सुख की चाह करता है तो तू मोहरूपी प्रबलशत्रुका मर्दन कर। व्यामोह जिसका जिस ओर मूड गया, जिसमें अपना माहात्म्य समझने लगा बस उसका उपयोग उस ही का आग्रह कर बैठता है। इसीको कहते हैं व्यामोह। विवेक जहाँ नहीं जानता किन्तु अपनी पसंदगी ही जच रही है, ऐसी विवेक रहित पसंदप्रियताको व्यामोह कहते हैं। मोह मूलमें यह है कि यह जीव विकारभाव और स्वभावमें अन्तर नहीं जान पाता और विकारभावमें ही इसका राग मोह बना रहता है, अन्तर नहीं जान पाता और विकारभावमें ही इसका राग मोह बना रहता है। जैसे दर्पणमें होने वाले फोटोमें और दर्पणके कांचके भीतरकी स्वच्छतामें अन्तर लोग समझते हैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और इसी कारण उसका सही प्रयोग बना लेते हैं ऐसे ही विकारभावमें और आत्माके सहज स्वभावमें अन्तर जानता है ज्ञानी। जैसे यहाँ हर कोई समझता है कि यह फोटो दर्पणकी निजी प्रकृति नहीं है, स्वभाव नहीं है, स्वच्छता नहीं है, दर्पणकी निजी चीज नहीं है, फोटो दर्पणमें है फिर भी दर्पणकी निजकी चीज नहीं, क्योंकि वह जानता है कि फोटो परभाव हैं, नैमित्तिक है, परका प्रसंग पाकर हुई है, इसलिए यह दर्पणकी निजकी चीज नहीं है। ज्ञानी भी जानता है कि यह विकार कर्मअनुभागकी छाया है, नैमित्तिक है, परभाव है, विनश्वर है, पराधीन है, यह मेरा स्वभाव नहीं है। मेरी अनादि अनन्त स्वच्छता, चेतना, चित्शक्ति जो प्रकट तो कभी हुई नहीं, पर अन्तः प्रकाशमान है। कैसी समस्या है कि जरासे शब्दोंका सही प्रयोग न होने पर लोग भ्रममें पड़ जाते हैं। सही-सही प्रकार शब्दोंसे चलें तो भ्रम होनेका अवसर नहीं हो सकता। तो यह मोह अपनी सुध नहीं और जो मुझपर परभाव लद गया उसको अपना डाला, इसे कहते हैं मूल मोह। अब इसके कारण बाह्य वस्तुवोंमें भी मोह अज्ञान यह सब चलता है। तो इस मोहको यदि दूर करना है तो विकारका और स्वभावका अन्तर जान। बाह्य पदार्थका और निज आत्मतत्त्वका स्वतंत्र सत्त्व पहिचान। मोह मिटेगा जिसका उसकी पीड़ा मिटेगी।

(२१०) **मोहकी विचित्र लीलायें**—इस मोहका मिटना बड़ा कठिन है, पर जिसको दृष्टि मिल गई उसके लिए बड़ा सुगम है। मोहकी कैसी विचित्र लीला है कि यह मोही शरीर में मोह बनाता है और धर्मका कोई कार्य करे जिसे प्रायः लोग करते हैं—स्वाध्याय, पूजा, ज्ञानवार्ता, चर्चा करना, उन चेष्टावोंको करते हुए उन चेष्टावोंको जो भीतर सर्वस्व समझ लेता है और उससे अपनेको महान भाग्यशाली, मैं समझदार हूं, विवेकी हूं इस प्रकारकी बुद्धि आ जाना यह कितनी इस मोहकी लीला है। तो मोहका तजना बड़ी पैनी अन्तर्दृष्टिसे हो पाता है और यहाँ एक स्थूल रूपसे सम्बोधन किया है कि तू मोहरूपी प्रबल शत्रुका नाश कर अर्थात् जो व्यासंग लगा है, बाह्य पदार्थोंका निबंध बना है उसका तू त्याग कर, जिसके वशीभूत होकर तू रागद्वेषयुक्तको भी देव मानता है और उसके तालसे तारीफ भी करता है। तूने उसको सुखी किया, उसको तारा, उसको दर्शन दिया। रागद्वेषमय चारित्र बनाकर देवकी भक्ति करता है। तेरी बड़ी लीला है, तेरी महिमा अपरंपार है, तेरी महिमा कोई जान नहीं सकता, तूने दही, मक्खन चुराया था, तू कामिनियोंके बीच रहता था, तूने अमुकका चीर हरा था,.... आदि अनेक रूपसे प्रभुकी लीलायें मानी जाती हैं। रागद्वेषसे दूषित आत्माको तो यह मोही जीव देव मानता है और परिग्रहसे युक्तको गुरु मानता है। इसकी दृष्टिमें यह नहीं रह पाता कि जो बाह्य आभ्यंतर परिग्रहरहित है, निर्ग्रन्थ है वह ही गुरु हो सकता है, यह इसकी दृष्टि में नहीं रह पाता, क्योंकि व्यामोह लगा है। अपने आपकी जो संसारकी पसंदगी है उस में

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इसके व्यामोह लगा है इसलिए यह परिग्रहसहितको गुरु मानता है। यह मोहकी लीला है, और जो आत्माका विनाशक है, धर्मका नाशक है, जीवोंका विघात करने वाला है तो ऐसे उपदेशको यह धर्म मानता है। ऐसी प्रवृत्तिको यह धर्म मानता है। यह मोहकी लीला बतायी जा रही है।

(२११) **शाश्वत आनन्द पानेका बाधक अनित्य असार सुखोंमें भ्रामक व्यामोह**—अनित्य सुखको यह मोही शाश्वत सुख मानता है। अभी किसी बूढ़े व्यक्तिसे पूछा जाय कि भाई तुम कैसे हो? तो वह कहेगा कि बड़ा मौज है, खूब हरे भरे हैं, अनेक लड़के हैं, अनेक नाती पोते हैं, बीसों लोगोंका परिवार है, बड़ी भारी जायदाद है, आरामके सब प्रकारके साधन हैं, बड़ा मौज है····। अरे उस आत्माको कहाँ मौज? किसीकी बात किसीमें लपेट रहा है, और अपनी खबर नहीं है कि हमारे मरनेके दिन आ रहे हैं। तो यह अनित्य सुख को, दुःखस्वरूप सुखको सुख मानता है, यह ही तो व्यामोह है, जिसके कारण यह जीव संसार समुद्रमें गोते खायगा। भोग तजना शूरोंका काम, भोग भोगना बड़ा आसान। वीरता है भोगोंके तजनेमें। कायरता है भोगोंके भोगनेमें। एक जीवनमें यह ही एक बात बना ले कि जो जीवनके लिए, जिन्दा रहनेके लिए आवश्यक है, उसे तो करना पड़ता है पर अनावश्यक व्यर्थके विषयोंमें मैं न पड़ूँगा। एक इतना ही बोध बना लें। जैसे बहुत रसीले व्यञ्जन बन रहे हैं, बड़ा एक भंडार बनाया जा रहा है, अनेक प्रकारके आरामके साधन बनाये जा रहे हैं। अरे इससे तेरेको क्या मिलेगा? अगर पुण्यका उदय है और यह धन अटूट आ ही पड़ता है तो तू मध्यम या साधारण जनोंकी भाँति सात्त्विक वृत्तिसे रह और पाये हुए द्रव्यका उपयोग कर, परके उपकारमें लग। अपने आराम और भोगोंकी वृद्धिमें मत पड़। यह तो है विवेक। और मानो आज धन मिला है तो जितनी दुःख और सुखकी बात बनेगी उतनी ही मलिनता बढ़ती चली जायगी और सात्त्विक वृत्तिसे रहेंगे और आये हुए द्रव्यका उपयोग पर के उपकारके लिए करेंगे तो संतोष मिलेगा, सत्कार मिलेगा और सन्मार्ग मिलेगा। भोगनेके जीवन न समझिये किन्तु आत्मदृष्टि बनाये रखनेके लिए इस जीवनका उपयोग करिये। जिसका ध्येय सही बन जाय वह सदाचारसे, संयमसे रहेगा, गुणी जनोंका सम्मान रखेगा, अपने आपमें नम्रताका भाव रहेगा, अहंकार फटकने न पायगा। तो जगतमें दुःखमयी स्थिति है और करेंगे विषयकषायोंके ओटपाये तो इसका शरण कोई नहीं है। खुद ही खुदका शरण है इसलिए सात्त्विक वृत्तिसे रहना, संयत आचरणसे रहना और अहङ्कारको तजना, गुणीजनों का मनमें विनयभाव रखना, यदि ऐसी वृत्ति चलेगी तब तो मिल जायगा उद्धारका अवसर' अन्यथा संसारमें जन्म मरण करते रहना ही हमारी करतूतका फल रहेगा।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तीव्रत्रासप्रदायिप्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते
दुःखोर्वीजप्रपंचे भवगहनवनेनेकयोन्यद्रिरौद्रे ।
भ्रम्यन्नाप्यापि नृत्वं कथमपि शमतः कर्मणो दुष्कृतस्य
नो चेद्धर्मं करोषि स्थिरपरमधिया वंचितस्त्वं तदात्मन् ॥४२४॥

(२१२) **वर्तमान उपलब्धि और परिस्थितिपर ध्यान देनेका सुझाव**—हे आत्मन् ! कुछ अपनी वर्तमान पायी हुई उपलब्धियोंका तो विचार कर । यह मैं जीव अनादि कालसे भव-भवमें भटकता चला आया । उसके साथ सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर ये दोनो लगे चले आ रहे हैं । सूक्ष्म शरीरका तो एक क्षण भी अलगाव आज तक नहीं हुआ अनादिकालसे । इस स्थूल शरीरके मरणके बाद जन्मस्थान पर पहुंचनेके लिए यदि मोड़े वाली गतिसे जाना पड़े तो एक समय, दो समय, तीन समय अधिकसे अधिक स्थूल शरीरका वियोग रहा । स्थूल शरीर मायने औदारिक और वैक्रियक शरीर । सूक्ष्मके मायने तैजस और कार्माण शरीर । तो सूक्ष्म शरीरका आज तक भी अनादिकालसे एक समयको भी वियोग न हो सका । वह लगा हुआ है । नया आना, पुराना खिरना यह तो बना है मगर उसकी धारा अब तक चली आयी है, तो वर्तमानकी खोंटी परिस्थिति और उपलब्धि इन दोनों ही पर ध्यान दें ।

(२१३) **हमारी वर्तमान उपलब्धियां**—अबकी उपलब्धिपर ध्यान दें तो आज मनुष्य भव पाया है, उसमें भी अच्छे कुलमें जन्म हुआ है और उस पर भी शरीर स्वस्थ है । यों तो किसीका भी शरीर स्वस्थ नहीं, कोई न कोई रोग प्रत्येक शरीरमें मिलता है मगर काम चले, हमारे ज्ञान ध्यानकी वार्ता बनी रहे, इतनी स्वस्थता तो है ही । फिर इन्द्रियाँ भी सही हैं । बहिरे हो जायें, अंधे हो जायें तो उसमें बाधा है । हाँ ज्ञानी पुरुषोंको तो बहिरे होनेमें भी बाधा नहीं, अंधे होनेमें भी बाधा नहीं, मगर जहाँ हमारी साधना प्रारम्भ हो रही है वहाँ तो इनकी आवश्यकता है । सो ये भी सही हैं । मन भी कुलीनताको लिए हुए है । समागम भी गुरुजनों का प्राप्त होता रहता है, कुछ बुद्धि भी सही है प्रतिभा भी है युक्तिकी भी समझ है, अनुभव भी बन सकता है, तो इतनी बड़ी उपलब्धियाँ हम आपको मिली हैं, ऐसी उपलब्धियोंको पाकर यदि प्रमाद करेंगे, विषय कषायोंमें चित्तको लगायेंगे तो इस संसारमें जन्ममरणकी परिपाटी ही बनायेंगे । देखो यहाँ जो दिख रहा है यह हमारा कुछ नहीं है । किसको अपनी शान बतानेके लिए तुम किसी आग्रहपर उतारू हो, इसका निर्णय तो बताइये । किसपर शान बनाते ? ये दिखने वाले जितने पुरुष हैं सब माया है, क्योंकि ये सब असमानजातीय-द्रव्यपर्याय है । जहाँ मिलावट है माया कहा जाता है । जहाँ केवल है उसे परमार्थ कहा जाता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। तो इस मायामय इन दृश्य देहियोंको आप अपनी शान बताना चाहते। मैं समझदार हूं, ज्ञानी हूं और इस जगतमें अपनी कोई पार्टी सी बनाकर इन्हें क्या दिखाना चाहते हो? न यह पार्टी संग रहेगी, न लोग संग रहेंगे। एक अपने आपको अकेला तो अनुभव कर, और उस अकेलेके ही नाते तू समस्त जीवोंसे मैत्रीभाव बना, यह तो है उद्धारका उपाय, बाकी कषायावेशमें जो मर्जी हो सो कीजिये, पर उससे कल्याण नहीं होता।

(२१४) **वर्तमान परिस्थिति और अपना कर्तव्य**—यह संसार अनेक विपत्तियोंसे भरा हुआ है। खुद पर ही क्या विपत्तियां हैं सो तो देख। जन्म लेगा वहाँ तीव्र त्रास होगा, मरण करेगा वहाँ भी त्रास होगा जो बीचकी जिन्दगी मिलेगी वहाँ भी नाना प्रकारके दुःख जाल हैं। केवल कभी कल्पनामें कुछ सुख मान लिया सो केवल कल्पनाकी ही बात है, सांसारिक सुख जितने हैं वे सब आकुलताके मूल पर खड़े हुए हैं। उस सुखके साधनके लिए आकुलताकी, सुखके भोगनेके समय आकुलता हो रही। देख लो, संसारके जितने सुख हैं उनके भोगनेके समयमें यह जीव शान्त रहता है कि आकुलित रहता है? भली प्रकार परीक्षा करें तो सही उत्तर मिल जायगा तो जहाँ अनेक विपदायें भरी हैं ऐसे इस संसारमें अनादि कालसे भ्रमण कर करके आज तू इतनी उत्तम स्थितिमें आया है यह संसार महा बन है, अनेक दुःख रूपी वृक्षोंसे यह घनीभूत हैं। जहाँ अनेक योनियोंके पहाड़से यह बन महा भयंकर बना हुआ है, सो कैसे कैसे जन्म पाये तूने, सो यदि बहुतोंका तू स्मरण नहीं कर सकता तो जो पशु पक्षी कीड़ा मकोड़ा दिख रहे हैं इनका ही ध्यान धर ले कि ये ही तो पहले मैं भी था और अब यदि ठीक ठीक न चलेंगे तो ये ही फिर बनेंगे। यहाँ तो अहंकारमें चूर हो रहे, थोड़ा सा सुखसाधन मिला, ऐश्वर्य मिला ज्ञान मिला, बल मिला, प्रतिष्ठा मिली, उस पुण्यफलमें यहाँ अहंकार कर रहे, पर इसके फलमें जब कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी बनेंगे तो फिर शान कहाँ रहेगी? यह झूठा शान झूठा गर्व है जिसमें बने रहते हैं, मुह फुलाये रहते हैं और अपने भीतर ही एक अपनेको सर्वाधिक मानते हैं। स्वरूपदृष्टि कर, सबको समान निरख। यदि यहाँ भी आत्महित न कर सके तो उसका फल इस संसारमें ही तो जन्म लेना रहेगा। तू जानता है कि यहाँ मैं बड़ी चतुराईकी बातें कर रहा, पर यह ध्यान नहीं कि अपने आपको ही ठगे चले जा रहे हैं, और ऐसी दुर्लभ मनुष्य पर्यायको पाकर आपना सर्वस्व खोये जा रहे हैं। सो हे आत्मन्! अब तू प्रमाद न कर याने विषय कषायमें प्रेम मत कर और मोक्षमार्गमें अपनी प्रगति बना।

ज्ञानं तत्त्वप्रबोधो जिनवचनरुचिर्दर्शनं धूतदोषं
चारित्रं पापमुक्तं त्रयमिदमुदितं मुक्तिहेतु प्रधत्स्व।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मुक्त्वा संसारहेतुत्रितयमपि परं निंद्यबोधाद्यवद्यं
रे रे जीवात्मवैरिन्नमितगतिसुखे चेत्तवेच्छास्ति पूते ।।४२५।।

(२१५) **आत्मीय अनन्त आनन्द पानेका उपाय रत्नत्रयधर्मधारण**—अपने आप अपना अहित करने वाले हे मोही जीव ! यदि तेरे आत्मीय अनन्त आनन्दके प्राप्त करनेकी इच्छा है तो तू सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयको धारण कर । मोही कहना या मूढ़ कहना इन दो में कुछ अन्तर है क्या ? मुह धातुसे ही तो मोह शब्द बनाया गया और मुह धातुसे ही मूढ़ शब्द बना, अर्थमें कोई अन्तर नहीं, मगर आपको मोही कहकर पुकारें और सम्बोधन करें तो उतना अधिक बुरा न मानेंगे और मूढ़ शब्द अगर कहें तो आप बुरा मान जायेंगे । अरे मोह और मूढ़में फर्क क्या रहा ? व्याकरण वालोंसे पूछ लो कि इन दो के अर्थ में कोई फर्क है क्या ? उसीका नाम मोही है और उसीका ही नाम मूढ़ है, अन्तर कुछ नहीं है, पर मूढ़ शब्द क्यों नहीं सुनना चाहते ? मोही शब्द सुनकर तो अधिकसे अधिक इतना सोच लेंगे कि ठीक कह रहे, पर अधिक बुरा न मानेंगे और कितने ही लोग तो उसमें प्रशंसा समझेंगे । अगर कहा जाय कि इनका बच्चा बड़ा अच्छा है, आज्ञाकारी है, सज्जन है और इनको बस बच्चेमें मोह है और कुछ नहीं, तो इतनी बात सुनकर वह खुश हो जायगा, समझेगा कि कोई बुरी बात नहीं कही जा रही । और अगर कहा जाय कि ये तो बच्चेमें मूढ़ बन रहे हैं तो यह सुनकर बुरा मान जायेंगे । अरे मोही और मूढ़ एक ही बात है । तो हे मूढ़ आत्मन् ! तू यदि वास्तविक आनन्द चाहता है तो रत्नत्रयका धारणका ।

(२१६) **आत्महितकी धुनवालेका सर्वारम्भसे आत्महितमें प्रवर्तन**—जब धनकी इच्छा और तृष्णा होती है तो उसके लिए आप सैकड़ों उपाय करते हैं और किसी उपायमें भूल होती है तो भी उस उपायको नहीं छोड़ते । ऐसे ही जिनको वास्तवमें रत्नत्रय धर्मसे प्रेम है वे इस के पालनके लिए अपने सभी पौरुष बनाते हैं । कहते हैं ना कि सर्व आरम्भ पूर्वक मोहके क्षयके लिए मैं अब खड़ा हुआ हूं । तब वह यह नहीं सोचता कि मेरे पहले सम्यग्दर्शन हो जाय फिर मैं व्रत ग्रहण करूँगा । इस प्रकारकी वार्ता वचनालाप वह स्वयंके लिए न करेगा । उस सम्यग्दर्शनकी कहाँ परीक्षा लेने जावोगे कि कोई यह कहे कि सम्यग्दृष्टि हो गया, तब व्रत शुरू करेंगे । अरे सम्यक्त्व चाहे न जगे, बादमें जग लेगा मगर अपने विवेकसे व्रत ले लिया, पापोंका परित्याग कर दिया तो वह तो अपने आपमें पवित्रताकी ओर बढ़ ही रहा है । वहाँ यह निरीक्षण करना यह एक बहाना है, छल कहलाता है । एक साधारणतया हम चल रहे हैं, श्रद्धा है, जान रहे हैं तो आत्मकृपालु सर्व कुछ त्याग करनेको तैयार रहता है, सम्यक्त्व साथ है, तो मोक्षमार्गकी विशेषता बन जायगी । यदि सम्यक्त्व नहीं है तो भी हम किसी एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पुण्यकार्यमें तो चल रहे हैं। आगे सिलसिला बन जायगा। तो जैसे जिसको धन जोड़नेमें प्रेम है वह अनेक कार्य करता है, किसी कार्यमें सफल होता है किसीमें सफल नहीं होता है। सफल न होते हुए भी उन्हीं उपायोंमें आस्था रखता है—होगा तो इस ढंगसे होगा। शास्त्रका अध्ययन, मनन, ज्ञान, चर्चा, शुद्ध आचरण, अभक्ष्यका त्याग, गुणीजनोंको देखकर प्रमोद, अपना अहंकार मिटानेके लिए गुणी जनोंकी भक्ति आदिक जो जो भी इसको आरम्भ आत्महितके लिए जचते हैं और आम्नाय परिपाटीमें जो चला आया है, सभी प्रकारके आरम्भसे वह अपने आपको पुरुषार्थी बनाता है। तो तू पौरुष कर और रत्नत्रयको धारण कर। शक्ति माफिक कर। जब यह कहा जाता कि शक्ति माफिक कर तो मनुष्यकी दुर्बलता देखिये—उसका अर्थ लोग यह लगाते हैं कि शक्तिसे अधिक न कर, शक्तिसे कम कर। और शक्तिमाफिक कर, इसका अर्थ क्या यह नहीं होता कि शक्तिको न छिपाकर बराबर साहसके साथ कर? दोनो अर्थ हैं। मगर जिनको प्रमाद है उनको यह अर्थ सुहाता कि शक्तिसे अधिक न करना, थोड़ा करना, और जिनको उसकी धुन है उन्हें यह अर्थ सुहायेगा कि शक्ति न छिपाकर करना, अपनी पूर्ण शक्तिके साथ कर।

(२१७) **संसारसंकटोंसे छूटनेका भाव होनेपर सन्मार्गकी सुलभता**—जिनको वास्तविक मायनेमें मुमुक्षा बनी है, इस संसारके संकटोंसे छूटनेका भाव बन गया है उनको अधिक समझानेकी आवश्यकता नहीं होती है। उनमें स्वयं प्रतिमा है और वे सब पौरुष करेंगे, थोड़ा मार्गदर्शन भर चाहिये। और जिनको इस संसारसे ऊब नहीं आयी है, इन संकटोंसे हटनेका मनमें भाव ही नहीं जगा है, बस इस समुदायमें मेरा नाम हो, इनमें मैं बड़ा कहलाऊँ, इनमें मैं खास कहलाऊँ, इनमें मेरी बात बने····। और, तब ही तो जरा जरा सी प्रतिकूल बात सुनकर बुरा लगना यह किसका द्योतक है? यह मिथ्यात्वका, मोहका द्योतक है। शरीरमें इतनी तीव्र ममता है कि रंच भी प्रतिकूल बात सुनना नहीं चाहते। कोई अगर प्रतिकूल बात बोलता है तो वह किसको बोल रहा है? प्रथम बात तो यह है कि वह किसी को नहीं बोल रहा। वह अपनेमें कोई लक्ष्य बनाये है और अपनी कषायके अनुसार अपने भाव उगल रहा है। और, साथ ही सोचना कि किसको बोल रहा है? तो आप ही बताओ—वह गाली देने वाला, वह प्रतिकूल बोलने वाला क्या मुझ ज्ञानमात्र अमूर्त आत्माको बोल रहा है? क्या उसकी दृष्टिमें यह बसा है कि यह जो अमूर्त ज्ञानमात्र परमज्योति तत्त्व है इसको सुनाऊँ कुछ? इस तरहका लक्ष्य रखने वाला तो सुनायगा ही नहीं। वह तो इस मूर्त शरीरपर दृष्टि दिए हुए है उसीको लक्ष्यमें लेकर सुना रहा है। वह तो यों कर रहा है। तो जो शरीरको माने कि मैं यह हूं वही तो बुरा मानेगा। और जो शरीरको समझ चुका कि यह पौद्गलिक है, पिण्ड है,

Version 1

भिन्न है, असार है, कुछ नहीं है, जला देंगे, मैं इससे निराला ज्ञानमात्र अमूर्त हूं, वह कैसे बुरा मानेगा ? तो जो भीतर यह समाधी नहीं होती कि कोई जरा बिरुद्ध बोल जाय, थोड़ा ही प्रतिकूल बोल जाय तो उसमें बन गया द्वेष, बन गया मोह। सो यह तो संसारतत्त्व है, मोक्ष-तत्त्व नहीं।

(२१८) **आत्मव्यवहारसे मोहलपटोंके क्लेशका शमन**—इस मोहकी बड़ी लपटें हैं। मोहकी कोई लपट धर्मका रूपक बनाकर फैलती है, कोई लपट बुद्धूपन प्रकट करके फैलती है, पर लपटमें ज्वाला सबके है चाहे किसी ढंगसे लपट फैले ? तो प्रथम सो यह विचार करें कि मैं इस जगतमें केवल अकेला एक पदार्थ हूं, मेरा दुनियामें कोई साथी नहीं, एक यह निर्णय बनायें और फिर इस नाते ही अपना व्यवहार बनायें और अपना सब कुछ बनावें तो इसमें सफलता मिलेगी और एक अपने इस आत्मतत्त्वका नाता तोड़ा और रागद्वेष पक्षपात, पार्टी, मजार्टी अमुक तमुक इस तरहका अपनेमें मोह बनायें तो बस यह जीवन खोया। आत्मकल्याण का अवसर पाया था उसे बिल्कुल खो दिया। सो हे विवेकी आत्मन् ! प्रमाद न कर, अपने आपका जैसे उद्धार हो, कल्याण हो, जैसे संसारके संकट मिटें उस प्रकारका अपनेमें अपना व्यवहार करें उसे बोलते हैं आत्मव्यवहार।

(२१९) **श्रद्धान ज्ञान चारित्रसे आत्मोद्धारके पौरुषीका उदात्त वात्सल्य**—जिनेन्द्र भगवानके उपदेशे गए तत्त्वमें श्रद्धान करना यह सम्यग्दर्शन है। देखिये मिलान—अनुभव होने पर जो शास्त्रोंमें लिखा वह मैंने अपनेमें पाया। जो मैंने अपनेमें पाया देखो वही शास्त्रोंमें लिखा। दोनोंका परस्पर समन्वय है और उसीमें ही यह संतोष पायगा। आत्मामें सहज होने वाली बात ही तो शास्त्रोंमें लिखी गई। पदार्थोंमें अनादि अनन्त धाराप्रवाह जो-जो कुछ बात स्वरूप है वही तो शास्त्रोंमें लिखी गई। वही प्रभुने बताया। तो जो अनुभवमें आया वही शास्त्रोंमें मिला। जो शास्त्रोंमें देखा वही मैंने अनुभवमें पाया। दोनो ओरसे उसको अपना निर्णय बन जायगा। सम्यग्ज्ञान वास्तविक तत्त्वका बताने वाला सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्-चारित्र—पापसे बचाने वाला सम्यक्चारित्र। ऐसे रत्नत्रयका धारण कर। सम्यग्दर्शनके जो ८ अंग हैं वे अंग तब निभेंगे जब आपकी उदारता और सार्वभौमता प्रकट होगी। साधर्मी जनोंसे वात्सल्य करना। अब यदि उन साधर्मीजनोंमें यह छांट करने लगें कि ये हमारी जैसी बात बोलते कि नहीं, नहीं तो साधर्मी नहीं, इन्होंने ऐसा ज्ञान किया कि नहीं, ये तो साधर्मी नहीं। ये ऐसी ऐसी बात बोलते कि नहीं, ये तो साधर्मी नहीं···इस प्रकारसे अगर साधर्मी की छांट करेंगे तो उनसे वात्सल्य अंग न पलेगा। जैसे घरमें रहने वाले पुरुष मंद बुद्धि वाले पुत्रका भी निभाव करते, अच्छी बुद्धि वाले पुत्रका भी निभाव करते, वहाँ पुत्रपनेकी दृष्टि रहती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है ऐसे ही कोई अधिक ज्ञान रखता है तो वह भी वात्सल्यका पात्र है और कोई कम ज्ञान रखता है तो वह भी वात्सल्यका पात्र है। उनमें परीक्षाकी ही धुन रखना यह वात्सल्यकी प्रेरणा नहीं है। यह कषायकी प्रेरणा है और वैसा अनुभव पायेंगे।

(२२०) धर्मप्रेमीका अल्पज्ञानी बहुज्ञानी सभी साधर्मियोंके प्रति वात्सल्य—चाहे मरो चाहे जियो इस प्रकारकी उपेक्षा सौतके तो हो जायगी पर जिसके पेटसे वह बच्चा पैदा हुआ उससे उपेक्षा न बनेगी। उन दोनोके विचारोंमें बड़ा अन्तर हो जायगा। एक ऐसा कथानक है कि एक पुरुषके दो स्त्रियाँ थीं, पहली और दूसरी। दूसरी स्त्रीके एक लड़का था और पहली स्त्री उससे बहुत जला करती थी। कुछ दिन बीते उस पहली स्त्रीने उस लड़के पर अपना कुछ अधिकार सा जमाया। उसपर दोनो स्त्रियोमें विवाद बढ़ गया। वह विवाद इतना बढ़ गया कि उसका केस राजाके पास गया। पहली स्त्री कहे कि यह लड़का मेरा है, युक्ति भी दी कि जो पतिका धन होता है वह सब धन स्त्रीका भी होता है। उधर दूसरी स्त्री कहे कि यह लड़का मेरा है। अब राजाकी समझमें न आया कि इसका क्या न्याय करना चाहिये। आखिर एक युक्ति सूझी और कहा—अच्छा जावो कलके दिन इसका न्याय होगा। इधर राजाने जल्लादोंको समझा दिया कि देखो कलके दिन इन दोनो स्त्रियोंका न्याय होना है। तुम लोग तलवार लिए पासमें खड़े रहना, हम कहेंगे कि इस बालकके बराबर-बराबर दो टुकड़े करके एक एक टुकड़ा दोनो स्त्रियोंको दे दो, ऐसा हम कहेंगे पर तुम तलवारसे उसके टुकड़े करना नहीं। केवल दोनो स्त्रियोंको परीक्षा लेनेके लिए हम वैसा उपाय करेंगे। जल्लाद लोग सब बात समझ गए। दूसरे दिन जब राजाके सामने न्याय सुननेके लिए दोनो स्त्रियाँ पहुची तो वहाँ राजाने न्याय दिया कि यह लड़का तुम दोनों स्त्रियोंका है। इसपर तुम दोनों का बराबर बराबरका अधिकार है इस लड़केके बराबर बराबर दो टुकड़े किए जायेंगे और एक एक टुकड़ा तुम दोनोंको दे दिया जायगा, यही इसका न्याय है। इतना कहकर जल्लादों को आदेश दिया कि ऐ जल्लादो तुम इस बालकके बराबर बराबर दो टुकड़े करके एक एक टुकड़ा इन दोनो स्त्रियोंको दे दो। अब राजाका इस प्रकारका न्यीय सुनकर पहली स्त्री तो बड़ी खुश हुई, क्योंकि वह तो ऐसा चाहती ही थी कि यह लड़का न होता तो अच्छा था। उधर दूसरी स्त्री राजाका न्याय सुनकर बड़ी दु:खी हुई और बोली—राजन इस बालकके दो टूक मत करो। यह बालक मेरा नहीं है। इसीका है। देखिये—उसके मनमें यह आया कि यह बालक यदि मर गया तो मुझे देखनेको भी न मिलेगा और यदि जीवित रहा तो चाहे कहीं रहे पर मैं इसे देख देख कर ही खुश रहूंगी। आखिर राजाने समझ लिया कि वास्तवमें यह लड़का इस दूसरी स्त्रीका है सो वैसा ही फैसला कर दिया। तो यहाँ वात्सल्य अंगकी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बात चल रही थी कि धर्मात्माजनोंके प्रति उपेक्षाका भाव न होना चाहिए बल्कि एक धर्मात्मा को दूसरे धर्मात्माके प्रति वात्सल्यभाव होना चाहिए। वहाँ छाँट करना, परीक्षा करना यह आचार्योंने नहीं बताया। जो प्रवाह मूल आम्नायका अभी तक चला आया वही चलता रहेगा तो स्वयं एक निरापद रहेंगे और आत्मानुभवके लिए उसके अपने आपमें जागृतियाँ होंगी।

पापं बर्धयते, चिनोति कुमतिं, कीर्त्यंगनां नश्यति,
धर्मं ध्वंसयते, तनोति विपदं, संपत्तिमुन्मर्दति।
नीतिं हंति विनीतिमत्र कुरुते कोपं धुनीते शमं,
किं वा दुर्जनसंगतिर्न कुरुते लोकद्वयध्वंसिनी ॥४२६॥

(२२१) **दुष्टसंगसे पाप और कुमतिकी वृद्धि**— यहाँ दुर्जननिरूपणका परिच्छेद चल रहा है। इस छंदमें बतला रहे हैं कि तीनों लोकोंका बिगाड़ करने वाली दुर्जन संगति न जाने क्या क्या अनर्थ नहीं करती। दुर्जन कहते किसे हैं ? जिनको बिषयोंकी रुचि है, जिनको पापोंसे विरक्ति नहीं है, जिन्होंने अपने सांसारिक सुखोंमें ही आग्रह कर रखा है, जो किसी भी पापके करनेमें हिचकते नहीं हैं, जिनके चित्तमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें भरी हुई हैं। ऐसे पुरुष और उनके बारेमें अधिक क्या कहना, सब जान लेते हैं कि ये दुष्ट प्रकृतिके हैं। तो जो दुर्जन हैं उनकी संगति इस जीवका बड़ा अनर्थ करती है। पहला अनर्थ यह है कि वह पापको बढ़ाता है, क्योंकि पापियोंके संगसे वैसी ही बुद्धि बनेगी। स्वयंमें भी पापका ही भाव बनेगा। संगकी बड़ी महिमा है, सत्संगकी महिमा प्रधानतया अन्य लोगोंने गाई है। किन्हीं साधुवोंके आनेपर वे कहते हैं कि चलो सत्संग करें। कहीं प्रवचन आदिक होनेपर लोग कहते हैं कि सत्संगमें जा रहे हैं। सत्संगकी बड़ी महिमा है। इस जीवको कुपथसे बचाकर सन्मार्गमें ले जानेके लिए प्रथम सहारा सत्संगका होता है। जिन जिनका उद्धार हुआ है वे जानते हैं कि मुझे जीवनमें संत समागम जो मिला उससे हमारी दृष्टि सन्मार्गकी ओर बढ़ी है। जो संसार, शरीर भोगोंसे विरक्त हैं और सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना रखते हैं, जो अपना कोई स्वार्थ नहीं चाहते उनका संग सत्संग कहलाता है। सबसे बड़ा भारी स्वार्थ है यश कीर्तिकी चाह, नामवरीकी चाह। यह जीव वह सब कुछ कर डालता है जिसमें दूसरे जीवोंको चाहे कुछ भी कष्ट उठाना पड़े। कल बताया था कि इन पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें सबसे खोटा, अनर्थकारी, अनुपयोगी विषय है स्पर्शनइन्द्रियका, पर जरा मनके विषयकी ओर भी दृष्टि दें तो यह बहुत बड़ा व्यभिचार है जो यश कीर्तिकी ओर आग्रह बन गया है। सर्वप्रथम इसपर विजय होना चाहिए। जिसको आत्मकल्याणकी इच्छा हो वह पहले यह साधना बनाये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वरूपाभ्यासके बलसे कि मुझे इस हड्डी चमड़ी वाले शरीरकी मूर्तिकी इज्जत दुनियामें कायम करनेका आग्रह न रहे । तो जो विषयोंसे विरक्त हैं, संसार, शरीरसे विरक्त हैं, जो किसी भी पापकर्ममें नहीं पड़ना चाहते हैं ऐसे पुरुष सज्जन हैं, और जो कषायोंमें लिप्त हैं, नामवरीका आग्रह है, भले हो कुछ पुरुष देखनेमें या प्रवृत्तिमें बहुत ठीक जंचते हैं, पर जो जितना विशेष कपट रखता हो, सबसे बड़ा कपटी पुरुष वह है कि लोग उसका कपट पहिचान न सकें । तो दुर्जनोंमें सबसे पहला नम्बर है छल कपट करने वाले पुरुषका । तो ऐसी संगति इस जीवसे क्या क्या नहीं करवा डालती । दुर्जनका स्वरूप स्वयं आचार्यदेव आगेके छंदोंमें बतायेंगे, पर सामान्यतया सभी जानते हैं कि दुष्टकी संगति इस जीवके लिए अनर्थकारी है, पापवर्द्धक है, कुमतिवर्द्धक है ।

(२२२) **कुसंगसे बिगाड़का एक उदाहरण**—चारुदत्त जो विवाहित हो जानेपर भी कामबाधावोंसे भी अपरिचित था । उसका प्रयत्न कुटुम्बी जनोंने किया, तो क्या किया कि उसके चाचा उसको एक बार वेश्यावोंकी गलीमें ले गए और पहलेसे ही यह प्रबन्ध करवा लिया कि गलीके सामनेसे एक हाथी आया, और यह भय दिखाकर डरके कि ये दोनों (चाचा और चारुदत्त) एक वेश्याके घरमें घुस गए, जब वेश्याके घरमें चारुदत्त और उसका चाचा रुद्रदत्त पहुंचे तो सब बात पहलेसे कही हुई थी । वहाँ चौपड़ खेलना शुरू किया जिसमें हार जीतकी दृष्टि होती । वहाँ चारुदत्त और उस वेश्याकी लड़की ये दोनों खेलने लगे और उस समय बस वह चारुदत्त रागमें बह गया और इतना बह गया कि घरकी उपेक्षा कर दी । घरका बहुतसा द्रव्य उस वेश्याके नाम खर्च कर डाला । बहुत बुरी स्थिति हो गई चारुदत्तकी और जब उसके पास कुछ न रहा तो उस वेश्याने उसे अपने यहाँ आनेको मना कर दिया, इतनेपर भी चारुदत्त न माना तो उस वेश्याने चारुदत्तको एक संडासमें पटक दिया । उस संडासमें चारुदत्तको सूकर चाट रहे थे फिर भी चारुदत्त यही समझ रहा था कि मेरी प्रेमिका मेरेको चाट रही है । तो बताओ संगतिका असर क्यासे क्या नहीं करवा देता । ऐसी दुर्जनकी संगति त्याज्य है जो पापमें ढकेले और कुबुद्धि बढ़ाये । दुर्जन संगतिसे कीर्ति भी नष्ट हो जाती है । इसका प्रभाव अहितकर है । जब बच्चेकी उम्र कुछ बड़ी होती है, बच्चा किशोर अवस्थामें आता है तब उसके माता-पिताको इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि हमारा बेटा कहीं कुसंगमें तो नहीं पड़ गया । नहीं तो उस अवस्थामें कहो शराबी बन जाय, जुवा खेलने वाला बन जाय, घरको लूटने वाला बन जाय । जैसी चाहे स्वच्छंद वृत्ति हो जाती है । यदि धर्मके कुछ अंकुर जमाया हो पहलेसे जैसे कि मन्दिर आना, दर्शन करना, त्यागियोंके निकट बैठाना, उनकी वैयावृत्ति कराना, शास्त्र सुनाना, कुछ यम नियम दिलाना आदि तो

http://sahjanandvarnishastra.org/

इन धार्मिक प्रसंगोंमें आनेका फल बड़ा होता है। नहीं तो कुसंग मिलनेपर वह बच्चा बरबाद हो जाता है। सो ऐसे कई दृष्टान्त मिलेंगे।

(२२३) **दुष्टसंगसे कीर्तिका विनाश धर्मका ध्वंस व विपत्तिका प्रसार**—यह दुर्जन संगति कीर्तिको नष्ट कर देती है। वहाँ लोग कहने लगते कि काहेका बड़ा कुल, इसने तो बाप दादाका भी नाम डुबो दिया। खुदका भी अनर्थ और दूसरेका भी अनर्थ। तो यह दुर्जन संगति तीनों लोकोंका ध्वंस करने वाली है। दुष्टसंगतिसे धर्मका विध्वंस होता है, विपत्तिका विस्तार होता है। बड़ा पुरुष वह है जो विपत्तिसे बचाये और सबको समान दृष्टिसे देखे, सबको सुखी होनेकी भावना रखे। जो दूसरेको विपत्तिका निमित्त बने और दूसरेको विपत्ति में देखकर खुश रहे, ऐसा यदि कोई करता है तो समझो कि वह बड़ा ही अनर्थकारी है। आर्षपरम्परामें सबके लायक सबको समय-समयपर उपदेश किया गया है। एक चाण्डालको यही नियम दिलाया, जब पूछा कि तुझे किसका मांस पसंद है? तो उसने कहा—कौवेका। ....अच्छा तू कौवेका ही मांस छोड़ दे। घटना देखिये—किस किस प्रसंगमें किसको कहाँसे प्रारम्भ किया और उद्धारका कहाँसे साधन बना। जो चाण्डाल जैसा है उसके लिए ऐसे मूल गुणोंकी व्यवस्था की कि भाई मद्य, मांस, मधु और पंच उदम्बर फल छोड़ दे, तू श्रावक है। अच्छे कुलमें जन्म लेने वालेके लिए यह मूल गुण बताया कि मद्य, मांस, मधुका त्याग, उदम्बर फलोंका त्याग, देवदर्शन, जीवदया, जल छानकर पीना, रात्रिभोजन त्याग। तो सबपर सहानुभूति हो, सबके योग्य जिस प्रकारसे इसका उत्थान हो उस प्रकारका उनको सहयोग करें ऐसे महापुरुष उदात्त और समझिये कि सबके माता-पिताके रूपमें होते हैं। जैसे माँ अपने सब बच्चोंपर एक पुत्रवत स्नेह रखती है ऐसे ही ज्ञानी धर्मप्रेमी पुरुष नामका भी जैन, स्थापनाका जैन, द्रव्य जैन, भाव जैन, अल्पज्ञानी हो, बहुज्ञानी हो, न जानता हो पर एक मैं जीव हूं हित चाहता हूं इतनी भर श्रद्धा रखता हो, सबपर उसका साधर्मिता सम्बंधित वात्सल्य होता है। सबपर उसका प्रेम होता है, पर यह मेरा है, यह पराया है, यह गणना लघु चित्त वालोंके होती है और अपने परायेका भी निर्णय क्या? अपनी कषायसे जिसकी कषाय मिल गई उसे कहा जाता है अपना और जिसकी कषायसे दूसरेकी कषाय नहीं मिलती उसे कहा जाता है पराया। ये सब जहाँ दोष पाये जाते हैं, जिनके निन्दाकी आदत बनी रहती है समझिये वह संगति भली नहीं होती।

(२२४) **संगति व मननकी सावधानी**—भैया, एक मोटी पहिचानमें तो जहाँ अपने को कुछ प्रेरणा मिलती है—वैराग्य मिले, शान्ति मिले, सन्मार्ग मिले वह संगति तो श्रेष्ठ है और जहाँ पापकी ओर बुद्धि जाय वह संगति श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि इस जीवका अनर्थ करने वाला स्वयंका विकार है। उसकी पुष्टि यदि होती है तो वह हमारे लिए बड़ी कठिन समस्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है और हमें उस समय विवेक करना चाहिये कि मेरे द्वारा किसी जीवका बिगाड़ न हो, मेरे द्वारा मेरा बिगाड़ न हो, इस बातकी ओर बहुत सावधानी रखनेकी जरूरत है। अन्यथा संसारमें पुण्यके बलपर कोई किसी प्रकार बड़ा बन गया तो उस बड़ा बननेका कोई महत्त्व नहीं, राजा भी मरकर कीड़ा बन जाता है। कीड़ा भी मरकर राजा बन जाता है। जहाँ इतना विचित्र परिवर्तन होता है वहाँ सांसारिक बड़प्पनका क्या महत्त्व है ? सो स्वरूपदृष्टि के बलसे इस बातका अभ्यास जरूर होना चाहिए धार्मिक प्रसंगोंमें, सामायिकमें, आत्मकल्याण के कार्योंके प्रसंगमें कि मुझे इस संसारमें यश, कीर्ति, नामवरी ये लाभदायक नहीं हैं, इनमें मुझे चित्त नहीं फँसाना है। यह अभ्यास होना चाहिए, यह आत्मदयाके लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि जितना बाह्य विकल्पोंसे हटा हुआ रहेगा उतना ही इसे अवसर है कि वह सहज आत्मस्वरूपकी अनुभूति पा ले। इस शरीरको निरख करके अहंकार होना—मैं कितना ज्ञान वाला हूं, कैसा रूप वाला हूं, कैसा प्रतिष्ठा वाला हूं, कैसा चला ऐश्वर्य वाला हूं, जितना जो कुछ अहंकार होना है वह सब शरीरको अपनानेसे होता है। फोटो, नाम, ये सब शरीरमें आत्मबुद्धि वाले ही तो किया करते हैं नहीं तो क्या आग्रह ? तो अपने आपमें यह साधना बनाये बिना हम आत्मानुभवके पात्र नहीं हो सकते। पड़े रहेंगे मायामें और चाहें कि मुझे उस सहज ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति जगे तो यह बात नहीं बन सकती। तो सन्मार्गपर चलनेके लिए आवश्यकता है हमें सत्संगकी और दुर्जन संगतिसे हटनेकी।

(२२५) **दुष्टसंगतिसे संपत्तिका विनाश एवं नाना विकृतियां**—दुष्ट संगतिके कारण सम्पत्तिका भी विनाश हो जाता है। बहुतसे लोग जिनके पास इतना धन है कि बिना कमाये ही यदि खर्च चलाना चाहें तो दो-चार पीढ़ी चले, मगर जो एक जो सालमें ही साराका सारा धन खर्च हो जाता है उसका कारण आजीविका सम्बंध नहीं है, त्याग नहीं है, दान नहीं है, उसका कारण है दुर्जनसंगति। दुष्टसंगति होनेपर, कुसंग मिलनेपर बरबादी होती है। खायें पियें, दूसरोंके उपयोगमें लगायें, इसमें कभी बरबादी नहीं होती। आपको ऐसी घटनायें अनेक मिलेंगी। तो दुष्ट संगतिसे सम्पत्तिका उन्मर्दन हो जाता है। दुष्टसंगतिसे फिर न्याय नीति कुछ नहीं रहती, विनय भी नहीं रहता। और दुष्टसंगति होनेपर ऐसी विचारधारा वह निकलती है कि वह फिर किसीका भी सन्मान न कर पायगा और साधुजन, गुणीजन इनसे तो द्वेष ही रखेगा। तो यह दुष्ट संगति क्या क्या इस जीवको अनर्थ नहीं करती। यह बताकर आचार्यदेव इहलोक और परलोकको बिगाड़ने वाली दुर्जनसंगतिसे बच्चेका आदेश देते हैं। चित्तमें क्रोध भरा रहता है। यह दुष्टसंगतिका ही असर है। जो क्षमाशील हैं, मानरहित हैं, जैनशासनके अनुसार अपने आचरणमें कदम बढ़ाये हुए हैं उन पुरुषोंकी संगतिमें कोई रहे तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उसे क्रोधका क्या अवसर आयगा ? क्रोधका अवसर दुष्टसंगति होनेसे होता है और शान्तिका विध्वंस हो जाता है। अशान्त चित्त हो जाता है। आत्महितके लिए जिसे आत्महित चाहिए वह सही ज्ञानप्रकाश उस थोड़ेमें भी पा लेता। कोई विरुद्ध दशामें चलता है और बहुत कुछ जाननेमें सूक्ष्मता भी करे तो भी उसे आत्महित न मिलेगा।

(२२६) **सही श्रद्धाके बिना कल्याणमार्गमें आनेकी असंभवता**—सत्य श्रद्धा बिना जीव कल्याणके मार्गमें लग ही नहीं सकता, और सत्य श्रद्धा क्या ? अपने आपका जो सहज आत्मस्वरूप है अपने आपके ही सत्त्वके कारण अपने आपमें जो स्वरूप है उस रूपमें अपने आपको मान लेना कि मैं वास्तवमें यह हूं और ऐसी ही धुन बनाये रहना, दृष्टि बनाये रहना, जिसके प्रतापसे कभी यह स्थिति बने कि ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इसका पौरुष करना चाहिए और यह होता है शान्तिमें, कषायोंके शमनमें। अपने आपको निष्पक्ष बनाये रहनेमें। आत्माके नाते ही अपने आपका व्यवहार बनायें। हम अपने आपको ही गिराते हैं, और हम अपने आपको ही उठा सकते हैं, हम अपने आपको ही नरकादिकमें ले जाते हैं तो हम अपने आपको ही संसार संकटोंसे छुटा सकते हैं। इसके लिए चाहिए सत्य का आग्रह और असत्यका असहयोग। ये विकार, ये बाह्य संग पदार्थ ये सब मेरे स्वरूपास्तित्वमें नहीं हैं, इनका सहयोग न चाहिए। मेरे स्वरूपास्तित्वमें मेरा चित्प्रतिभास चैतन्यस्वरूप है उसरूप आग्रह करिये। मैं सही हूं और इस भावनाकी सिद्धिके लिए जिन्होंने ऐसे स्वरूप को प्रकट किया है उन अरहंत सिद्ध प्रभुकी भावना कीजिये, भक्ति कीजिये और ऐसा होनेके लिए जो प्रयत्नशील हैं ऐसे आचार्य, उपाध्याय, मुनि इनकी भक्ति कीजिए। पंच परमेष्ठी ही तो एक आदर्श हैं, आराध्य हैं, पूज्य हैं। तो जब इस अपने सहज आत्मस्वरूपमें हम न रह सके तो जिनके विकास हुआ है उनकी आराधना जो इस पंथमें चल रहे हैं, मोक्षमार्गमें प्रयत्नशील हैं, साधक हैं उन साधु जनोंकी भक्ति, यह तो व्यवहारमें करने योग्य बात है और परमार्थमें शुद्ध सहज आत्मस्वरूपकी आराधना यह करने योग्य बात है। जब स्वरूपकी बात कहा तब ऐसा ध्यान धरना चाहिए कि बस मेरे ही सत्त्वके कारण जो मेरेमें अभिन्न अनादि अनंत तत्त्व है उसकी बात कही जा रही है। तब ही आप यह समझ जायेंगे कि आज मुझमें विकार है, पर मेरे स्वरूपमें विकार नहीं। उस स्वरूपकी आराधना करनी है, उस ही को शुभ द्रव्य के रूपसे आदेय बताया जाता है। तो ये सब दृष्टियां हमारी बनें, उसके लिए हमारा व्यवहार ऐसा चाहिए कि दुर्जनोंके संगमें हमारा समय न व्यतीत हो और जो निश्छल पुरुष हों जिनकी भावना इन संसार, शरीर, भोगोंसे छूटनेकी हो उनकी संगतिमें हमारा अधिकाधिक समय व्यतीत हो।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

न व्याघ्रः क्षुधयातुरोऽपि, कुपितो नाशीविषः पन्नगो,
नारातिर्बलसत्त्वबुद्धिकलितो मत्तः करींद्रो न च ।
तं शक्नोति न कर्तुमत्र नृपतिः कंठीरवो
दोषं दुर्जनसंगतिर्वितनुते यं देहिनां निंदिता ॥४२७॥

(२२७) **समस्त घातक संगोंसे भी कुसंगकी सर्वाधिक घातकता**— इस जीवका अहित यह दुष्टसंगति करती है । हमारा अहित करने वाला संसारमें कोई पदार्थ नहीं । यदि कोई भूखसे पीड़ित व्याघ्र है तो वह अधिकसे अधिक क्या करेगा ? एक भवका मरण कर देगा । पर यह दुष्टजनोंका संग ऐसा भयंकर है कि इसके फलमें भव-भवमें जन्म मरण करना पड़ता है । यदि कोई सर्प क्रुद्ध हो गया तो वह उतना अधिक अहित न करेगा जितना कि दुर्जनकी संगति करती है । कोई बड़ा पराक्रमी बलशाली शत्रु हो तो वह उतना भयंकर नहीं है जितना कि दुष्टजनोंका संग भयंकर है । मदोन्मत्त हाथी क्रुद्ध हो, राजा या बड़े-बड़े बलवान सिंहादिक जंतु क्रुद्ध हों तो ये अधिकसे अधिक एक भवमें ही दुःख दे सकेंगे, पर दुष्टोंका संग पापको बढ़ाने वाला होनेसे अनेक भवोंमें दुःख उत्पन्न करता है । इसलिए जीवनमें दुष्टसंगसे बचना और सत्संगमें अपने आपको लगाना यह बहुत ध्यान देनेकी बात है, और ऐसे ही अपनी सन्तानके प्रति भी ध्यान रखना कि वे कुसंगमें न पड़ें । ज्ञानी ध्यानी विरक्त साधु संत, उनकी ही संगति करते रहें । धर्म ध्यानमें कुछ चित्त लगता रहे, व्यसनोंका त्याग करा दें, अभक्ष्यका त्याग करा दें तो उस नियमके पालनेमें उसका उपयोग लगेगा, खोटी संगतिकी ओर चित्त न जायगा, ऐसे ही अपनेको और अपने परिजनोंको भी धर्मके मार्गमें लगानेकी बात सोचना चाहिये और करना चाहिये ।

व्याघ्र व्यालभुजंगसंगभयकृत्कक्षं वरं सेवितं
कल्पांतोद्गतभीमवीचिनिचितो बार्द्धिर्वरं गाहितः ।
विश्वालोषकरोज्ज्वलशिखो वह्निर्वरं
चाश्रितस्त्रैलोक्योदरवर्तिदोषजनके नासाधुमध्ये स्थितं ॥४२८॥

(२२८) **कुसंगमें सर्वाधिक बुराई**—शिकारी हो, सर्प हो ऐसे ये अनेक भयानक प्राणनाशक जन्तुवोंसे भरे हुए वनमें निवास करना तो भला है, पर दुष्टोंके संगमें निवास करना भला नहीं है, क्योंकि यहाँ भाव बिगड़ते हैं, पाप वृद्धि होती है और जन्म जन्मके लिए अपनी खराबी बनती है । प्रलयकालके समय उठे हुए भयानक तरंगोंसे तरंगित समुद्रकी धारा में डूब जाना भला है, पर दुष्टसंग भला नहीं । अभी इस छन्दमें आगे दुष्टसंगतिकी व्याख्या की जायगी । उसी प्रसंगमें बतला रहे हैं कि बड़ेसे बड़े उपद्रव, प्राणविनाश भी भला है पर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दुष्टसंग भला नहीं। सारे संसारको भस्म करनेमें समर्थ जाज्वल्यमान अग्निकी ज्वालामें में जलकर भस्म हो जाना भला है, परन्तु दुर्जनोंके सङ्गमें रहना भला नहीं, क्योंकि वहाँ दोष ही उत्पन्न होंगे अतएव भव भवमें बुरा होगा। सो दुष्टसंग इस जीवके लिए सबसे अहितकारी प्रसंग है।

वाक्यं जल्पति कोमलं सुखकरं कृत्यं करोत्यन्यथा
वक्रत्वं न जहाति जातु मनसा सर्पो यथा दुष्टधीः।
नो भूतिं सहते परस्य न गुणं जानाति कोपाकुलो
यस्तं लोकविनिंदितं खलजनं कः सत्तमः सेवते ॥४२६॥

(२२६) **दुर्जनका लक्षण प्यारे वचन, किन्तु चित्तमें कपट**—दुर्जनका लक्षण क्या है, इसका संकेत इस छन्दमें दिया गया है। यह दुष्ट पुरुष कोमल वचन बोलता है इस प्रकार कि सुन करके उसे सुख उत्पन्न हो। सो ऐसा बोलना बुरा नहीं है मगर बोलना तो इस प्रकारका है कि कोमल बोलें, सुखकारी बोलें, बड़े सम्मान वाले वचन बोलें, पर कर्म उससे विरुद्ध करें। बस उसको फसाना, बहकाना यह भावना रखकर कोमल और प्रिय वचन बोलते हैं दुर्जन पुरुष और वे इस प्रकार विरुद्ध चलते हैं, अपना कपट, टेढ़ापन, वक्र चलना नहीं छोड़ते, सदा टेढ़ा ही चलते हैं। जिस प्रकार कि सर्प कभी सीधा नहीं चलता इसी प्रकार दुर्जन भी अपने मनसे टेढ़ा ही टेढ़ा चलते हैं। तो वे कपटको कभी नहीं छोड़ पाते। पहिचान करना भी बड़ा कठिन है। क्योंकि जो कपट जालमें बढ़े चले हैं, जिनको जितना ऊँचा कपट करनेकी आदत है उनका ऐसा सुन्दर व्यवहार बनता है कि लोग पहिचान नहीं सकते और उल्टे ये बड़े साधु हैं, सन्त हैं, बहुत ही उच्च पुरुष हैं इस प्रकारकी भावना उसके प्रति बन जाती है, बस यह ही दुर्जनका लक्षण है। मनमें और, वचनमें और, करे कुछ और। दुर्जन पुरुषके लक्षण बताये जा रहे हैं।

(२३०) **दुर्जनका लक्षण ईर्ष्या करना व गुणी व उपकारीका अपमान व विघात**—जो दूसरेकी बढ़तीको देखकर मन ही मन जल भुनकर खाक हो जाते हैं, सह नहीं सकते, ईर्ष्या वाले पुरुष हैं वे दुष्ट पुरुष हैं। उनकी संगति करनेपर कभी वह उसपर भी ईर्ष्या करे, आक्रमण करे अथवा जिसका चित्त कलुषित है उस पुरुषके साथ रहनेपर सदैव धोखा ही धोखा रहता है। कदाचित् वह पुरुष कारणवश क्रुद्ध हो जाय तो वह गुणियोंके गुणोंको तनिक भी नहीं गिनता, क्रोधवश नहीं गिनता, कपटवश नहीं गिनता, मानवश नहीं गिनता। अपने आपमें कीर्तिकी इच्छाके कारण गुणियोंके गुण नहीं गिनता। जिसकी दृष्टिमें गुणीजन न कुछ हैं ऐसा भाव बना रहता है वहाँ दुर्जनताका निवास है। दुष्ट पुरुष उपकारीके उप-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कारको भी तनिक भी नहीं मानता, तुच्छ हृदय है। स्वार्थकी गंध है। दूसरा कितनी ही तकलीफ पाये उस ओर उसकी दृष्टि नहीं। इतना मन स्वच्छंद हो जाता है कि वह उपकारी पुरुषके उपकारको भी भूल जाता, ऐसा उसका कषायसहित हृदय है तो ऐसे दुष्ट पुरुषका संग विवेकी पुरुष नहीं करते।

(२३१) **दुर्जनोंके प्रथम और द्वितीय लक्षणका पुनः परिचय**—इस छंदमें दुष्टोंके लक्षण में पहला लक्षण तो यह बतलाया कि जो बोल तो बहुत मीठे बोले, सुखकारी बोले मगर भीतरी भाव विरुद्ध हो। वह दूसरा मेरी चालमें फस जाय, यह मेरा सेवक सा बन जाय। यह मेरा ही गुणगान करने वाला, कार्य करने वाला, बन जाय ऐसे किन्हीं आशयोंसे वह मीठे वचन बोलता है। दूसरोंका सम्मान करने वाले वचन बोलता है, दुष्ट पुरुषोंका पहला प्रधान चिन्ह यह है, जिनकी संगतिके लिए कितना अभी वर्णन हुआ था कि दुष्ट संगसे भला तो अग्निमें जल जाना है, समुद्रमें डूब जाना है, पर दुष्ट संग भला नहीं है, क्योंकि उस प्रसंगसे संस्कार बढ़ता, कषायभाव बढ़ता, मोहभाव बढ़ता, जिससे जन्म-जन्ममें दुख भोगना होता है। दूसरा लक्षण है कि वह किसी भी समय कपटको नहीं त्याग सकता। अपने बारेमें कितनी ही कथनी गढ़ेगा, लोगोंको तैयार करेगा यहाँ वहाँ प्रशंसाके पुल बँधायगा, अनेक प्रकारकी अपनी करतूत करेगा एक अपने कपट द्वारा, जिससे कि अपने स्वार्थकी सिद्धि हो। स्वार्थ केवल धनसंचयमें ही नहीं है, नामवरीकी चाह रखना यह इतना बुरा स्वार्थ है कि जिसके पीछे अपने संग प्रसंगमें रहने वाले लोग धोखेमें आ जाते हैं और दुःखी होते हैं। तो दुनियामें अनेक प्रकार के जीव बस रहे हैं, रहें, पर अपने आपको सावधान रखना।

(२३२) **अपने प्रयोजनमें सावधानीका कर्तव्य**—भैया, आपको केवल दो ही तो चीजें चाहिए—एक आजीविका, दूसरा धर्म। आजीविकाके बिना गृहस्थका निभाव नहीं और धर्म बिना तो गृहस्थका निभाव होगा ही नहीं। आजीविका थोड़ी हो उसमें भी गुजारा हो जायगा, जैसा हो उसमें ही गुजारा किया जा सकता, पर धर्मके बिना तो आत्माका कभी गुजारा सही बन ही नहीं सकता, सदा अशान्ति रहेगी। सो दो बातें चाहिए, दोनो बातोंमें सावधान रहना चाहिए। धर्मके प्रसंगमें इतनी ही तो बात है कि अपनेको अपने स्वभावकी दृष्टि बने और यह आस्था बने कि मैं स्वभावमात्र हूं, चेतना मात्र हूं। जो मैं अपने आप अपने ही बलसे अपनी ही सत्तासे जैसा मेरा स्वरूप है बस उसकी आस्था बने कि मैं तो यह हूं, बाकी सब पर हैं। मेरे लिए बेकार हैं। वे अन्य पदार्थ हों अथवा विकार भाव हों, ये सब मेरे लिए बेकार हैं। इनमें लगाव न रखूंगा और मैं अपनेको एक चेतना मात्र अनुभवनेका प्रयास करूँगा, यह बात जिन जिन भवोंमें मिले, इसका अपात्र न बनूं, इसके लिए शुभो-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पयोग भी करना पड़े तो करता है और उस कालमें वह उपादेय समझता है, वह कभी भगवानके सामने ऐसी स्तुति न करेगा कि हे प्रभो, तुम परद्रव्य हो, तुम्हारी श्रद्धा करनेसे संसार बढ़ता है...., बताओ यह भी कोई भक्ति है क्या ? यह तो गुणोंका इस ढंगसे स्मरण करेगा कि वह अपने आपका नाता उसमें जोड़ लेगा, स्वरूपसाम्य। तो गृहस्थजनोंमें तो शुभोपयोग की ही मुख्यता कही गई है आस्था और श्रद्धामें क्या बोलेंगे कि यहाँ हमारे लेप हूं, परिग्रहमें वसना है, कुटुम्बमें वसना है, व्यापारके समय कितने प्रसंग मिलते हैं, नीचसे नीच लोगोंसे वार्ता करनी होती है कितने ही दुष्ट जनोंका भी संग प्रसंग मिलता है तो इतना जहाँ लेप बना है वहाँ अगर शुभोपयोगको भी छोड़ दे तब तो यह क्या ? अशुभोपयोगका वतावरण हैं। शुभोपयोगको छोड़ दें, शुद्धोपयोग वहाँ अशक्य है, तब तो वह अपने आपको बस बरबाद ही कर रहा। सो दो ही तो कार्य हैं—आजीविका करें और अपनी पदवीमें धर्मका पालन करें और अपनी पदवीमें धर्मका पालन करें। ये दो वस्तु चाहिए, ऐसा जिनका निर्णय है वे कहीं धोखा न खायेंगे। चाहे कोई उतने तकका भी संग हो कि जिसका कपट हम पहिचान भी न पायें, लेकिन उसका लगाव अपने आपकी ओर होगा, दूसरेकी ओर न होगा।

(२३३) दुष्ट पुरुषके अन्य लक्षण—यहाँ दुष्टोंके लक्षणमें दूसरा लक्षण बताया है कि वे कपटको कभी छोड़ नहीं सकते। तीसरा लक्षण यह कहा है कि दूसरे पुरुष किसी कार्यमें प्रगति कर रहे हों लौकिक अलौकिक किसी भी कार्यमें तो उनके प्रति उसे ईर्ष्या जग जाती है। वह उसे सहन नहीं कर पाता। और भीतर मानो जलकर खाक हो जाता है। चौथा लक्षण बताया कि गुणीजनोंके गुणोंको न देखकर केवल दोष ही निरखता है, दोष ही उगलता रहता है। मनुष्यकी यह सबसे बड़ी भारी कमी है, भला यह तो बतलावो कि दूसरेके दोषों को निरखते समय उसके उपयोगमें क्या बसा ? दोष बसा कि गुण ? दोष बसा है। तो स्वयं दोषमय हो गया तब तो उसकी दोष बोलनेकी आदत बन गई। सो गुणीजनोंके गुणोंको न निरखकर दोषोंको ही निरखता है, यह दुष्ट पुरुषका चौथा चिन्ह है। ५ वाँ चिन्ह यह है कि उसका किसीने तनसे, मनसे, धनसे ज्ञानसे भला सोचनेके सद्भावसे कितनाही उपकार किया हो, पर वह उपकारको नहीं गिनता और वह अपनी कषायोंका ही लगाव रखता है। वह अपने लिए कष्ट नहीं झेल सकता। चाहे उस प्रसंगमें उपकारी पुरुषके विरुद्ध भी चलना पड़े तो विरुद्ध भी चलता उपकारी पुरुषके उपकारको तनिक भी नहीं गिन सकता मायने कृतघ्न नहीं हो सकता यह दुष्ट पुरुषका ५ वाँ लक्षण है। तो ऐसे अन्य भी लक्षण समझना। ऐसे दोषयुक्त पुरुषोंका संग करना भला नहीं है। अब इनमें कितनी ही बातें तो अनुभवमें उतरती होंगी कि ऐसे पुरुषका संग करनेसे अपने भावोंमें क्या प्रभाव पड़ता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है और किस तरहसे हमारी बरबादी प्रारम्भ हो जाती है।

नीचोच्चादिविवेक नाशकुशलो बाधाकरो देहिना—
माशाभोगनिरासनो मलिनताच्छन्ननात्मनां बल्लभः।
सद्दृष्टिप्रसरावरो घनपटुर्मित्रप्रतापाहतः
कृत्याकृत्यविदा प्रदोषसदृशो वर्ज्यः सदा दुर्जनः ॥४३०॥

(२३४) दुष्ट जनोंकी प्रदोषकालवृत् अनर्थकारिता—जिस दुष्टके संगका निषेध किया गया है उस दुष्टकी कुछ बातें बतायी जा रही हैं जिन लक्षणोंसे पहिचान बने और उसका संग छोड़ दिया जाय जाय। जैसे प्रदोष कालमें रात्रिके समय पश्चिम रात्रिमें वह समय कुछ ज्ञान नहीं होने देता कि वह जगह ऊँची है, यह नीची है, कहाँ क्या पड़ा है, क्योंकि वह अंधकार का समय है। तो जैसे अंधकारका समय ज्ञान न होने देनेमें कारण है इसी प्रकार दुष्ट मनुष्यों का प्रसंग भी ऊँच नीचका विचार न करनेमें कारण होता है। क्या श्रेष्ठ है, क्या लघुता है, इसका विचार फिर दुष्ट संगतिमें नहीं रहता। देखिये—अच्छा कुलमें होना, अच्छा वातावरण होना अच्छा संग प्रसंग होना, यह बड़ी उत्तम चीज हुआ करती है। उसका बड़ा दुर्भाग्य है कि अच्छे कुलमें उत्पन्न होकर भी कोई ऐसी दुष्ट संगति रुच जाय जिससे व्यसनकी ओर, पाप की ओर, दूसरेको बाधा देनेकी ओर अथवा अपनी कीर्तिको जिस किसी भी प्रकार बढ़ानेका भाव बने। यह सब इस जीवके लिए विपदा है। जैसे प्रदोषकाल याने पश्चिम रात्रिका समय है, प्राणियोंको ठंड आदिककी बाधासे दुःख पहुंचाता है इसीतरह यह दुष्ट प्रसंग भी प्राणियोंको नाना तरहसे दुःख पहुचाता है। जैसे प्रदोष काल दिशावोंके विस्तारका ज्ञान नहीं होने देता, याने कुछ दिखता ही नहीं कि किस जगह क्या हैं, है इसी प्रकार यह दुष्ट प्रसंग भी सत्य असत्य तत्त्वका परिचय नहीं होने देता। उसी समय तो चोर आदिक मलिन मनुष्य लोग अपना ऊधम बखेड़ा मचाते हैं और उनको यह पिछली रात्रि बड़ी प्रिय होती है। चोरी का समय पिछली रात ही हुआ करती है दो बजे तीन बजे, तो जैसे पिछली रात्रि चोरोंको प्रिय है इसी प्रकार यह दुष्ट प्रसंग, यह दुष्ट संग चोर जुवारी, परस्त्री लम्पटी आदिक पुरुषोंको प्रिय होती है। ५ प्रकारके पाप कहे गए, उनमें अपने आप पर कुछ बात घटाते रहना चाहिए। मेरे द्वारा दूसरे जीवोंको कष्ट होता क्या ? यदि मैं दूसरेको व्यर्थ ही कष्टका कारण बना जा रहा हूं तो वह मेरी चर्या धिक्कारके योग्य है। क्या मैं दूसरे पुरुषोंपर झूठे कपटभरे वचन बोलकर उनका विघ्न कर्ता बनता हूं ? यदि यह झूठ बोलनेका मुझमें संग प्रसंग बनाता हैं तो उसके लिए हितरूप नहीं है। ऐसा चोरी, कुशील किया, किसी पर नारीपर यदि मेरे भाव खोटे बनते हैं तो यह मेरे हितके लिए नहीं है, ऐसे ही पौद्गलिक इन ढेरोंके लिए यदि तृष्णा जग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रही है तो उसमें मेरा हित नहीं है। अपनी वृत्ति पापोंसे रहित दूसरोंका हित करने वाली होनी चाहिए।

(२३५) दुष्टप्रसंगसे अज्ञानान्धकार व व्यर्थ विसंवादका प्रसार—यहाँ दुष्ट प्रसंगमें कह रहे हैं कि जैसे वह प्रदोष काल तेज आँख वालेको भी कुछ दिखने नहीं देता ऐसे ही यह दुष्ट प्रसंग सज्जनोंकी सज्जनता रोकनेमें चतुर होता है, शुद्ध भाव नहीं रह पाता। हमारे शुभ, अशुभ, शुद्ध, विशुद्ध कुछ परिणाम चलते रहें तो यह तो हमारे लिए हितकी बात है और यदि कोई बातका प्रसंग बना लेवें कि जिसमें हितसे दूर होते जायें तो वह हमारे हितके लिए बात नहीं है। कितने ही विवाद बिना काम व्यर्थ चलते हैं जिनसे कोई लाभ भी नहीं होता, पर कषायकी प्रेरणा है कि चाहे लाभ भी न हो पर चाहिये अपनी कषायका लगाव। जैसे कभी दो मनुष्योंमें वार्ता छिड़ जाय कि भाई अमुक गाडी मान लो बाम्बेमेल इस स्टेशनसे बाम्बेके लिए कितने बजे जाता है। तो एक तो बोला कि रात्रिको ६ बजे जाता है। दूसरा बोला—नहीं तू झूठ बोलता ११ बजे जाता है। बस इसी बात पर दोनोमें विवाद बढ़ गया और इतना विवाद बढ़ गया कि हाथापाई होनेकी नौबत आ गई। अब वहाँ कोई तीसरा व्यक्ति आया पूछा भाई आप लोग क्यों झगड़ते हो, बात क्या है ? तो उनमें से एक बोला—देखो यहाँसे बाम्बेमेल रात्रिको ६ बजे जाता है और यह झूठ बोलता कि ११ बजे जाता है, दूसरा बोला—नहीं नहीं, झूठ तो यह बोल रहा, बाम्बे मेल तो रात्रिके ११ बजे ही यहाँसे बाम्बेके लिए जाता है न कि ६ बजे। तो उस तीसरे व्यक्तिने पूछा—अच्छा यह तो बताओ कि तुम दोनोमें से बाम्बे किसको जाना है ? तो वे बोले—जाना तो हम दोनोमें से किसीको भी नहीं है, केवल बात ही बातकी लड़ाई है। तो ऐसी ही बात यहाँ समझ लो, धर्म तो कोई करना नहीं चाहता पर धर्मके पीछे लड़ाई, पार्टीबाजी मनमोटाव करनेको तैयार रहते हैं। आजकल कुछ ऐसा ही वातावरण बन गया। मेरे विचारसे तो आजसे कोई ५०-६० वर्ष पहले का वह वातावरण अच्छा था जो कि मान लो कम पढ़े लिखे होते थे पर उनमें श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य आदिके कारण आनन्द बरसता था। आजके जो वृद्ध लोग हैं वे सब इस बातको अच्छी तरहसे जानते हैं। तो व्यर्थके विवादके प्रसंग किसीके भी हितके कारण नहीं बनते, तो ऐसे प्रसंगोंसे दूर रहें और अपने आपको वर्तमानमें कुछ शान्ति संतोषका अनुभव हो तो हम आगे प्रगतिकी भी आशा रख सकते हैं। जब वर्तमानमें ही हम व्यग्र हो गए तो हम आगे हितकी क्या आशा कर सकेंगे ? सो अपनेको बहुत सम्हालकर रखनेकी जरूरत है। यहां कोई किसीका शरण और रक्षक नहीं है, खुदको खुदके विवेकसे काम लेना होगा और अपने ही ज्ञानप्रदेशी प्रभुसे कुछ निर्णय लेकर अपना जीवन चलायें, इसमें ही अपना हित है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

ध्वांतध्वंसपरः कलंकिततनुर्वृद्धिक्षयोत्पादकः
पद्माशी कुमुदप्रकाशनिपुणो दोषाकरो यो जड़: ।
कामोद्वेगरस: समस्तभविता लोके निशानाथवत्
कस्तं नाम जनो महासुखकरं जानाति नो दुर्जनं ॥४३१॥

(२३६) **दुर्जनोंकी ध्वान्तध्वंसभिन्नता**—यह दुष्टसंग निरूपणका परिच्छेद चल रहा है याने दुर्जनकी संगतिसे जीवका कैसा अनर्थ होता है यह बात बतायी जा रही है। उसी सिलसिलेमें यहाँ दुर्जनका लक्षण बताया गया। दुष्ट पुरुष कौन-कौन कहलाते हैं ? तो इन विशेषणोंमें साहित्यिक ढंग है सो शब्दों द्वारा ज्ञान कराया गया है। प्रथम विशेषण दिया है कि यह दुर्जन चंद्रमाकी तरह ध्वांतध्वंसपर है। अब इन सब विशेषणोंके दो दो अर्थ चलेंगे। चंद्रमाका अर्थ और दुष्टजनोंका अर्थ, चंद्र है ध्वांतध्वंसपर, ध्वांत मायने अंधकार उसके ध्वंस मायने विनाशके करनेमें तत्पर जब चंद्रकी किरणें फैलती हैं तो वहाँ अंधकार नहीं रहता। तो दुर्जन कैसे हैं ? ध्वांतध्वंसपर, ध्वांत मायने अज्ञान अंधकार, उसका ध्वंस करने वाले जीव उससे पर मायने भिन्न है, मायने अज्ञानका नाश नहीं करते किन्तु अज्ञान नाशक पुरुषोंसे जुदा है। दुर्जन दुष्टोंकी संगतिसे अज्ञानका प्रसार होता है, बुद्धि खराब हो जाती है, तो उसके अज्ञानकी ही बातें बनती हैं। दुष्ट संगतिका वर्णन किया जा रहा, इसमें दुष्टोंका लक्षण कहा गया था और आगेके छंदमें कहा जायगा। यह कहा गया था कि दुष्टजनमें सबसे पहला लक्षण तो यह है कि बात तो बड़ी कोमक सुखकारी नम्रताकी बोलेंगे, पर उनके चित्तमें कपट रहेगा, यह दुष्टका प्रधान लक्षण है। देखनेमें बड़े सुहावने, बड़े सुखकारी वचन बोलते हैं मगर चित्तमें कपट भरा है। कपट क्यों हुआ करता ? विषयोंके लोभसे। कोई इन्द्रियके विषयोंके लोभसे कपट कर रहा है तो कोई कीर्ति नामवरीकी चाहसे कपट कर रहा है। सो कपटी पुरुष दूसरों का अहित और दुःख नहीं विचारता है। चाहे दूसरेकी कैसी ही बरबादी हो, पर स्वयंका स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए, यह उनके मनमें बात रहती है, पर ऐसे पुरुषोंका संग प्राणियोंका अहित करता है। ये दुर्जन अज्ञानी अज्ञानविनाशक पुरुषोंसे विपरीत हैं।

(२३७) **दुर्जनोंकी कलंकितशरीरिता व वृद्धिबाधकता**—दूसरा विशेषण है कलंकिततनुः। चन्द्रमाके शरीरमें कलंक बना हैं। चन्द्र कहलाता है पृथ्वीका यह पिण्ड जो लोगोंको दिखता है। यह खुद देवता नहीं है किन्तु चन्द्र देवताके रहनेका विमान है। सो उस विमान में कलंक है, उसमें काला काला दाग रहता है। जिसे कोई लोग कहते हैं कि बुढ़िया रहटा कात रही है, कोई लोग कहते हैं कि यह जंगल है, उसमें हिरण बना है। तो वह जो दाग है वह चंद्रमामें कलंक है। तो यह दुष्ट कैसा है ? कलंकिततनु:, दोषसहित शरीर वाला है।

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिसका मन दोषसे भरा हुआ होता है उसके शरीर पर भी दोष उतरते हुए दिखते हैं। तो यह दोषोंका घर है, ऐसे दुर्जनों की संगति लाभकारी नहीं होती। तीसरा विशेषण है, वृद्धि-क्षयोत्पादकः याने चन्द्रमा तो वृद्धि और हानिको उत्पन्न करता है। कृष्णपक्षमें चन्द्रकी कलायें घटती जाती हैं। शुक्लपक्षमें चन्द्रको कलायें बढ़ती जाती हैं। तो दुर्जन कैसा है ? वृद्धिक्षयोत्पादक याने दूसरोंकी वृद्धिमें यह दुःखी होता है तो उनका विनाश करनेका ही उसके चित्तमें चिन्तन चलता है। उसे कोई बड़े पुरुष नहीं सुहाते। कोई धनमें बड़ा है तो उससे द्वेष रखेगा। तो दुर्जनोंका हृदय ऐसा कषायसे भरा है कि वह दूसरे लोगोंकी प्रगति नहीं देख सकता। तो जो ऐसी दुष्ट प्रकृतिका है वह दूसरेकी प्रगति नहीं देख सकता। ऐसे दुर्जनका संग करना वह दूसरेकी प्रगति नहीं देख सकता। योग्य नहीं है।

(२३८) दुर्जनोंकी धनविनाशकता दुःखकारिता व दोषपूर्णता—चौथा विशेषण है पद्मशी। चंद्रमा तो पद्मा मायने कमलको मुरझा देने वाला है याने कमल दिनमें फूलता है और रात्रिमें मुरझा जाता है। तो यह दुर्जन कैसा है कि पद्मा मायने लक्ष्मी, उसका विनाश करने वाला है याने धनका नाश करने वाला है। दुष्टोंकी संगतिमें संगति करने वालेका धन खतम हो जाता है। जैसे बड़े घरके बालक छोटे हृदय वाले बालकोंका संग करें, उनकी दोस्ती बनायें तो उसमें कुलीन बालक लुटते ही हैं, उन्हें लाभ कुछ नहीं प्राप्त होता। तो दुष्टोंके संगसे सम्पत्तिका भी नाश होता है। ५वाँ विशेषण है—कुमुदप्रकाशनिपुण, चंद्रमा तो कुमुद जातिके फूलोंका प्रकाश करनेमें निपुण है। जैसे गदूलके फूल रात्रिको फूलते हैं, तो ये दुर्जन कैसे हैं ? कुमुद प्रकाश निपुण, कु कहो खोटा, मुद कहो हर्ष अर्थात् दुःखके प्रकाश करनेमें निपुण हैं। ये दूसरेका दुःख ही करेंगे। दुष्टसंगसे कोई जीव सुख शान्तिसे नहीं रह सकता। छठा विशेषण है दोषाकर। जैसे चन्द्रमा दोषा मायने रात्रिका करने वाला है तो यह दुष्ट दोषोंका आकर मायने खान है। कषायभरा, स्वार्थभरा, कपट भरा दुनियाको धोखा देनेका ही काम है, तो ऐसा दोषाकर दुर्जन संगति करनेके योग्य नहीं है।

(२३९) दुष्टोंकी मूर्खता कामोद्वेगप्रियता व परपीडाकारिता—७वाँ विशेषण है जड़। चंद्रमा तो जड़ है मायने शीतल है और दुर्जन जड़ मायने मूर्ख है। संग उसका बताया गया है जो अपने समान हो या अपनेसे गुणोंमें अधिक हो। उसका संग लाभ करने वाला होता है। और जो अधम हैं, दुष्ट प्रकृतिके हैं उनके संगमें कभी चैन नहीं मिल सकती। ८वाँ विशेषण है कामोद्वेगरस। जैसे चन्द्रमा कामके उद्वेगको बढ़ाने वाला है ऐसे ही दुर्जन पुरुष काम के उद्वेगसे प्रीति करने वाले हैं। जिनको काम विषय अधिक रुचे, दूसरी स्त्रीजनोंको देखकर भी कामकी बाधा ज्यादा आये और विषय रुचे वह पुरुष दुष्ट कहलाता है। ऐसे दुर्जनोंका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

संग किसीको भी लाभकारी नहीं है। सो यह दुर्जन पुरुष महान दुःखको उत्पन्न करने वाला होता है। यहाँ अंतिम विशेषण दिया है महासुखकर चंद्रमा तो महान् सुखका करने वाला है और दुर्जन महा असुखकर याने बहुत बड़े दुःखका करने वाला है। इस छंदमें आचार्यने साहित्यिक छटाके आधारपर दुर्जनकी विशेषता कहा है। अब अगले छन्दमें दुर्जनके कर्तव्यसे उनका परिचय कराया गया है।

दुष्टो यो विदधाति दुःखमपरं पश्यन्सुखेनान्वितं
दृष्ट्वा तस्य विभूतिमस्तधिषणो हेतुं बिना कुप्यति।
वाक्यं जल्पति किंचिदाकुलमनादुःखावहं यन्नृणां
तस्माद्दुर्जनतो विशुद्धमतयः कांडाद्यथा बिभ्यति ॥४३२॥

(२४०) **दुर्जनोंकी परक्लेशकारिता व परसुखासहता**—दुष्टजनोंकी प्रकृति होती है कि वे दूसरे मनुष्योंको सुखी नहीं देख सकते हैं। वे दूसरोंको सुखी देखकर भीतर ही भीतर जल भुन जाते हैं। ऐसी दुष्टता विरले पुरुषोंमें पायी जाती है, वे तो बहुत नीच वृत्ति वाले हैं। सो ऐसी बात प्रायः लोगोंमें नहीं मिलती, पर किसी किसी पुरुषमें यह दुर्भावना मिल जाती है। वह दूसरोंको सुखी नहीं देख सकता। कोई सुखी न हो, मैं ही एक मात्र सुखी रहूं बाकी सब दुःखी रहें, यही जिन्हें पसंद है ऐसे दुर्जनोंकी कौन कहानी कहे? ये दुर्जन पुरुष किसी न किसी प्रकार दूसरोंपर विपत्ति डालकर उनको दुःखी कर देते हैं। होते हैं कुछ ऐसे दुष्टजन कि जो दूसरोंको दुःखी करनेकी ही बात सोचा करते हैं और उस उपायमें यदि वे सफल हो गए तो उसमें बड़ा हर्ष मानते हैं। यह है हिंसानन्द रौद्रध्यान। दूसरोंको दुःखी देखनेमें ही मौज मानना यह बहुत अधम प्रकृति है, दुर्जन पुरुष दूसरोंकी बढ़ती हुई विभूतिको देखकर क्रुद्ध हो जाते हैं, क्रोध उमड़ जाता है। कैसा विचित्र उनके पापका उदय है कि वे स्वयं बड़े कठिन दुःखमें पड़े रहते हैं। यही उनको दुःख है, वे दूसरोंकी विभूतिको नहीं देख सकते।

(२४१) **दुर्जनोंकी क्रोधशीलता व दुर्वचनव्यवहारिता**—ये दुष्ट जन लोगोंपर बिना ही किसी कारण क्रोध कर बैठते हैं। क्रोध करनेकी प्रकृति बहुत बुरी प्रकृति है इससे यह मनुष्य न इस लोकमें सुखी रह सकता है और न परलोकमें सुखी रह सकता है। अज्ञान बसा है। जरा जरासी बातपर क्रोध उमड़ आता। जिनके ज्ञान है उनके एक समान वृत्ति चलती है। वे क्षमाशील होते हैं, दूसरोंको क्षमा कर देते हैं, किसी भी समय क्रोधभाव नहीं लाते, पर दुष्टजनोंकी प्रकृति ऐसी है कि कोई न कोई कारण हो तो क्रोध करें, पर कारण भी कुछ नहीं तो भी क्रोध करनेकी उनको आदत बनी हुई होती है। ये दुष्टजन दूसरोंको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

खोटे वचन कहकर आकुलित कर देते हैं और इस कारण दूसरे लोग बड़े दुःखी हो जाते हैं। जब हृदय खोटा है, स्वार्थमें अंधा है तो वचन सही कैसे निकल पायेंगे। जो भीतर बात बसी है उसके अनुकूल ही वचनव्यवहार होगा। सो जो निर्मल बुद्धिके धारक हैं ऐसे पुरुष उन दुष्टजनोंके उन वचनबाणोंसे दूर रहते हैं, भयभीत रहते हैं अर्थात् ऐसा प्रसंग नहीं बनाना चाहते कि जिससे मुझपर दुष्टजन वचनबाणोंकी वर्षा करें। ये वचन बाणकी तरह चुभते हैं। बल्कि उससे भी अधिक चुभते हैं। एक बार बाणका घाव तो कोई सहसता है पर वचनोंका घाव नहीं सह सकता। और ऐसा क्या पड़ी है कि ऐसे खोटे वचन निकलें कि जिससे दूसरों का हृदय दुःखी हो जाय। मर्मभेदी वचन किसलिए निकाले जायें ? मगर दुर्जनोंको तो भीतर अज्ञान बसा है सांसारिक सुख ही उसे सर्वस्व जचते हैं, तो कपट वहाँ बढ़ता ही है और उनके वचन भी दूसरोंको दुःखी कर दें इस प्रकारके निकलते हैं।

(२४२) **कुसंग तजकर सत्संग करनेका उपदेश**—यह एक शुद्ध व्यवहार बनानेके लिए आचार्यदेव यह सब उपदेश कर रहे हैं, संगति यदि भली रहेगी तो इसका उत्थान होगा। संगति जिसकी खोटी हो जाती है वह सभी प्रकारके व्यसनोंमें लग जाता है। जुवा खेलनेकी आदत बन जाती जिससे अपने घरका सब धन लुटा देते। नहीं रहता धन फिर भी जुवाकी आदत कहाँ जाय ? तो वह चोरी करता है। फिर झूठ बोलना पड़ता है, दूसरोंपर डकैती करता है, फिर ऐसा जिसका भाव गंदा हो गया वह ब्रह्मचर्य कहाँ पाल सकेगा, वह तो पर-स्त्रीगामी, वेश्यागामी बन जाता है। तो खोटा संग करने वाले पुरुष बड़ी विपत्तिमें पड़ जाते। कुलीन घरोंमें सत्संगका वातावरण होनेसे उनके संतान अच्छे भावके होते हैं। बचपन से ही मंदिरमें आना, विनती पढ़ना, पूजा सीखना, पूजा करना, व्रती, त्यागी, साधु संत आयें तो उनकी सेवा करना, गुणियोंका गुणगान करना यह सब ऐसा सत्संग है कि जिसमें रहकर बच्चा सम्हला रहता है और वह अपना इहलोक भी सम्हालता है और परलोक भी सम्हाल लेता है।

यस्त्यक्त्वा गुणसंहतिं वितनुते गृह्णाति दोषान्परे
दोषानेव करोति जातु न गुणं त्रेधा स्वयं दुष्टधीः।
युक्तायुक्तविचारणाविरहितो विध्वस्तधर्मक्रियो
लोकानन्दिगुणोपि कोपि न खलं शक्नोति संबोधितुं ॥४२३॥

(२४३) **गुणदृष्टि न करके दोषग्रहण करनेकी दुर्जनप्रकृति**—दुष्ट पुरुष अपने मन ही मन समझदार बनते हैं कि उनको समझानेके लिए बड़े-बड़े पुरुष भी समर्थ नहीं हो पाते। जिन्होंने समस्त लोकको आनन्दमय कर दिया ऐसे पुरुष भी दुष्ट पुरुषोंको सम्बोधन नहीं कर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पाते । ये दुष्ट जन दूसरोंके गुणोंको छोड़कर दोषोंपर ही दृष्टि देते हैं । जैसे एक जोंक कीड़ा होता है जो प्रायः पानीके किनारेपर रहा करता है वह यदि किसी दुधारू गाय या भैंसके थनमें लग जाय तो भी वह दूधको नहीं ग्रहण करता, बल्कि उसके खूनको ही ग्रहण करता है, ऐसे ही दुष्टजन गुणी पुरुषोंके गुणोंको न देखेंगे बल्कि उनमें दोष ही निकालेंगे । उनकी दोषोंकी दृष्टि है, उनके हृदयमें भी दोष भरे हैं । तो वे कषायका उगाल किया करेंगे । दोष ही दोष देखेंगे । तो यह दुष्टजनोंका प्रधान लक्षण है कि वे गुणग्राही नहीं होते किन्तु दोष-ग्राही होते और दोषोंको ही उत्पन्न कराते रहते हैं । ऐसे दुष्टजन गुणोंको तो पैदा नहीं कर सकते, किन्तु दोषोंका ही विस्तार करते रहते हैं । ऐसे मनुष्योंका संग न करना जिनकी आदत दोष बखाननेकी अधिक रहती है, जिसकी चाहे निन्दा करते हैं, जिस चाहेकी कमी बताते हैं, दोष बताते हैं, यह आदत जिनके लग गयी हो उसका संग करनेसे कोई लाभ नहीं ।

(२४४) **दुर्जनोंकी विवेकहीनता व धर्मनाशकता**—ये दुष्ट जन योग्य अयोग्यका बिल्कुल विचार नहीं करते । कैसा विचित्र कर्मोदय है कि ये दुर्जन पुरुष कैसा दुःखी हैं ? उनके मन, वचन, कायकी कोई चेष्टा भली न होगी, बल्कि दूसरोंके दुःखका ही कारणभूत होगी । तो दुष्ट पुरुष योग्य अयोग्यका विचार नहीं रख पाते और वे धार्मिक क्रियावोंका नाश करनेमें उद्यमी रहते हैं । धार्मिक क्रियायें जो परम्परासे आम्नायमें चली आयी है उन सबमें कोई न कोई रहस्य रहता है अन्यथा रूढ़ि न चले, पर उस रहस्यको जब कोई नहीं जानते तो वे केवल रूढ़िपर चलने वाले हों जाते । पर आज जितने पर्व और जितने क्षेत्र जितने जो कुछ भी व्यवहारधर्ममें किये जा रहे हैं उन सबमें तत्त्व है, गुणकी शिक्षा है, मगर जिसके तत्त्वदृष्टि नहीं होती, केवल दोष देखनेकी ही जिनकी आदत होती वे पुरुष बड़े भयं-कर होते हैं, वे धार्मिक क्रियावोंको उखाड़कर फेंक देते हैं, पर ये माने जाने जितने हमारे पुरषा लोग जो कुछ भी करते आये है उनमें अवश्य ही कोई उत्तम रहस्य है, लक्ष्य है, पर उसका ध्यान रहे नहीं तो उसकी रूढ़ि बन जाती है ।

(२४५) **महापुरुषोंसे चली आई हुई प्रथाका प्रयोजन न जाननेपर ही रूढ़िका आ-रोप**—एक ऐसा ही कथानक है कि एक सेठने जब उसका कोई काम काजका अवसर आया, प्रीति भोज किया तो वहाँ यह सोचा कि लोग जिस पातलमें भोजन करते हैं उसीमें छेद कर जाते हैं, पातलमें भोजन परोसा गया तो लोग भोजन कर चुकनेके बाद दाँतोंका मल निका-लनेके लिए उस पातलमें से ही सींकें निकालते हैं जिससे उस पातलमें छेद हो जाता है । यह सोचकर उसने क्या किया कि जब पातलमें भोजन (पूड़ी, कचौड़ी, मिठाई आदि) परोसा तो उसके साथ ही चार-चार अंगुलकी दो दो सींक भी परोस दिया । तो देखिये सींक परोसनेका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यहाँ प्रयोजन तो यह था कि कोई पातलमें छेद न करे पर इस प्रयोजनका पता न होनेसे देखना क्यासे क्या बिडम्बना बन गई। सेठ जी तो गुजर गए। अब उनके लड़कोंका कोई कामकाज आया, मानो किसी लड़केकी लड़कीका विवाह हुआ तो उस लड़केने सोचा कि हमको अपने पिताका नाम ऊँचा रखता है, अपने पिताकी कोई बात गिराना नहीं है, बल्कि उठाना है। सो हमारे पिताने जैसा समारोह किया था उससे हमें डबल काम करना है, कम नहीं करना है। तो सेठने मानो दो मिठाइयाँ बनवायी थीं तो उसने ४-५ मिठाइयाँ बनवायीं और और भी चीजें अपने पितासे अधिक बनवायीं। सभी चीजें पातलमें परोसी गईं। जब सींक परोसनेकी बारी आयीं तो अंगुलके बजाय १२-१२ अंगुलके डंडे परोसवाये। देखिये— प्रयोजनका पता न होनेसे सींककी जगह डंडा परोसनेकी नौबत आ गई। अब उसके मरनेके बाद जब उसके लड़केको कोई कामकाज करना हुआ तो उसने विचारा कि हम अपने पितासे भी दूने स्टैन्डर्डसे काम करेंगे। उन्होंने ४-५ मिठाइयाँ बनवायो थीं तो हम ८-१० मिठाइयाँ बनवायेंगे। देखिये चाहे दो चार मिठाई बनवाई जायें चाहे ८-१० खर्चा करीब-करीब उतना ही लगेगा। क्योंकि ४-५ मिठाइयाँ होनेसे अधिक अधिक परोसना पड़ेगा और ८-१० मिठा-इयाँ हो जानेसे थोड़ा थोड़ा परोसना पड़ेगा। खर्चमें कोई खास फर्क नहीं होता, सो उसने करीब १० तरहकी मिठाइयां बनवायीं। जब पंगत बैठी तो सभी चीजें परोसते गए, अन्तमें जब सींककी बारी आयी तो उसने कोई डेढ़ डेढ़ हाथके डंडे भी पातलमें परोसवा दिए। अब क्या होगा उन डंडोंका सो बताओ? तो प्रयोजनका पता न होनेसे जैसे वहाँ विडम्बना बन गई इसी प्रकार यहां धार्मिक कार्योंमें भी प्रयोजनका पता न होनेसे रूढ़िवाद बन गया और कुछसे कुछ अटपट वृत्तियाँ लोगोंकी बन गईं। पहले जमानेमें जो भी धार्मिक क्रियाकांड किये जाते थे उनमें कुछ तथ्य था, बेकार न थे, पर आज उनके प्रयोजनका पता न होनेसे वे सब बातें उठ गईं और यदि कोई उनको करता भी है तो देखने वाले लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हैं, तो हमें उन धार्मिक क्रियाकाण्डोंका ख्याल रखना चाहिए पूजन, दर्शन, वंदन, यम, नियम आदिकमें। हमारी सर्वत्र एक धार्मिक दृष्टि रहे, पर दुष्ट लोग उन धार्मिक कृत्योंका विनाश कर डालते हैं।

दोषेषु स्वयमेव दुष्टधिषणो यो वर्तमानः सदा
तत्रान्यानपि मन्यते स्थितिवतस्त्रैलोक्यवर्त्यंगिनः।
कृत्यं निंदितमातनोति वचनं यों दुःश्रुवं जल्पति
चापारोपितमार्गणादिव खलात्संतस्ततो बिभ्यति ॥४३४॥

(२४६) दुष्टकी दुष्ट बुद्धिका एक उगाल—दुर्जन पुरुषोंकी बुद्धि दुष्ट होती है, उनकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

बुद्धिमें ऐसी ही बातें उतरेंगी जिनसे दूसरोंको पीड़ा हो, धोखा हो। और ज्यों ज्यों वे दूसरों को कष्ट देंगे त्यों त्यों वे आनन्द मनायेंगे। दुष्ट जन तीव्र रौद्रध्यानी होते हैं। रौद्रध्यान तो औरोंके भी पाया जाता है। सम्यग्दृष्टिके भी अविरत अवस्थामें रौद्रध्यान होता है मगर भद्र और जो दुष्ट प्रकृतिके लोग हैं उनके रौद्रध्यान ही मुख्य है, मानो उनमें जीव ही नहीं है, झूठ बोलनेमें, मजाक करनेमें उनको बहुत आनन्द आता है। चाहे किसीपर कैसी ही आफत आये, किसीकी चीज चुरा लेना इसे तो वे कुछ भी अयोग्य नहीं समझते। दूसरेकी स्त्रीपर कुदृष्टि करना, व्यभिचारकी प्रकृति होना यह सब गुंडागर्दी दुष्ट पुरुषोंसे होती है। तृष्णा लालच इस ढंगसे होता कि कुछ न कमाना पड़े किन्तु लूटमार करने, धोखा देनेकी आदत होती है। तो ऐसे जो दुष्ट जन हैं उनका संग न करना चाहिए, क्योंकि दुष्संगसे अपने परिणाम भी बिगड़ते हैं। ये दुष्ट जन सदा दूसरोंके दोषोंकी तरफ ही दृष्टि रखते हैं। गुणियों के ऐब देखना, साधारणजनोंके ऐब देखना, उन ऐबोंकी कथनी करना, दोष सुन सुनकर प्रसन्न रहना, यों दोषदृष्टि रहती है। वे दुष्टजन बड़े दयापात्र हैं जिनको अपनी कुछ सुध नहीं है, खुद विपत्तिमें अपनेको डाल रहे हैं, वे दुष्ट जन अज्ञानी हैं, इस संसारमें रुलने वाले हैं। सो हैं तो वे दयापात्र मगर उनकी संगति कोई करेगा धीरे-धीरे उसका भी वैसा ही परिणाम बन जायगा। यह दुर्जन जिस पुरुषकी या जिस पदार्थकी संगति करता है उसके दोष ही दोष ग्रहण करता रहता है। दुष्टताकी प्रकृति प्रायः जन्मसे होती है, किसीकी सोहबतसे भी वैसी प्रकृति बन जाती है।

(२४७) **दुष्टमें दोषकी उद्भूति**—दोष देखनेकी, दोष बोलनेकी जिसकी प्रकृति है ऐसा पुरुष चाहे किसी समय बड़ा हितू बन रहा हो तो भी उसका संग ठीक नहीं होता। वह तो दोष ही ग्रहण करता है, यदि खुदके गुणपर दृष्टि हो तो दूसरी जगह गुण ग्रहण करे। जैसे खुदमें वीतराग होनेका परिणाम बने तो वीतराग भगवानको भक्ति की जाय तो ऐसे ही जिसमें खुद गुण हों वह दूसरेके गुणोंको देखेगा। जो स्वयं दोषमय है उसे सब जगह दोष ही दिखेंगे। जैसे लोकमें देखा जाता है कि कोई पुरुष किसी कारण दुःखी है तो उसे दुनियामें सब दुःखी नजर आते हैं, क्योंकि उसका उपयोग स्वयं दुःखमें है और कोई पुरुष सांसारिक सुखमें है तो उसे सभी जगह सुख नजर आयगा, उसे कोई दुःखी न दीखेगा। कोई दुःखी भी हो तो उसे देखकर यह समझेगा कि यह वास्तवमें दुःखी नहीं है, यह तो दुःखका रूपक बना रहा है। यों नजर आयगा। एक चुटकला है कि एक खवास बादशाहकी हजामत बनाने आता था। तो नाई लोग बातें बहुत करते हैं हजामत बनानेमें, सो वह खवास बादशाहसे भी खूब बातें करे। एक बार बादशाहने उससे पूछा कि खवासजी

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह तो बताओ कि इस समय हमारी प्रजाके लोग दुःखी हैं या सुखी ? तो खवास बोला—महाराज इस समय आपकी प्रजा बहुत सुखी है घर घर घी दूधकी नदियाँ बहती हैं। तो बादशाहने फिर पूछा कि तुम्हारे यहाँ कितनी गाय, भैंसें हैं ? तो २०-२५ जितनी भी बताया, तो बादशाह समझ गया कि इसके यहाँ खूब घी दूध होता है और सुखसे रहता है इसलिए इसको सारी प्रजा सुखी नजर आ रही, सो क्या किया कि उसपर कोई झूठा मूठा आरोप लगवाकर उसकी सब गाय, भैंसें कुड़क कर लीं। फिर ५-७ दिन बाद वही खवास बादशाह की हजामत बनाने आया तो बादशाह फिर पूछ बैठा—कहो खवास जी इस समय हमारी प्रजा सुखी है या दुःखी ? तो खवास बोला—महाराज इस समय आपकी प्रजा बड़ी दुःखी है, घी दूधके तो दर्शन ही किसीको नहीं होता। तो बादशाह बोला—देखो जब तुम खुद सुखमें थे तब सारी प्रजाको सुखी समझ रहे थे और जब तुम खुद दुःखमें हो तो सारी प्रजा तुमको दुःखी नजर आ रहा। खैर तुम चिन्ता मत करो, तुम्हारी सब गाय, भैंसें तुमको वापिस कर दी जायेंगी। तो अपने अनुभवसे ही देख लीजिए यदि खुदको मौज है, खूब काम चल रहा है, सब प्रकारसे खुशहाली है, तो उसे सारी जनता सुखी नजर आयगी और अगर खुद दुःखमें है तो सबके ऊपर उसे दुःख ही दुःख दिखेगा। यह तो एक आदत है ऐसी। तो दुर्जन पुरुष स्वयं दोषसे खूब भरे हैं, छल कपट उनमें बहुत अधिक भरा है, तृष्णा बहुत अधिक बढ़ी है, और और भी दोष भरे हैं तो ऐसे दोषसे भरे दुर्जन पुरुषको बाहर नजर आयगा तो दोष ही नजर आयेंगे, गुण नजर न आयेंगे, और जिनको गुणोंमें प्रेम है उनको गुण ही नजर आयेंगे।

(२४८) **दुर्जनोंकी दोषप्रियता व दोषग्राहिता**—देखिये—जैसे आजकल साधु जन, मुनिजन जितने साधक होते हैं तो वे गुण ही गुणसे भरे हों यह बात नहीं हो सकती, अगर दोष न होते तो वह साधक ही क्यों बनता ? वह तो साधक कहलाता। आखिर साधक बनकर दोषोंका ही तो निवारण कर रहा है। तो साधु जनोंमें कुछ दोष भी होते और गुण तो विशेषतया होते, यह नियमकी बात है। अगर दोष न हो तो वह अरहंत ही न हो जाय। सो कुछ दोष तो होते ही हैं, यह तो प्राकृतिक बात है, मगर उनकी आस्था तो मोक्षमार्गकी है और अपनी बुद्धि माफिक वे गुणके रास्तेपर ही चल रहे हैं। अब श्रावक जन जिनको गुणोंसे प्रेम है उन्हें साधु संतोंमें गुण ही गुण नजर आयेंगे, अगर कोई एक आध दोष भी हों तो वे भी गुणग्राही प्रकृतिके कारण गुणके रूपसे ही नजर आयेंगे, दोष रूपसे नहीं, और जिनका दिल दोषोंसे भरा हुआ है। कषायसे भरा हुआ है उनको साधुवोंमें दोष ही नजर आयेंगे, गुणकी तरफ रंच भी दृष्टि नहीं। तो जो दुष्टजन हैं उनकी दृष्टि दोषोंपर ही रहती है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और वे दूसरोंके दोष ही ग्रहण करते हैं और वे दूसरोंको दोषी ही समझते हैं। अभी कोई व्यभिचार प्रिय पुरुष हो, जो व्यभिचारकी आदत रखता है, परस्त्री, वेश्यागमन आदिक कितने ही प्रकारके दोष रखता हो तो उसको नजरमें प्रायः सब लोग दोषी ही नजर आयेंगे, और वह सब पर शंका रखेगा कि शायद ये भी ऐसे ही होंगे। भले ही ऊपरसे ऐसे दिख रहे मगर इनकी भी आदत यह ही होगी, यों ही उसे नजर आयगा। और जिनको ब्रह्मचर्य प्रिय है उनको सर्वत्र ये गुण नजर आयेंगे, सब ठीक हैं, शीलसे रहते हैं, अपनी धार्मिक वृत्तिसे चल रहे हैं…यही नजर आयगा। तो जो दुष्ट जन हैं उनको सर्वत्र दोष ही नजर आते हैं।

(२४९) **क्रूर चित्त वालोंके संगकी हेयता**—यहाँ दुर्जनोंकी व्याख्या करनेका ध्येय नहीं है किन्तु दुर्जनोंका संग न करना चाहिए यह बात बता रहे हैं। जो जैसा है सो रहे, हमको दुर्जनोंके दोषोंपर दृष्टि नहीं देना है मगर दुर्जनोंका संग छोड़ना है। संग छोड़नेके ही प्रयोजनसे दुर्जनोंके दोषोंका वर्णन किया जा रहा है। ये दुष्ट जन निन्द्यसे निन्द्य कार्य भी कर डालते हैं। जिसको चाहे मार डालते हैं। आजकल अनेक लोग ऐसे उद्दण्ड हो गए हैं कि थोड़ेसे रुपयोंके पीछे लोगोंकी जान ले लेते हैं। कहीं भी लूट मार रहे अथवा जरासा भी गुस्सा आया और उनके हाथमें हथियार हो तो जान ले लेनेमें जरा भी रहम नहीं करते। तो समझिये ऐसे लोगोंका हृदय कितना क्रूर है। तो जो ऐसे दुष्ट जन हैं वे निन्द्यसे भी निन्द्य कार्य कर डालते हैं और वे कड़वे, दूसरोंको तुरन्त दुःख देने वाले वचन बोलनेमें रंच भी नहीं हिचकते।

(२५०) **सब जीवोंके सुखकी भावना होनेपर प्रवृत्तियोंकी शुभरूपता**—देखो जीवन में और अधिक गुण न आ सकें तो एक यह गुण तो आ ही जाय कि हममें जितनी सामर्थ्य है उतना दूसरोंका भला करनेका ही प्रयास करें, और अपने वचन दूसरोंको सुखकारी, हितकारी बोलें। उन वचनोंसे चाहे बुरा बोल लें चाहे भला बोल लें। अगर बुरा बोलते हैं तो जब तक खुदमें दुःख न हो तब तक कोई बुरे वचन नहीं बोल सकता। जब स्वयं दुःखी हैं तब ही बुरा बोलते हैं। और बुरा बोलनेके फलमें आफतें बढ़ती हैं, दूसरा व्यक्ति तो बुरे वचन सुनेगा वह भी बुरा बर्ताव करेगा। फिर झगड़े बढ़ते जाते हैं। तो खोटे वचन न बोलें, प्रिय, हितकारी, परिमित, कमसे कम वचन बोलें और मन इतना विशुद्ध रखें कि सबका भला हो। किसीका बिगाड़ सोचनेसे पापका ही बंध होगा और यह जीव दुःखी रहेगा इसलिए मन इतना साफ होना चाहिए कि किसी भी जीवका अनिष्ट न विचारें, दुःख न विचारें, कभी कोई किसी तरहका दुर्व्यवहार भी करे तो भी उसका अहित न विचारें। इतनी साधना अगर किसीकी बन गई हो तो समझ लो कि वह उन्नतिकी ओर चल रहा और किसीने अगर दुर्व्यवहार किया और हम भी उसके साथ दुर्व्यवहार करने लगे तो इसके मायने यह हुआ कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दूसरा तो मूर्ख है ही, उसके साथ हम भी मूर्ख बन गए। तो अपने वचनोंपर एक नियंत्रण रहना चाहिए फिर देखिये उसका आनन्द। अगर दूसरेसे सम्मानके वचन बोलेंगे तो वह भी अच्छे वचन बोलेगा और वह खुश होकर आपकी सेवामें तत्पर रहेगा। तो खोटे वचन न निकालना और सबका भला सोचना ये दो गुण अपनेमें आने चाहिएँ, नहीं तो मनुष्य होनेका लाभ क्या?

(२५१) **मन, कर्ण, नेत्र आदिका सही उपयोग न होनेपर इनके पुनः न मिलने और स्थावर जैसे भवोंमें रुलते रहनेकी नौबत**—मनुष्यको श्रेष्ठ मन मिला है, चारों गतियोंमें सैनी जीव पाये जाते हैं पर इतना श्रेष्ठ मन अन्य गतियोंमें नहीं होता जितना श्रेष्ठ मन मनुष्यमें हो सकता। और इस मनके नामपर ही इसका नाम मनुष्य रक्खा गया। जिसके श्रेष्ठ मन हो उसका नाम मनुष्य। तो इतना श्रेष्ठ मन पाकर यदि हम मनको बिगाड़ें तो कर्म मानो यह कहेंगे कि तुझे मनकी जरूरत ही नहीं है, तुझे मन दिया है, और तूने इस मनका खोटा उपयोग किया है तो अब तुझे मन न मिलेगा याने अब तू असंज्ञी बन जायगा। सभी इन्द्रियोंका ऐसा ही प्रयोग है। कर्णेन्द्रिय मिली है तो कानोंसे प्रभुका उपदेश सुनना, भगवान का पूजा पाठ स्तवन सुनना इसमें कर्णेन्द्रियका उपयोग है। अब कोई मनुष्य श्रेष्ठ कर्णेन्द्रिय को पाकर भी यदि खोटी ही बात सुनना चाहता है, रागरागनी, प्रेमकी बातें, कामवर्द्धक बातें सुनना पसंद करे तो उसको फिर अगले भवमें कान थोड़े ही मिलेंगे। कर्म मानो उससे यह कहेंगे कि तुझे कानोंकी जरूरत नहीं है तू चल चारइन्द्रिय जीव बन जा। अब कोई आँखोंका यदि खोटा उपयोग करे जैसे किसी अन्य स्त्रीका रूप निहारना खोटे भावसे या ऐसे ही खेल तमाशे देखना, सिनेमा देखना, राग रागनीकी बातें देखना, चोरी चमारीकी बातें देखना आदि तो ऐसा आँखोंका उपयोग करने वालेको यह समझ लो कि उसे अगले भवमें आँखें न मिलेंगी, तीनइन्द्रिय या उससे भी कम इन्द्रियका जीव बनेगा। तो इन इन्द्रियोंका यदि सही प्रयोग न कर सके तो आगे यह आशा न रखें कि कोई अच्छा भव मिलेगा। हमारा मन सही हो, वचनव्यवहार ठीक हो, कायकी चेष्टा ठीक हो तो आगे भी हम प्रगति पायेंगे।

(२५२) **दुष्टोंका मर्मभेदी वचनव्यवहार**—जिसका मन, वचन, काय दूषित है ऐसे दुर्जन पुरुषोंका संग भला नहीं है। दुष्टोंका वचन ऐसा खोंटा निकलता है और ऐसा बुरा घाव करता है जैसे कि धनुषपर चढ़ा हुआ वाण धनुषसे छूट जाय तो जिसको लगे उसको व्यथा पहुचाता है। देखिये—मुखकी जो शक्ल है सो जिस समय यह गुस्सामें आता है और वचन बोलता है तो इसका मुख धनुषकी तरह चढ़ा हुआ हो जाता है। चित्रमें धनुषका जैसा चित्रण है ठीक वैसा धनुष सा बन जाता है। और जब यह बोलता है तो यह धनुषकी तरह चढ़ जाता है और इस चढ़े हुए धनुषसे बचनवाण निकलता है तो जैसे धनुष परसे वाण निकल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जाय तो फिर यदि वह धनुष चलाने वाला कुछ पछतावा करे, विवेक करे, मन्नतें करे कि ऐ बाण मैंने व्यर्थ ही तुझे छोड़ दिया, तू वापिस आ जा, तो वह छोड़ा हुआ बाण वापिस नहीं आ सकता। वह तो जिसका लक्ष्य करके छोड़ा गया उसके हृदयको बेध देगा, ठीक ऐसे ही यह मुख धनुषकी तरह है और इससे जो वचन निकलते हैं वे बाणकी तरह हैं। यदि मुखसे वचन रूपी बाण निकल चुका तो फिर कोई कितनी ही मिन्नतें करे पर वह वापिस नहीं हो सकता, वह तो जिसका लक्ष्य करके बोला गया उसके हृदयमें गहरी चोट पैदा करेगा। जब कषाय जगती है तब इस जीवको सूझता कुछ नहीं है, वह दुर्वचन बोलता है, पर दुर्वचन बोलनेसे इसको फायदा क्या मिला ? उल्टा विपत्तिमें पड़ गया। जिसपर वह वचनबाण लगा उसका भी अनर्थ हो गया। तो जो कषायवान हैं, कपट रखते हैं, आरामप्रिय हैं, तृष्णाका जिनके बहुत लगाव है, अन्यायका दूसरोंसे व्यवहार कर, उनको पीड़ा देकर धनोपार्जन करना चाहते हैं वे दुष्ट हैं, और ऐसे प्राणियोंकी संगति करना अनर्थकारी होता है।

योन्येषां भषणोद्यत: श्वशिशुवच्छिद्रेक्षणः
सर्षवदग्राह्यः परमाणुवन्मुरज वद्वक्त्रद्वयेनान्वित: ।
नानारूपसमन्वितः शरदवद्बको भुजंगेशवत्कस्यासौ
न करोति दोषनिलयश्चित्तव्यथां दुर्जनः ॥४३५॥

(२५३) दुष्टोंकी भौंकने व दोषदेखनेकी प्रकृति—दोषोंका घर यह दुर्जन पुरुष किस के चित्तकी पीड़ाको नहीं करता। जिसकी आदत कुत्ते अथवा कुत्तेके बच्चेकी तरह दूसरोंको देखकर भौंकनेकी है। जैसे बिना ही कारण कुत्तेके बच्चे जिस मनुष्यको देखते हैं उस ही की तरफ भोकने लगते हैं ऐसे ही ये दुर्जन मनुष्यको देखते हैं, वे चाहे गुणवान हों चाहे दोषवान हों, उनसे कुछ न कछ कह ही बैठते हैं। दुष्ट प्रकृति वाले पुरुषोंकी आदत बकवाद करनेकी अधिक होती है, गुणीकी भी मजाक करते, दोषीकी भी मजाक करते, तो ऐसे पुरुषोंसे जो कुलीन जन हैं, भले लोग हैं वे दूर ही रहते हैं, बल्कि कभी कोई दुष्ट गुंडा पुरुष कुछ बात भी कहे तो वे सज्जन पुरुष इस तरहसे निकल जाते हैं जैसे मानो कुछ सुना ही नहीं। और यह दुष्ट भी यह जान लेगा कि इसने तो मेरी कुछ बात सुना ही नहीं। तो जो दुष्ट जन हैं वे कुत्ते के बच्चोंकी तरह बिना ही कारण जिस चाहे मनुष्यको देखकर बरबाद करते हैं, भौंकते रहते हैं, ये दुष्ट पुरुष साँपकी तरह छिद्र ही देखते हैं। जैसे साँप इसी फिक्रमें रहता है कि मुझे कोई छिद्र दिख जाय जमीनमें कहीं पर जिससे मैं वहाँ पर घुसकर अपने प्राण बचा सकूं। भले ही वह सांप कहीं बाहर लोटे फिर भी उसके चित्तमें यह बात रहती है कि वह है बिल। वह है छिपनेकी जगह। यह बात पहले मालूम करके रखता है तब ही बाहरमें वह डोलता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

फिरता है। तो जैसे साँप छिद्रको ही खोजता, छिद्र मायने बिल ऐसे ही दुष्ट लोग दूसरेके छिद्र को ही मायने दोषको ही देखने वाले होते हैं। कैसा पापका उदय है उन दुष्ट जनोंके कि उन का उपयोग सदा मलिन रहता है, गुणकी ओर उनका चित्त ही नहीं जाता। तो दुष्टजन साँप की तरह दूसरेके दोषोंको ही खोजते रहते हैं।

(२५४) **दुर्जनोंकी अग्राह्यता व द्विमुखता**—दुर्जन परमाणुकी तरह अग्राह्य हैं। जैसे कोई परमाणुको ग्रहण नहीं कर सकता। ये जितने दिखने वाले पदार्थ हैं हैं तो ये पुद्गल, मगर अनन्त परमाणुवोंके पिण्ड हैं तब हम इनको छू सकते हैं, इन्हें किसी उपयोगमें भी ले सकते हैं, मगर एक परमाणु ग्रहण करने लायक नहीं हो पाता। उसका पता ही नहीं पाड़ सकते कि है कहाँ? ऐसे ही दुर्जन पुरुषके भीतरका कोई पता ही नहीं पाड़ सकता कि इसके दिलमें क्या बसा हुआ है। तो जैसे परमाणु इन्द्रियके ग्रहणमें नहीं आता इसीप्रकार यह दुर्जन पुरुष भी दूसरेके द्वारा पकड़ा नहीं जा सकता। याने वह किसीके फन्देमें नहीं आ पाता। वह उद्दण्ड है। सज्जन लोग तो उससे दूर ही रहा करते हैं। जैसे मृदंग दो मुख वाला होता, दोनो तरफसे बजता है ऐसे ही यह दुर्जन पुरुष भी दो मुख वाला है, तब ही उसे दोगला कहते हैं। उसके दो गले हैं, मायने किसीसे कुछ कहना किसीसे कुछ कहना एकसे दूसरी बात कहना, दूसरेसे उससे खिलाफ बात कहना, मित्रोंमें वह द्वेष उत्पन्न कर देगा। कोई दो मित्र हों और दुर्जनको मिल जायें तो उसे उसके खिलाफ कहेगा, उसको उसके खिलाफ कहेगा। दोष वाले मनुष्योंकी यह आदत हो है खिलाफ बात बोलें जिससे उसे भी गुस्सा आये। उसे दोष ही प्रिय होते हैं। तो जैसे मृदंगके दो मुख होते हैं और दोनों मुखोंसे बजता रहता है ऐसे हो दुर्जन पुरुषके भी दो मुख होते हैं, किसीसे कुछ कहा किसीसे कुछ कहा और दोनों मुखोंको ही बजाता रहता है।

(२५५) **दुष्ट जनोंकी विचित्ररूपधरता व अवशता**—दुष्ट पुरुषोंका अलंकारके रूप में साहित्यके ढंगसे चित्रण किया है। ये शरदऋतुकी तरह हैं। जैसे शरद ऋतुमें नाना तरह के फल फूल वाली होती है ऐसे ही दुर्जन पुरुष भी तरह तरहके रूप बदलने वाले होते हैं। शरीरका रूप भी बदलें, मनका रूप बदलें, वचनका रूप बदलें। अत्यन्त धोखा देने वाले होते हैं। ऐसे युगके निन्दा प्रिय दोष देखने वाले पुरुषोंका संग न करना चाहिए। इस रूप बदलनेके कारण कभी किसीका शत्रु बन जाता, कभी किसीका मित्र बन जाता, यह ही रूप बदलता है। कभी यों जचेगा कि यह मेरा बड़ा हितू है पर है वह दुष्ट, कपट वाला तो किसी समय उससे भयंकर चोट पायगा। यह दुष्ट पुरुष काले सर्पकी तरह अवश है। जैसे महाभुजंग किसीके द्वारा वश नहीं किया जा पाता, मुश्किलसे वश होता है ऐसे ही दुर्जन पुरुष भी बड़ी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कठिनतासे वशमें आ पाते हैं। ये सर्पकी तरह वक्र होते हैं, इनकी गति, इनकी प्रवृत्ति टेढ़ी ही होती है। तो ये दुष्ट जन दोषोंका घर होनेके कारण सभी जीवोंके चित्तको कष्ट पहुंचाते रहते हैं। क्या नफा है कि मेरे द्वारा किसीको कष्ट पहुंचे ? यदि मैं किसीका बहुत अधिक उपकार भी नहीं कर पाता, नहीं है सामर्थ्य इतना तो ध्यान रखा जाय कि मेरे द्वारा किसी को कष्ट भी तो न पहुंचे, मगर दुर्जनोंमें यह बुद्धि नहीं होती है। दोषोंका घर होनेके कारण ऐसा ही मन, ऐसे ही वचन, और ऐसी ही कायकी चेष्टा होती है कि दूसरे लोग धोखा खा जायें और कष्ट सहन करें। तो ऐसे दुर्जनोंका संग त्याज्य है यह बात इस प्रकरणमें बतायी जा रही है।

गाढं श्लिष्यति दूरतोऽपि कुरुतेऽभ्युत्थानमार्द्रेक्षय
दत्तेऽर्द्धासनमातनोति मधुरं वाक्यं प्रसन्नाननः।
चित्तांतर्गतवंचनो विनयवान्मिथ्यावचिदं ष्टर्षी
दुंखायामृतभर्मणा विषयो मन्ये कृतो दुर्जनः ॥४३६॥

(२५६) **दुर्जनोंका ऊपरसे अतिमधुर व्यवहार व अन्तः ठगनेका भाव**—यहाँ दुर्जनका प्रकरण चल रहा है, दुर्जनकी संगतिसे बचना बहुत आवश्यक है, क्योंकि जीवनमें दुष्टसंगति से बड़ी बड़ी विपत्तियाँ आती हैं। सो ही इस प्रकरणमें यह बतला रहे हैं कि दुष्टोंका संग तजना चाहिये। दुष्ट कैसे होते हैं, उनकी क्या पहिचान है, यह वर्णन चल रहा है। मुख्य पहिचान और उनकी मुख्य क्रिया है यह कि दूसरोंको देखकर वे उनका बड़ा सम्मान करेंगे, पर भीतरमें कपट रखेंगे, यह दुष्ट जनोंकी क्रिया होती है, दुर्जन पुरुष दूसरोंको दूरसे ही देखकर उठकर सत्कार करेंगे, पास आनेपर बड़े प्रेमसे मिलेंगे उनको अपने आसनपर बैठायेंगे, बड़े प्रसन्न होंगे, बड़े भले वचन बोलेंगे, इतना करनेमें तो कोई हानि नहीं मगर उनके दिल में कपट है और कोई अपनी स्वार्थ साधनाकी ही बात रख रहे हैं। इस कारण ये सब उनके अवगुणमें आ गए। करेंगे दूसरोंका सत्कार और भीतर रखेंगे उनके प्रति कपट जिससे अपना स्वार्थ सिद्ध करेंगे और उन दूसरोंका चाहे कुछ हो।

(२५७) **वस्तुतः कर्मसंगकी अनर्थकारिता**—मुख्य बात तो यह है कि वास्तवमें देखा जाय तो दुष्टसंग तो कर्मोंका संग है, उन कर्मोंके संगसे दूर हटना चाहिए, पर उसका पात्र वही बनेगा जो कुसंगको छोड़कर सत्संगमें रहेगा। वही कर्मोंके नाशका उपाय बना सकता है। लोग बाहर देखते हैं और और बातें, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा विरोधी है, यह गैर है पर यह नहीं देखते कि मेरे साथ जो कर्म लगे हैं वे ही मेरे शत्रु हैं, दूसरा जीव कोई मेरा शत्रु नहीं। स्वयंके पापका उदय होगा तो दूसरे भी उसके एक साधन बन जायेंगे दुःखके,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर स्वयंके असाताके उदय बिना दूसरोंसे कभी कष्ट नहीं मिल सकता। तो निमित्तदृष्टिसे देखें तो कर्म ही बैरी हैं। मैं स्वभावसे ज्ञान और आनन्दमय हूं, स्वरूप ही मेरा ऐसा है, जो प्रभुका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है। फर्क यह हो गया कि प्रभु निर्दोष हैं, वीतराग हैं और यहाँ हम आप सब रागसहित हैं। जैसे एक चावल बोरीमें भरा या कनस्तरमें भरा है और एक चावलका सीझकर भात बन गया, तो जाति दोनोंकी एक है, एक अभी कच्चा पड़ा है और एक पक गया है मगर स्वरूप दोनोंका एक है, ऐसे ही हम आप अभी कच्चे हैं और भगवान सीझ गए, सिद्ध हो गये। सिद्ध कहते किसे हैं ? जो सीझ गए, जो अंतिम पाकपर उतर गए। सीझना क्या है कि जैसा हमारे आपके आत्माका सही स्वरूप है बस वही भर रह जाय उसीके मायने सिद्ध भगवान है।

(२५८) **बीत रहे संकटका रहस्य**—वर्तमानमें हो क्या रहा है कि हम आपके साथ एक तो शरीर बँध गया, कर्म बँधे हैं ही मूलमें और उसके कारण रागद्वेष मोह आदि विकार जग रहे हैं तो यह तीनका बंधन हो गया मेरेमें शरीरका, कर्मका और विकारका। तो समझ लो हम आप कितनी गिरी स्थितिमें हैं, कितने कष्टकी स्थितिमें हैं। आज कुछ पुण्यका उदय पाया, कुछ सुख समागम पाया तो उनमें लोग मस्त हो जाते, कितनी अज्ञानदशा है। पर आचार्यदेव कहते हैं कि अरे क्या सुखमें मग्न हो रहा, तेरेपर तो भयंकर विपदा छायी हैं। आज कुछ कर लेगा, दूसरोंपर शान जमा लेगा, पर निभेगा तो नहीं सदा। कर्मबंध होगा, संसारकी परिपाटी चलेगी। तो बुद्धिमान पुरुष वह है जो इन तीनों बंधनोंसे हटनेका उपाय बनाये। जिसमें मस्त हो रहा है, जिसको मान रहे मेरा घर, मेरा कुटुम्ब, मेरा बच्चा, अमुक तमुक, और बड़े खुश हो रहे, पर इस खुशीका कुछ महत्त्व नहीं, क्योंकि आज पुण्यका उदय है सो यह सब दिख रहा, पर आगे यह कुछ न रहेगा यदि अच्छी करनी नहीं है तो पापका उदय आयगा और इसे कठिन दुःख होगा। और वैसे भी मोटे रूपसे देख लो तो जिनको जितना अधिक सुख है दुनियावी दृष्टिसे उनको नियमसे उतना ही अधिक दुःख आयगा। सब बातें बीत हो रही हैं हम आपपर। क्या अधिक सिखाना बताना इस सम्बंधमें। आज अगर कोई परिजनके लोग हमसे बड़ा-बड़ा प्यार करने वाले हैं, और उनमें मौज मान रहे हैं तो क्या ये समागम सदा रहेंगे ? अरे इन सबका वियोग नियमसे होगा। सबपर ही बीत रही है यह बात। तो जितना अधिक सुख माना जायगा उसके वियोगमें उससे अधिक दुःख मानना पड़ेगा। तबका कष्ट देखिये।

(२५९) **मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेका स्वकीय अधिकार**—यह संसार अजायबघरकी तरह है। इसको तुम देखे जावो पर छुवो नहीं, इसमें लगाव न रखो। किसी अजायबघरमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

देखने वाले जाते हैं तो उन्हें देखनेभरकी इजाजत रहती है, ये कोई चीज छू नहीं सकते। अगर किसी चीजमें हाथ लगायेंगे तो उसके निरीक्षक लोग उसे पकड़ लेंगे, दण्ड देंगे, अपमान करेंगे। तो ऐसे ही दुनियामें जितने भी समागम मिले हैं ये समागम केवल जानने देखनेभरके लिए हैं। इनमें लगाव करनेकी, प्रेम करनेकी इजाजत नहीं है। कोई अगर इनमें लगाव रखता है, प्रेम रखता है तो उसको कर्म दण्ड देंगे। तो देखिये—तीन चीजें बतायीं—शरीर, कर्म और विकार। जितने कष्ट हम आपपर आ रहे हैं वे सब इस शरीरके सम्बंधसे ही तो आ रहे हैं। भूख प्यासका लगना, खांसी ज्वर आदिकका होना सम्मान अपमान आदिकी बातें होना ये सब इस शरीरके सम्बंधसे ही तो हैं। लेकिन शरीर निराली चीज है। जिनके शरीर नहीं रहा उनकी पूजा होती है। अब जन्म नहीं होना है जिनका वे आदर्श हैं। तो इतनी बात तो चित्तमें आना ही चाहिए कि हे प्रभो मेरेको शरीर न चाहिये। आगे भी कभी मुझे शरीर न मिले। इस शरीरके बिना जैसा मैं अपने आप हूं वैसा ही हो जाऊँ यह भावना होना चाहिए। शरीर मिला क्यों? कर्मके उदयसे। तो इसके प्रति भावना रखिये कि कर्म मुझे न चाहिये। ये कर्म दुःखके हेतुभूत हैं। मैं कर्मसे रहित हूँ। जैसा यह मैं केवल हूं वैसा ही रहना चाहता हूं। जब कर्म नहीं तो विकार भी नहीं। पर ऐसा होनेका उपाय क्या है? उपाय है स्वरूपदृष्टि। अपने स्वभावमें आत्मत्व अनुभव करना, मैं यह हूं। जो मैं अपने आप अकेला, अपने सत्त्वसे जिस स्वभावमें हूं, जिस रूप हूं उस रूप अपनेको अनुभवना, यह है उपाय सर्व उपयोगोंसे हट जानेका।

(२६०) आत्मसर्वस्वको आत्मारूप अनुभव कर आत्महित कर लेनेका अनुरोध—देखिये—जीवनमे आज अन्य जीवोंकी अपेक्षा कितनी भली स्थिति पायी है। श्रेष्ठ मन मिला, जैनशासनका शरण मिला, आचार्य संतोंका उपदेश सुगम मिला है, ऐसी भली स्थितिमें हम यदि आत्माके कल्याणका उपाय न बनायें और जो धर्मव्यवहार चल रहा उसको एक अपनी मात्र रूटीन (दिन चर्या) सी ही बनाकर रह जायें और उसमें भी प्रयोजन यह ही रखें कि मेरेको सुख शान्ति मिले, केवल इतना ही प्रयोजन रखें तो समझिये कि यह दुर्लभ अवसर हम खो रहे हैं। ध्यान यह रखना चाहिये कि जैसा मैं खुद अपने आप हूं बस वही मात्र मैं रह जाऊँ, सारा झगड़ा दंद फंद मेरा मिट जाय, बस यह दृष्टि होनी चाहिये। आज जिन जिनका संग मिला है। जो जीव आये हैं घरमें क्या उनसे पूर्वभवमें भी आपका कुछ सम्बन्ध था? अनन्त जीवोमें से कोई दो-चार जीव आपके घर आ गए तो उनसे मोह किया जा रहा। ये ही मेरे सब कुछ हैं। तो यह तो अज्ञान है, और इसमें बहुत विकट कर्मबन्ध होता है। यद्यपि गृहस्थीमें रहकर प्रेम रखना होगा, राग चलेगा, पालन पोषणकी जिम्मेदारीसी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भी मानी जायगी। उचित व्यवहार होगा पर यह समझो कि यह सब गुजारेके लिए करना पड़ रहा है। पर मेरा ही है सब कुछ ऐसा मान करके यदि कोई चले तो उसमें मिथ्यात्वका बंध है। मेरा सर्वस्व तो मेरा स्वरूप है जो मेरेमें अनादिसे अनन्तकाल तक रहता है। बस यह ही मैं हूं, अन्य कुछ मैं नहीं। यह श्रद्धा जब तक नहीं बनती तब तक संसारमें जन्ममरण करना पड़ेगा। तो वास्तविक दुष्ट कौन रहा? मेरा ही मोह रागद्वेष। उसका निमित्त कारण कौन रहा? कर्मविपाक। यह कर्मविपाक क्यों आया? यह पहले बँध गया था। यह पहले क्यों बँधा था? हमारी ही गल्तीसे, हमारी कषायसे। इससे मोह और कषाय ये हमारे प्रबल बैरी हैं, ये दुष्ट भाव हैं, ये मुझ आत्माको बरबाद कर रहे हैं, सो अपने आपपर दया करें और यह हिम्मत लायें कि मैं इन मोह कषायोंसे हटकर अपने आपके स्वरूपका प्रकाश ही पाऊँ।

(२६१) **ज्ञान और वैराग्यकी वास्तविक उपकारिता**—पहले जो पुरुष छोटी अवस्था में ही विरक्त हो जाते थे, सुकौशल मुनिकी चर्या देख लो—कोई उनकी अधिक उम्र तो न थी। जवानी प्रारम्भ ही हुई थी, कारण पाकर विरक्त हो गए। लोगोंने उनको बहुत बहुत समझाया कि अभी तुम्हारी पत्नीके पहला गर्भ है, कमसे कम बच्चेका मुख तो देख लो, उसे राजतिलक करनेके बाद विरक्त हो जाना। तो क्या उत्तर उनका था कि जो भी बच्चा पेटमें हो उसको मैंने अभीसे तिलक कर दिया। जिसमें मोह नहीं रहता और आत्मज्ञान जग जाता है वह तो आत्महितकी ही बात करेगा, अन्य बात न करेगा। लेकिन आप देख लीजिए, मोही मनुष्योंका खोटे कार्य करते करते सारा जीवन गुजर जाता है, वृद्धावस्था आती है, मरण होता है लाभ क्या हुआ उससे? ज्ञान और वैराग्य ये दो ही इस जीवके लिए उपकारी हैं, अन्य कोई उपकारी नहीं। यहां कोई मेरा मददगार हो ही नहीं सकता। यदि कोई बच्चा बच्ची यदि मेरी सेवामें तत्पर हो रहे तो समझना चाहिए कि मेरे ही पुण्यका उदय है जिससे ये सब मेरे सेवक बन रहे। अन्यथा राजा श्रेणिकका लड़का जिसका नाम कुणिक था वह आखिर राजाका लड़का ही तो था मगर वह अपने पिताका ही विरोधी हो गया और राजा श्रेणिकको उसने कितना कष्ट दिया…। यद्यपि राजा श्रेणिक सद्व्यवहारी था, किन्तु उसके पूर्वबद्ध कर्मका ऐसा ही तीव्र उदय आया।

(२६२) **स्वयंके भलेपन और पुण्यविपाकसे ही सुविधा विश्रामका लाभ**—कोई यदि भला बर्ताव कर रहा है तो हम भले हैं तभी तो भला बर्ताव मिल रहा है दूसरोंसे। यदि हम भले नहीं हैं, हमारा उदय खोटा है, हमारा भाव विपरीत है तो कोई भला व्यवहार करने वाला न रहेगा। तो खुदकी खुदपर बड़ी जिम्मेदारी है। जो दूसरोंका आसरा तकते हैं उनका जीवन भी क्या जीवन है। वे अपने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवनको यों ही बिता रहे। तो ज्ञान और वैराग्यकी दिशामें बढ़ें और दूसरेकी अपेक्षा न रहे, एक ही हो कि मुझे अपने आत्माको पहिचानता है और अपने आपके आत्माको निरखकर अन्तः प्रसन्न रहना है। संसारके जालसे सदाके लिए छूटना है। ऐसा कोई कदम रखे वह तो बड़ा ऊँचा कदम है। तो यह समझ लीजिए कि हम लोगोंका अनर्थ करने वाला हमारा ही विकार है और उस विकारका निमित्तभूत कर्म उसका बंधन मेरे लिए खोटा है। सो अपनेको शरीरसे रहित, कर्मसे निराला, विकारसे परे केवल प्रतिभासमात्र चैतन्यमात्र जहाँ केवल ज्ञानप्रकाश है अन्य कुछ नहीं है, इस रूपमें अपने आपको निरखना यह है धर्मपालन। बाहरी साधन तो साधनमात्र हैं। उन साधनोंमें रहकर यदि यह भीतरी काम किया जा सके तो उसके धर्मपालन है, और यदि यह भीतरी काम न कर सके तो वह रूढ़ि पालन है। जैसे यहाँ दुर्जन पुरुष दूसरोंका बड़ा सत्कार करें, मीठे वचन बोलें, पर भीतरमें कपट रखें तो अन्तिम परिणाम दुःखका ही रहता है ऐसे ही ये पुण्यकर्मके उदय बड़े अच्छे लग रहे हैं, सुख साधन मिल रहे हैं, मनचाहे भोग साधन प्राप्त हो रहे हैं मगर इसका परिणाम क्या है ? कटुक। नियमतः ये सब मुझे छोड़ेंगे। जितने भी संग मिले हैं वे सब आपको छोड़ देंगे। चाहे आपसे पहले ये चीजें अलग हो जायें या खुद मरण कर जाय तो ये छूट गए। तो यों छूटना भला नहीं है किन्तु खुद उनको छोड़ दें ज्ञानबलसे, संयमबलसे और ऐसा जीवन बिताये तो उसका भला है, सो वर्तमान सुख साधनमें अपनेको रमाना नहीं किन्तु इन विपत्तियोंको देखना कि मेरे साथ शरीरका बंधन लगा, कर्मका बंधन लगा, रागद्वेष विकारका आक्रमण हो रहा, मुझे तो बड़ी सावधानी चाहिए जिससे कि ये सारी विपत्तियाँ दूर हो जायें।

(२६३) आत्मनिरीक्षण व आत्मप्रगतिचिन्तन—भैया ! रोज रोज ऐसी प्रार्थना करते पूजनमें, भजनमें, स्तवनमें कि हे प्रभो आप अनन्त आनन्दमय हैं, आप ही सर्वज्ञ हैं, निर्दोष हैं, आदर्श हैं। आपकी उत्कृष्ट अवस्था है, पर ऐसा आप अपने लिए चाहते कि नहीं चाहते ? चाहते। और चाहना तब कहलायगा जब कि हम उसके अनुसार परमात्म पंथपर तो चलें उनके बताये मार्गपर तो चलें। उनका बताया मार्ग है मोह दूर करना, सो जीवनमें यह अपना गुंतारा तो लगाइये कि मोह दूर किया जा रहा है या भीतरमें मोह और दृढ़ हो रहा है ? केवल बातसे तो कुछ न बनेगा। भोजनकी खूब बात करें और भोजन न मिले तो पेट तो नहीं भरता, तो ऐसे ही हम बातें तो धर्मकी खूब करें और मार्गपर जरा भी न चलें तो उसका फल तो नहीं मिलता। अपना लेखा जोखा लगायें। मैं कितना तृष्णा और मोहमें चल रहा हूं कि अपने आत्माकी कभी सुध ही नहीं ले पाता, कभी विश्राम ही नहीं मिल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पाता कि ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव तो कर लूं। यदि ऐसी गति है तो कुछ थोड़ा अपने आपपर अफसोस करना चाहिए और उसका उपाय बनना चाहिए। उपाय यह ही है ज्ञान और वैराग्य। सीधी सी बात। अगर शान्ति चाहिये, आनन्द चाहिए, स्वतंत्रता चाहिए, सत्य आनन्दका अनुभव चाहिए तो ज्ञान और वैराग्यमें बढ़िये पर चल रहे इससे उल्टी चाल। 'आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखें आपको कष्ट दान।' आत्माका हित करने वाला है ज्ञान भाव और वैराग्यभाव, पर यह मिथ्यादृष्टि जीवको कष्टदायक प्रतीत होता है। ज्ञानभावमें चाहिए अपने स्वरूपका चिन्तन। मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूं। जैसे दर्पण है ना, तो उसमें दो बातें पायी जाती हैं। खुदकी स्वच्छता और दूसरे पर, पदार्थोंकी झलक, ज्ञान यह मेरा स्वरूप है। राग करना, द्वेष करना यह मेरा स्वरूप नहीं। यह तो कर्मकी फोटो है। इससे मैं निराला हूं बस इसपर दृढ़ रहिये तो समझिये आप ज्ञानमें बढ़ रहे, और इसीके प्रतापसे सबका मोह भी छूटेगा, राग छूटेगा। परमें रहकर भी स्वरूपकी सुध तो रखें फिर गृहस्थीसे सम्बंधित कार्य भी करें क्योंकि गृहस्थीमें रहना तभी बन सकता है जब कि सब ठीक-ठीक व्यवस्था बनी रहे। गृहस्थीमें रहते हुए यह तो उन्नतिका मार्ग है और यदि मोहमें लिप्त हो गए तो यह संसारमें रुलनेका मार्ग है।

यद्वच्चंदनसंभवोपि दहनो दाहात्मकः सर्वदा
संपन्नोपि समुद्रवारिणि यथा प्राणांतको दुंदुभिः।
दिव्याहारसमुद्भवोपि भवति व्याधिर्यथा बाधकस्तद्वद्-
दुःखकरः खलस्तनुमतां जातः कुलेप्युत्तमे ॥ ४३७ ॥

(२६४) दुष्ट जनोंकी दुःखकरता—जिन पुरुषोंका मन कपटसे, खुदगर्जीसे भरा हुआ रहता है, जिनको क्रोध करनेकी आदत है ऐसे पुरुषोंका संग छोड़ने योग्य बताया है, क्योंकि जिसमें खुदको भी दोष आने लगे और कषाय बढ़नेका प्रसंग होने लगे, विपत्ति भी आये तो ऐसा सत्संग आत्महित चाहने वालोंको योग्य नहीं होता, इसी कारण इस प्रकरणमें दुष्टजनों के लक्षणका वर्णन चल रहा है। यह प्रसंग सर्वदा जीवोंको जलन करने वाला होता है। जैसे चंदनके वृक्ष ठंडे माने जाते हैं, चंदनका लेप ठंडा माना जाता है, पर चंदनके वृक्षसे उत्पन्न होने वाली अग्नि सदा जलाने वाली ही होती है, ऐसे ही जिसका हृदय क्रूर है, रुद्र है वह चाहे किसी समय कितना ही मीठा व्यवहार करता हो उसका संग जीवोंको कष्ट देने वाला ही होता है। इसलिए जिसका हृदय स्वच्छ है, धर्मसे प्रीति रख रहा है ऐसे पुरुषका संग ही इस जीवका भला कर सकता है। जैसे समुद्रके जलसे विष पैदा होता है, ऐसा लोग कहते हैं तो भले ही समुद्रके जलसे हो विष, जिससे अमृत भी होता है लेकिन विष तो प्राणों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का घातक हुआ करता है। ऐसे ही चाहे बड़े कुलमें ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, चाहे कितना ही उसे पढ़ा लिखा लिया हो, लोकव्यवहारमें भी कुछ चतुराई पा ली हो, फिर भी यदि हृदय स्वार्थ, कपट और क्रोधसे भरा हुआ रहता है तो उसका संग जीवोंको हितकारी नहीं होता। जैसे रोग कभी हितकारी नहीं होता। चाहे वह रोग बड़ा मीठा आहार करनेसे हुआ हो पर रोग तो दुःख ही पैदा करता है इसी प्रकार ये कपट हृदय वाले पुरुष चाहे कैसा ही वातावरण बना हो, लेकिन वे दुःखके ही कारणभूत होते हैं। इस कारण संगति भली करनी।

(२६५) **सत्कर्तव्योंमें सत्संगकी सुगन्ध**—पूजामें कहते ना—आर्य पुरुषोंकी हमें संगति प्राप्त हो, सबके सत्संगकी बात ही बसी हो। जैसे अन्तमें बोलते हैं—शास्त्रका हो पठन सुखदा, शास्त्रका पठन हो तो शास्त्र पढ़नेसे हृदयपर छाप किसकी पड़ती है? जो सत् आत्मा हैं, सिद्ध आत्मा हैं, महापुरुष हैं, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक धर्मोंके पालनहार हैं उनका ही तो प्रताप पूजते हैं। तो वहांपर भी सत्संग चल रहा है। लाभ सत्संगति यह तो साक्षात् ही लाभ है। ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, संत पुरुषोंका लाभ मिल रहा, सद्वृत्ति सुजस, जिनका चारित्र अच्छा है, उनका गुणगान करना चाहिए। उनके गुणोंकी संगति मिल गई, गुणोंपर दृष्टि होगी तो गुणोंका असर होता है। लाभ सत्संगतिका, सत् पुरुषोंके दोषोंको ढांकूं। प्रथम तो किन्हीं धर्मात्मा जनोंके द्वारा कभी कोई अपवादकी बात आती हो तो धर्म-प्रभावनाके हेतु उसको ढकना, लोगोंमें प्रकट न करना, हाँ उसे समझाना, अपनी गोष्ठीसे बताना वह तो व्यवस्थाके लिए है, पर लोगोंमें उसका प्रसार करना यह अंगसे खिलाफ है। फिर पड़ी ही क्या है? जगतमें अन्य साधारण लोग भी दोषोंके भरे हुए हैं मगर उनके दोषों को प्रकट करनेसे इसे लाभ क्या है? यह तो अपने आत्महितके काममें लगे। बोलूं प्यारे वचन हितके, प्रिय वचन बोलूं, इसमें सत्संग ही तो आया। यदि हम दूसरेसे अच्छे वचन बोलेंगे तो दूसरे भी हमसे अच्छे वचन बोलेंगे। हे प्रभो! मैं आपके रूपको ध्याऊँ, अपने आत्माके स्वरूपका ध्यान करूँ। यह तो परमार्थ सत्संग है। अपने आपमें जो परमार्थ वास्तविक सत्य है उसका संग किया है उपयोगने और भगवानके चरणोंकी सेवा, पूजा, भक्ति यह भी सत्संग है। प्रभुसे बढ़कर और सत् कौन मिलेगा दुनियामें? जिसके रागद्वेष नष्ट हो गए हैं, ज्ञान दर्शन आदिक गुण परिपूर्ण प्रकट हो गए हैं ऐसे शुद्ध आत्मा वे महान् सत् हैं। उनके गुणोंका स्मरण, उनकी पूजा, उनकी आराधना यह ऊँचा सत्संग है।

(२६६) **सत्संगकी प्रचुर उपादेयता**—अपने जीवनमें भला संग चाहिए, खोटे संगसे संक्लेश होता है, कष्ट होता है, कषाय भी होती है, बुद्धि बिगड़ती है, अपने भलेके लिए सत्संग करें। यदि साधर्मी जनोंका संग रहेगा, जो आत्महितके मार्गमें लगे हैं उनका संग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निरन्तर रहेगा तो अपनी भी प्रगति है। कभी लोग प्रश्न करने लगते हैं कि हमारा मन बड़ा चंचल रहा करता है। जब हम ध्यान करने बैठते तो मन स्थिर नहीं रहता, इधर उधर दौड़ता है तो उसका कारण क्या है ? तो उसका कारण यह है कि कुसंगमें अधिक रहना हो रहा, सत्संग बहुत कम मिलता है। जैसे घर गृहस्थी बाल बच्चे इनका प्रसंग यह भी कुसंग है आत्महितकी दृष्टिसे। जिस बातमें मोह बढ़े, रागद्वेष बढ़े वह सब कुसंग कहलाता है। अच्छा, घरके वातावरणसे दूकानपर गये तो वहाँ भी कितनी ही तरहके लोग मिलते हैं, न जाने कितनी तरहके हृदय वाले लोग मिलते हैं, सबके साथ बात करनी पड़ती है और धनार्जनके प्रसंगमें कितना कितना श्रम, पौरुष, विचार करने पड़ते हैं। तो उन सब संगोंका फल तो मिलेगा। जहाँ उपयोग बाहर ही बाहर रमा और वह भी रमा अयोग्य साधनोंमें तो चित्त फिर स्थिर कैसे रह सकता ? चित्तकी स्थिरताका कारण है सत्संग। स्वाध्याय किया जाय मननपूर्वक अपने आपपर ज्ञानसे घटित करते हुए और उसका लाभ लिया जाय। अभ्यास बनाइये। संत, त्यागी, व्रती, ज्ञानी, जो संसार शरीर भोगोंसे विरक्त हों ऐसे पुरुषों का संग अधिक होगा तो चित्त स्थिर होने लगेगा। चित्त जो स्थिर नहीं रहता उसका मुख्य कारण है कुसंग। सो गृहस्थीके प्रसंगमें, घरमें, बाहर सब जगह रागी द्वेषी मोही लोगोंका संग अधिक मिलता है यही कारण है कि चित्त स्थिर नहीं हो पाता।

(२६७) **सारहीन तत्त्वोंसे लगावका फल कष्ट**—संसारमें किसी भी बातमें कुछ सार रखा है क्या ? ममता तो किये जा रहे हैं पर यह तो बतलावो जिस जिसमें ममता पहुंच रही है वह वस्तु आपके लिए सारभूत है क्या ? आत्माका हित कर सकते हैं क्या ? सब अपनी अपनी बात जानते हैं कि कहाँ ममता लगी हुई है। सो सोच लीजिए। जिस कुटुम्बमें, जिस किसी भी व्यक्तिमें मोह ममता जग रही है वे आपकी परिणति कुछ बना सकेंगे क्या ? कोई सुधार कर सकेंगे क्या ? आपको मोक्षके रास्तेमें लगा सकेंगे क्या ? अरे उनका लगाव तो अपने कल्याणसे विरुद्ध ही चलायगा। तो सार कहाँ रखा ? धन वैभवकी तृष्णा बढ़ाये जा रहे हैं, खूब उसका संचय करनेमें लगे हैं पर आत्माके लिए वह कुछ सारभूत चीज है क्या ? आत्माके साथ वह जायगा क्या ? और जब तक पास है तब तक भी उससे शान्ति मिल रही है क्या ? जो विश्वके बड़े बड़े धनिक हैं उनपर जरा दृष्टिपात करके देख लो, वे निरन्तर आकुलित रहते हैं, क्योंकि विकल्पका आश्रय उनके बहुत बढ़ गया है। तो जहाँ इतने विकल्प चल रहे हैं वहाँ इस जीवका शान्तिका क्या प्रसंग ? सारी बात खोज डालो कहीं सार रखा है क्या ? खुदका भी देह जिसमें इतनी ममता बन रही है, जिस देहके आधारपर ही अहंकार ममकार, रोग, शोक, सम्मान अपमान आदिककी सारी बातें बन रही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं वह देह भी कुछ सारभूत है क्या ? कुछ भी सारभूत नहीं है, बल्कि जीवको बड़ी विपत्ति रूप है। जब बिल्कुल भिन्न वस्तु हैं आत्मा और शरीर, शरीर पौद्गलिक है, आत्मा चेतन है, जाति भी नहीं मिलती है तो फिर इस शरीरसे आत्माको कुछ लाभ मिलेगा या बिगाड़ होगा ? बिगाड़ ही होगा। तब फिर इस शरीरसे भी ममता क्यों ?

(२६८) गुणिभक्ति, आत्मभक्ति व निर्मोहताका प्रसाद—देखिये धुन होनी चाहिए गुणी पुरुषोंमें और अपने आत्माके स्वरूपमें। तीसरी बात कोई भली नहीं है। जिनके सम्यक्त्व है, ज्ञान है, संयम है, व्रत, तप, नियम है ऐसे पुरुषोंकी प्रीति करें और अपने आत्माके स्वभावकी रुचि करें तो कुछ सारका मार्ग मिलेगा, मगर बाह्य संग प्रसंग कुटुम्ब मित्र आदिक इन संग प्रसंगोंमें कुछ भी सार नहीं मिलनेका। अब तक जिन्दगी भी काफी बीत गई, वृद्ध हो गए पर चित्तसे बाह्य विषय व्यामोह नहीं निकलता। परिवार तो छोड़ना ही पड़ेगा। वह यों छूट जाय इससे पहले विवेक करके खुद क्यों न छोड़ दिया जाय ? तो ऐसा विवेक रखें, मोह ममता हटायें, गुजारेके लिए भले ही प्रेम व्यवहार करना पड़ता है, घरमें रहना लड़ झगड़कर नहीं हो पाता। शास्त्रोंमें बताया है कि स्त्री पुत्र आदिक परिजन करके ले जानेके हेतुभूत हैं तो क्या घरमें रहकर आपसमें यों बोलेंगे कि तुम तो मेरे लिए नरक ले जानेके हेतुभूत हो, हटो यहाँसे....। अरे गुजारा चलानेके लिए सबके साथ प्रेमका व्यवहार करना पड़ेगा पर अपनी प्रतीतिमें सही बात बनी रहे। वहाँ किसीसे मोह ममता न रखें। यदि मोह ममता न रहेगी तो उनके बीच रहकर भी किसी प्रकारकी उलझन न आयगी। उलझन जितनी होती है वह मोहके कारण होती है। कुछ बचपनसे बढ़े, कुछ ख्याल हुआ धर्मका तो सोचते हैं कि हमें जीवनमें ज्ञान और धर्मकी सिद्धि करता है जब कुछ ही दिनोंमें हो गया विवाह तो अब स्त्रीकी ओर आकर्षण हो गया, धर्ममें अब लगन कम हो गई, और कुछ दिन बाद यह आशा करने लगते कि मेरे संतान हों। जब संतान हो गये तो उनके पालन पोषणमें लग गए। जब वे सन्तान बड़े हुए तो उनको पढ़ाने लिखाने तथा उनके विवाह आदिकी अनेक बातें सामने आ गईं। वहाँ फिर धन कमाने तथा सब प्रकारकी व्यवस्थायें बनानेकी पड़ती है। यों जीवनमें कभी चैन नहीं मिल पाती। धनार्जन करनेमें तो कभी चैन मिल ही नहीं पाती। जिसके पास जितना धन है वह उससे आगेकी ही सदैव दृष्टि रखता है, वह जितना है उससे सन्तुष्ट नहीं हो पाता। परपदार्थोंकी आशा तृष्णामें सारी जिन्दगी यों ही निकल जाती है। तो अब कुछ अपने हितकी भी बात सोचना चाहिए। अपना रात दिनके २४ घंटेमें कुछ समय जाप, सामायिक, पूजा पाठ, आत्मध्यान आदि कार्योंके लिए भी लगायें, अपने भाव विशुद्ध बनायें। तो जिन जिन पदार्थोंका सङ्ग होनेसे आत्माका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

संसार बढ़ता है वे सब इस आत्माके लिए कुसंग हैं। सो घरमें रहनेमें बड़ी सावधानी चाहिये। तो यह तो चर्चा है, जो इस भवमें परका हित चाहते हैं उनके संगकी, मगर जिनके चित्तमें कपट बसा है, कुछ भी धार्मिक नातेसे प्रीति नहीं है, और अज्ञानके कारण स्वार्थ ही जिनके समाया हुआ है, अपने आपमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें बसाये रहते हैं ऐसे पुरुषोंका संग हम लोगोंको धार्मिक वातावरणसे दूर कर देता है। इसी कारण बतला रहे कि अधिकसे अधिक सत्संगका प्रयत्न करना चाहिये।

(२६९) **वर्तमान उपलब्ध श्रेष्ठ अवसरको व्यर्थ न गमानेका विवेक**—भैया यह बड़ी भली बात है कि जैन कुलमें पैदा होने वालोंको सत्संगके बहुत अवसर आते हैं। एक तो वर्ष में इतने दिन हैं पर्वके, तीर्थंकरोंके, कल्याणकी तिथियोंके या सोलह कारण, कर्मदहन आदिक व्रत विधानोंके, उनके सहारे धर्मध्यान चलता है। व्रत चले, उपवास चले, ज्ञानध्यान चले, पूजा चले, यों कितने ही अवसर आते। समय समयपर साधु संत जनोंका समागम भी प्राप्त होता है, वह भी लाभदायक है। बड़ा अवसर प्राप्त होता है मगर यहाँ ही कोई इसकी ओर दृष्टि न दे और अपने आपके स्वार्थ और मोहमें ही चित्त लगाये है तो समझो उसने अपना दुर्लभ अवसर व्यर्थ खो दिया। देखो जिस देवकी हम आराधना करते हैं वह देव परम विशुद्ध है। पूजामें किस ओर आपका ध्यान जाता? जों पूर्ण केवलज्ञानी सर्वज्ञ है। सर्व दोषोंसे पूर्णतया रहित है, जिसमें कभी विकार आनेका संदेह नहीं है ऐसे परमात्माकी ओर ध्यान जाता है। कैसी विशुद्ध आराधना जैनशासनमें बतायी गई है और वह भी इस प्रयोजनसे कि जिस मार्गसे चलकर प्रभु भगवान हुए बस वही मार्ग मेरे लिए हितकारी है। उस मार्गसे मैं भी चलकर सदाके लिए संसारके संकटोंसे हट जाऊं। तो देवपूजामें कैसा शुद्ध भावनाका प्रसंग मिलता है। शास्त्रस्वाध्यायमें प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग जिसका भी स्वाध्याय किया जाता है उससे रागकी शिक्षा नहीं मिलती। कैसा ही कथानक हो उस कथानकमें भी वैराग्यकी शिक्षा बसी हुई है। आचार्यसंतोंके उपदेशका ध्येय ही यह है—वैराग्यकी ओर ले जाना। तो कितना आपको शुभ अवसर मिला है, जैनशासनके गुरु जो त्यागकी ओर ही बढ़ रहे हैं, केवल आत्माके मननकी ओर ही जिनकी धुन रहती है। जिनके विषयवासना नहीं, किसी प्रकारका संचय नहीं, कषायका अवसर नहीं ऐसे साधु संत जनोंकी सेवा भक्तिके अवसर मिलते हैं। तो अपने उद्धारके लिए इस वर्तमान समयमें कैसा सुन्दर अवसर मिल रहा है तिसपर भी यदि कोई इस ओर न लगे और बाह्य पदार्थोंकी धुन, तृष्णामें ही अपना समय गमा दे तो यह तो उसकी भूल है। उसका भवितव्य भला नहीं है। अपना भवितव्य अपने आधीन है। हम सत्कार्योंमें अपना उपयोग लगायें तो हमारा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भला होगा। छह आवश्यक कर्तव्योंमें कैसी पवित्रता है। प्रभुकी पूजा करें, उनके गुणोंका गान करें, गुरुवोंकी सेवा करें, स्वाध्याय करें इन्द्रियसंयम पालें, यथा तथा न खावें, जीवोंकी दया पालें, मेरे द्वारा किसी भी जीवका प्राणविघात न हो। इच्छायें आती हैं उनका निरोध करें। मैं इच्छारहित केवल ज्ञाताद्रष्टा मात्र रहूं ऐसी भावना बनायें और अन्तिम आवश्यक है दान। धन पाया है तो उसे अच्छे कार्योंमें लगायें जिससे दूसरोंका उपकार हो, अपना भी भला हो। तो ये छह आवश्यक कार्य श्रावकोंके ये कितना पवित्र विचारोंको बढ़ाने चलते हैं तो जो हमें समागम मिला है उस समागमका हमें पूरा लाभ उठाना चाहिए। ऐसी उमंग अपने चित्तमें रहे तो यह हम आपके लिए बहुत ही भलेका काम बनेगा।

लब्धं जन्म यतो यतः पृथुगुणा जीवंति यत्राश्रिता
ये तत्रापि जने वने फलवति प्लोषं पुलिंदा इव।
निस्त्रिंशा वितरंएि धूतमतयः शश्वत्खलाः पापिनस्ते
मुंचंति कथं विचाररहिता जीदंतमन्यं जनं ॥४३८॥

(२७०) **दुष्ट जनोंकी जंगली भील लोगोंकी तरह भयंकर प्रवृत्ति**—जिस प्रकार जंगली भील लोग जिस ही जंगलमें पैदा होते हैं, जिस ही जंगलसे उनका संरक्षण होता है, जहांके फल खाकर भूख मिटाते हैं। जिस जंगलके बलसे ही जीवित रहते हैं उसी जंगलको दयारहित होकर वे निर्बुद्धि पापी जला डालते हैं और उस समय कितने ही जीवित जीवोंको मार गिराते हैं, इसी तरह दुर्जन जिससे गुण सीखता है, सैंकड़ों हुनरकी बात सीखता है, जिनके सहारेपर जीवित रहता है उसी फल वाले उपकारी पुरुषको दुष्टबुद्धि होकर राक्षसके समान दयारहित होता हुआ मार गिराता है, अर्थात् कोई कितना भी उपकार करे उसका भी अपकार कर बैठता है। तब वह जिससे कोई सम्बंध नहीं, जिसका उसपर कोई उपकार नहीं ऐसे पुरुषोंको तो छोड़ेगा ही क्यों? अर्थात् यह दुर्जन पुरुष उनका अहित किए बिना नहीं रह पाता। दुष्ट प्रकृति होनेसे सदैव चित्तमें क्रोध भरा रहता है। क्रोधका कारण दुष्टता होती है। क्रूरता हुए बिना चित्तमें क्रोध नहीं आ सकता। तो यह दुर्जन पुरुष क्रोधी होकर सभी जीवोंको दुःख पहुंचता है। ऐसे दुष्ट प्रकृति वाले मनुष्यका संग त्यागने योग्य है।

यः साधूदितमंत्रगोचर मतिक्रांतो द्विजिह्वाननः
क्रुद्धो रक्तविलोचनोसिततमो मुंचत्यवाच्यं विषं।
रौद्रो दृष्टिविषो विभीषित जनो रंध्रावलोकोद्यतः
कस्तं दुर्जनपन्नगं कुटिलगं शक्नोति कर्तुं वशं ॥४३९॥

(२७१) **दुष्ट जनोंकी उद्दंडता और स्वच्छन्दता**—दुर्जन पुरुष सज्जनोंके कहे हुए

Version 1

वचनोंका उल्लंघन करते हैं। दुर्जनोंको अपनी दुर्बुद्धिपर अहंकार रहता है। उस अहंकार के कारण बड़े पुरुषोंके कहे हुए वचनोंका उल्लंघन कर देते हैं। और ये दुष्ट पुरुष दो जीभ वाले होते हैं। एक ही बातको दो तरहसे कहने वाले होते हैं अथवा कहो दो गला। किसी पुरुषसे वही बात प्रशंसात्मक रूपसे कहता है और किसी पुरुषसे परोक्षमें निन्दारूपसे बात करता है। ये दुष्ट जन सदा क्रुद्ध रहा करते हैं और इस कारण आंख आदिक भी लाल हो जाया करते हैं। ये पेटके काले होते हैं, इनमें कपट होता है, इनके मनमें कुछ रहता, वचनमें कुछ कहते और इनकी बुद्धिपर किसीको भरोसा नहीं होता, क्योंकि ये विश्वासके योग्य नहीं होते। ऐसे ये दुर्जन न कहने योग्य वचनरूपी विषको सदा उगलते रहते हैं अर्थात् जो वचन न कहे जाने चाहिएँ ऐसे वचन निकलते रहते हैं। उसका कारण यह है कि हृदय उनका मलिन है अतएव वचन उनके सही नहीं निकल पाते, जिनकी दृष्टिमें, चिन्तवनमें विषका सा असर रहता है, क्रूर परिणाम निरन्तर रहता है। जिस समय ये दुर्जन अपनी दृष्टि डालते हैं उस समय उसका सर्व नाश कर छोड़ देते हैं, जिनको देखकर लोग सदा भंग खाया करते हैं। ये दुर्जन पुरुष सदैव दूसरोंके दोष खोजनेमें लगे रहते हैं। ये दुष्टजन उन नागोंके समान भयंकर हैं जो विषैले होते हैं। जो सदैव छिद्र देखनेकी खोजमें रहा करते हैं। जैसे भयंकर सर्प सपेरोंके भी वश नहीं आ पाता, मंत्रवादियोंके भी वशमें नहीं हो पाता ऐसे ही ये दुर्जन पुरुष किसीके वश नहीं आ पाते, ऐसा स्वच्छन्द चित्त रहता है कि जिस चित्तपर किन्हीं भी बड़े पुरुषोंका, सज्जनोंका असर नहीं हो पाता। ये नेत्रमें विषैले होते हैं, लोगोंके लिए बड़े भयंकर होते हैं। ऐसे कुटिल सर्पकी तरह ये दुर्जन पुरुष सदैव सर्वके अहितकारी होते हैं। दुष्टों का संग रहनेसे आत्मपरिणामोंमें शुद्धि नहीं आती, इस कारण ऐसा संग सर्वथा त्यागने योग्य ही है।

नो निर्धूतविषः पिबन्नपि पयः संपद्यते पन्नगो
निंवागः कटुतां पयोमधुघटैः सिक्तोपि नो मुंचति।
नो सीरैरपि सर्वदा विलिखितं धान्यं ददात्यूषरं
नैवं मुंचति वक्रतां खलजनः संसेवितोप्युत्तमैः ॥४४०॥

(२७२) दुष्ट जनोंकी कुटिलताकी कठिनता—जैसे सांपको दूध भी पिलाया जाय तो भी सांप अपने विषैलेपनको कभी छोड़ नहीं सकता। जब वह सर्प उगलेगा तो विष ही उगलेगा। इस ही प्रकार दुर्जन पुरुषका कितना ही उपकार किया जाय पर जब भी वह उगलेगा तो विषैले वचन ही उगलेगा जिनको सुनते ही हृदयपर चोट आये और जिसके कारण दूसरोंका बिगाड़ होवे। जैसे नीमका पेड़ चाहे दूधसे सींचा जाय या शक्करसे सींचा जाय या

http://www.jainkosh.org

मीठे जलसे सींचा जाय, पर नीमका पेड़ कभी मीठा नहीं हो सकता इसी प्रकार बड़े-बड़े पुरुषोंसे सेया गया भी दुर्जन पुरुष अर्थात् जिसका बड़े पुरुष भी सत्कार रखें, सेवा करें ऐसी स्थितिमें भी दुर्जन पुरुष कभी दुर्जनता नहीं छोड़ सकते। सज्जनोंकी संगतिमें रहकर भी दुर्जन पुरुष अपनी कुटिलताको किसी भी प्रकार नहीं छोड़ सकते क्योंकि उनका ऐसा ही विकट कर्मोदय है, ऐसा ही चिरकालकी संगतिका असर है, ऐसा ही उनका संस्कार है जिस कारण सज्जनोंके बीच रहकर भी कभी सज्जनता नहीं पा सकते। ऐसे दुष्ट जनोंके संगमें रहने वाले पुरुष स्वयं अधीर हो जाते हैं और नाना विपत्तियोंमें पड़ जाते हैं। इससे आत्म-हित चाहने वाले पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे दुष्ट पुरुषोंका संग कभी न करें।

वैरं यः कुरुते निमित्तरहितो मिथ्यावचो भाषते
नीचोक्तं वचनं शृणोति सहते स्तौति स्वमन्यं जनं।
नित्यं निंदति गर्वितोभिभवति स्पर्धां तनोत्यूर्जितामेवं
दुर्जनमस्तशुद्धधिषणं संतो वदंत्यंगिनां ॥ ४४१ ॥

(२७३) **दुर्जनोंमें अकारण बैर करते, दुर्वचन बोलने व निन्दा करनेकी खोटी प्रकृति**—दुर्जन पुरुष बिना ही कारण विपत्ति कर डालते हैं। उनकी प्रकृति बैर, दोष, शत्रुता संस्कारमें पड़ी रहती है, ऐसे दुष्ट पुरुष बिना ही कारणके बैर करते रहते हैं, और ये झूठ मूठकी बात बनाकर यहाँ वहाँ कहते रहते हैं। दुष्टोंको मिथ्या वचन कहनेमें या दूसरेके दोष कहनेमें संतोष होता है। ये नीच पुरुषोंके कहे गए वचनोंको बड़े चावसे सुनते हैं और नीच पुरुषोंके वचनोंको सहन कर डालते है। ये दुष्ट पुरुष स्वयं अपने आप अपनी प्रशंसा गाते हैं और अहंकार होनेके कारण सदा दूसरोंकी निन्दा और दूसरोंका तिरस्कार किया करते हैं। नीच और तुच्छ जीवन ही दुष्टोंको पसन्द रहता है। वे शुद्ध वातावरणमें कदाचित् पहुंच जायें तो उनको ऊब आती है और वहांसे हटकर नीच वातावरणको ही पसंद करते हैं। ये दुष्ट जन हमेशा स्पर्धा अथवा दूसरोंसे शर्त ठाना करते हैं। स्वयं गुणहीन होकर भी गुणियों से अपने आपको अधिक मानते हैं और उनसे अधिकपना जतानेकी ही सदैव कोशिश करते रहते हैं। ये दुष्ट जन पवित्र बुद्धिसे रहित होते हैं, इनकी बुद्धिमें वह बात आती है जिसके प्रयोगसे दूसरोंका बिगाड़ होता रहना है। ऐसे दुष्ट पुरुष किसी भी प्रकार संग किये जाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि दुष्टोंके संगसे इस भवमें भी आपत्ति आती है और विशुद्ध भाव नष्ट हो जानेसे परभवमें भी दुःख भोगना पड़ता है।

भानोः शीतमतिग्मगोरहिमता शृंगात्पयोऽधेनुतः
पीयूषं विषतोमृताद्विषलता शुक्लत्वमंगारतः।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वह्नेर्वारि ततोनलः सुरसजं निंबाद्भवेज्जातुचिन्नो
वाक्यं महितं सतां हतमतेरुत्पद्यते दुर्जनात् ॥४४२॥

(२७४) **दुर्जनोंसे सद्वचन निकलनेकी असंभवता**—चाहे एक बार सूरजमें ठंडी पैदा हो जाय, पर दुर्जन पुरुषोंसे कभी श्रेष्ठ हितकारी वचन नहीं निकल सकते। दुष्टजन जब भी बोलेंगे तब दूसरोंको क्लेश करने वाले खोटे ही वचन बोलेंगे। हाँ अपनी गोष्ठीमें अथवा जो इसे रुच जायें उनसे मधुर वचन बोलेंगे सो वे भी ठगनेकी अभिलाषासे ही बोलेंगे। उन के मधुर वचन बोलकर किसी न किसी स्वार्थकी साधना अपने विषयोंकी साधना ही उनके प्रयोजनमें रहती है। एक बार चाहे चंद्रमा गर्मी उत्पन्न कर ले, वैसे चन्द्रमें गर्मी कभी उत्पन्न नहीं होती, बल्कि गर्मीके दिनोंमें भी शुक्लपक्षकी रातोंकी अपेक्षा कृष्ण पक्षकी रातें कुछ ठंडी ही रहती हैं। सो चंद्र कभी गर्मी उत्पन्न नहीं करता, पर मान लो यह असम्भव बात भी सम्भव हो जाय पर दुर्जन पुरुषोंसे कभी भी हितकारी वचन निकलना सम्भव नहीं। उनकी चेष्टा दूसरोंके लिए सुखकारी नहीं हो सकती। गायकी सींग अति रुक्ष होती हैं, उनमें कोमलताका नाम नहीं, सो चाहे गायकी सींगसे कभी दूध भी निकल जाय, असम्भव बात भी सम्भव हो जाय तो हो जाय, पर दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोंसे कभी भी सही वचन नहीं निकल सकते। कभी विष अमृत बन जाय, कोई विष खा ले और अमृतका काम कर दे, ऐसा भी चाहे सम्भव हो जाय तो भी यह सम्भव नहीं हो सकता कि दुर्जन पुरुषोंके वचन कभी भी हितकारी और प्रिय निकल सकें। कभी अमृतसे विषकी बेल उत्पन्न हो जाय तो हो जाय, असम्भव बात भी एक बार चाहे सम्भव हो जाय, पर दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोंके वचन कभी भी श्रेष्ठ नहीं हो सकते। जब भी बोलेंगे तो दूसरोंको दुःख देने वाले और खोटे वचन ही बोलेंगे। कोयला भीतर बाहर सर्वत्र काला ही होता है। कोयलेमें सफेदीका कहीं भी अंश नहीं होता, सो चाहे कोयला कभी सफेद होने लगे, पर दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोंसे कभी मोहनीय वचन अर्थात् जो कुछ श्रेष्ठ हों, भले हों, जिनसे आशय ठीक झलकता हो ऐसे वचन नही निकल सकते। कभी अग्निसे चाहे जल बहने लगे या कोई नदी निकलने लगे, ऐसी असम्भव बात भी चाहे सम्भव बात भी चाहे सम्भव हो बैठे पर दुष्ट पुरुषोंके मुखसे कभी सुन्दर हितकारी उपकारी वचन नहीं निकल सकते। कदाचित वे कभी उपकार भी करें तो उनका वह उपकार कोई किसी समय किसी प्रयोजनको लेकर धुनमें हो जाता है। सो उनका भी आशय कोई अपने स्वार्थसे भरा हुआ रहता है। दुष्ट पुरुष किसीके उपकारके काम नहीं आ पाते। उनके वचन भी कभी सही नहीं निकल पाते। जलसे अग्नि चाहे पैदा हो जाय, तो कभी कभी बड़े-बड़े समुद्रोंमें बड़वानल उत्पन्न हो जाता है, ऐसा कठिन बात हो जाय सो वह बड़वानल कोई अग्नि नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किन्तु जलमेंसे जल सम्बंधित ही संताप है। कदाचित् जलसे ऐसी अग्नि पैदा हो जाय जैसे ईंधनमें अग्नि लगी रहती है, ऐसा असम्भव समाचार बन जाय लेकिन दुर्जन पुरुष कभी अपने मुखसे श्रेष्ठ वचन नहीं निकाल सकते। यों ही चाहे नीमसे मोठा मीठा रस चूने लगे, लोगोंको नीमके रससे मिठास आने लगे अथवा वह मीठा बन जाय, तो ऐसी असम्भव बात भी सम्भव हो जाय परन्तु दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोंके वचन कभी सही नहीं निकल सकते, वे दूसरोंको उलझनमें डालने वाले ही वचन बोलते हैं। तो ऐसे दुष्ट आशय वाले पुरुषोंका संग ग्रहण करना बिल्कुल योग्य नहीं है।

सत्या योतिरुजं वदंति यमिनो दंभं शुचेर्धूर्ततां
लज्जालोर्जडतां पटोर्मुखरतां तेजस्विनो गर्वतां।
शांतस्याक्षमतामृजोरमतितां धर्मार्थिनो मूर्खता-
मित्येवं गुणिनां गुणास्त्रिभुवने नादूषिता दुर्जनैः ॥४४३॥

(२७५) **गुणोंको दोषरूप बनाकर कहनेकी दुर्जनोंमें दुष्टप्रकृति**—इस लोकमें दुर्जन पुरुष सज्जनोंके गुणोंको भी दूषित कर रहे हैं। जिन लोगोंकी दृष्टि गुणोंपर नहीं पहुंचती और गुण भी अवगुणके रूपमें दिखते हैं। तो जिसको दूसरोंके दोष ही नजर आयें और गुण भी दोषरूपसे ही नजर आयें ऐसे दुर्जन पुरुषोंका संग सदा ही कष्टको उत्पन्न करने वाला होता है। सो इन दुर्जनोंने सज्जनोंके सारे गुणोंको दूषित कर डाला और समस्त गुणोंको किसी न किसी कारणके बहाने ये खोटा ही बतलाते हैं। जैसे कोई पुरुष संसारसे विरक्त है अथवा महिलायें जो अपना शील व्रत पालन करती हैं, ब्रह्मचर्यको अखण्डित करती हैं उन्हें खोटी कह दें, दोषी बतलायें, गुणवान पुरुषोंको भी ये दोषी बताते रहते हैं। जो दोषी हैं ही नहीं, बिल्कुल दोषरहित हैं, गुणसहित हैं तो एकदम मिथ्या वचन कहकर उनको दोषयुक्त ही बताते रहते हैं। जो संयमी पुरुष हैं, अपने मन, वचन, कायको वशमें रखने वाले हैं उनको ये कपटी, तृष्णावान आदि नाना प्रकारके ऐब लगाकर दूषित ठहराते हैं। जो पुरुष पवित्र हैं, व्रतके धारक हैं उनको धूर्त आदिक कहकर पुकारते हैं। वो गुरुजन हैं, लज्जाशील हैं, अपने यम संयमकी साधना करने वाले हैं ऐसे गुरुजनोंकी विनय करनेमें दुष्ट जनोंको लज्जा आती है, वे उनकी विनय नहीं कर सकते, क्योंकि दुर्बुद्धिके कारण उनके स्वयं अहंकार बना हुआ है। वे अपनी दुर्बुद्धिको सही बुद्धि मानते हैं और अन्य जनोंकी बुद्धिको, गुणियों की बुद्धिको दूषित कहते हैं, और ऐसा समझते कि लोग कुछ समझते नहीं हैं।

मेरेमें जो चतुराई है और चतुराईके बलसे हम जो चाहते हैं वह काम कर डालते हैं, ऐसे दुष्ट पुरुष जिनके संगमें रहते हैं उनका जीवन इस लोकमें भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कष्टकारी रहता है और अगले भवमें भी उससे कायरता बनती है और कष्ट भोगते हैं। दुष्ट जन गुणी जनोंको मूर्ख बतलाते हैं, और जो चतुर हैं, वक्ता है, भला उपदेश करने वाले हैं उन्हें व्यर्थ बकवाद करने वाला कहकर बदनाम किया करते हैं। जो पुरुष तेजस्वी हैं, पराक्रमी हैं, स्वाभिमानमें रहते हैं उन्हें ये अहंकारी बतलाते हैं। दुष्टजन शान्त पुरुषोंको असमर्थ बतलाते हैं। अनेक सज्जन हैं ऐसे जो अपराधीके अपराधको तुरन्त क्षमा कर देते हैं और शान्त चित्त होकर सहन करने वाले होते हैं। तो ये दुष्ट जन यह समझकर कि ये सर्व बातें सहन कर लेते हैं, दूसरेके द्वारा कितने ही उपद्रव, आक्रमण दुर्वचन मिलें तो भी ये शान्तिसे सह लेते हैं तो ये असमर्थ हैं अतएव सह लेते हैं, क्योंकि जिसकी जैसी दुष्ट प्रकृति है उसके अनुसार ही सबका हृदय परखते हैं, ये दुष्टजन सरल पुरुषोंको यों समझते हैं कि ये कुछ जानते ही नहीं। जो मायाचार नहीं जानते, सरल व्यवहार रखते हैं ऐसे पुरुषोंको ये दुष्ट पुरुष अपने चित्तमें मूर्ख समझते हैं, बुद्धिहीन, भोंदू समझते हैं। तो धर्मके अर्थी पुरुष हैं, जो धर्मका सेवन करते हैं, धर्म धारण करते हैं उन्हें ये पुरुष बेवकूफ कहकर पुकारते हैं। ये बुद्धिहीन हैं और धर्मके कार्योंमें लगे हैं, इन्हें दुनियाकी कुछ खबर नहीं है, इस प्रकार धर्मात्माजनोंको ये मूर्ख कहकर पुकारते हैं। दुष्ट जन संसारमें जितने भी गुण हैं उन सबको ये दूषित ठहराते हैं। इनकी दृष्टिमें न कहीं गुण हैं और न कहीं कोई धर्म है, ये स्वयं ही धर्महीन हैं और अनेक दोषोंसे दूषित रहते हैं। दूसरोंसे ईर्ष्या करते, अपनेसे हीन समझते, अपनेको चतुर मानते, स्वच्छ हृदय बनाकर स्वार्थमें अंधे रहते ऐसे पुरुष दूसरे पुरुषोंके गुणों को कैसे गुण समझ सकते हैं ? उन्हे दोषरूप ही वे ठहराते हैं। तो जिनकी निरन्तर दोषदृष्टि रहती है, सदैव निन्दाकी प्रकृति रहती है ऐसे पुरुषोंके संगमें रहने वाले पुरुष अपनी भलाई कैसे कर सकते हैं ?

प्रत्युत्थाति समेति नौति नमति प्रह्लादते सेवते
भुक्ते भोजयते धिनोति वचनैर्गृह्णाति दत्ते पुनः।
अंगं श्लिष्यति संतनोति वदनं विस्फोरितार्द्रेक्षणं
चित्तारोपितवक्रिमोनुकुरुते कृत्यं यदिष्टं खलुः ॥४४४॥

(२७६) दुःसंगसे निवृत्त होकर लोकोत्तम प्रभुकी भक्तिमयी अलौकिक संगति करने का कर्तव्य—संगका प्रभाव प्रायः सभीपर पड़ जाता है, खोटी सङ्गति होनेसे अनेक प्रकारके उलझन बन जाया करते हैं। इसी कारण कुछ दुष्ट जनोंके हृदयका परिचय दिया। प्रायः जिनके चित्तमें कपट है जिनको अपने स्वार्थका ही ख्याल है, स्वार्थके मायने बाहरी विषयोंकी पूर्ति करना। बाहरमें चाहे वह कैसी ही चेष्टायें कर परन्तु ध्यान उसका अपने स्वार्थसिद्धिका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ही रहता है । ऐसे दुर्जनोंका संग बड़ा कष्टकारी होता है सो कुसंगका पूर्ण त्याग किया जाना चाहिये । जब मनुष्य कुसंगसे हट कर सत्संगमें रहता है तो उसकी बुद्धि स्वच्छ रहती है । स्वच्छ बुद्धि होनेसे आत्माके गुणोंका विकास होता है । तो आत्महितार्थी पुरुष लोकोत्तम व अलौकिक तत्त्वकी भक्ति करता है । लोकोत्तम प्रभु है उन्होंने अलौकिक तत्त्व पाया है । ज्ञानी पुरुष प्रभुभक्त व आत्मदृष्टा होता है प्रभुके गुणोंका स्मरण करनेपर स्वरूपका स्पर्श होता है । इस नातेसे प्रभुकी स्तुति की जाती है । यदि लौकिक जनोंकी भाँति प्रभुका यह स्वरूप बना दिया जाय कि ये मुझे सुख देते हैं इस कारण प्रभुकी विनय करना चहिये, तो भला बतलावो कि प्रभुकी भक्ति डरसे हुई या गद्‌गद्‌ होकर हुई ? यदि ईश्वर मुझे सुख दुःख देता है ऐसी श्रद्धा है तो ऐसी श्रद्धा वाले लोग प्रभुकी भक्ति डरसे करेंगे, गद्‌गद्‌ होकर न करेंगे । गद्‌गद्‌ हृदय तब होगा जब कि स्वरूपसाम्य समझमें आयगा । प्रभु चेतन हैं, हम आप भी एक चेतन पदार्थ हैं । सर्व चैतन्य पदार्थोंका वही स्वरूप है जो चेतनमें हुआ करता है । प्रभुमें स्वरूप और परिणमन एक समान हो गया है, हममें स्वरूप और परिणमन एक समान नहीं है । जैसे ठंडा जल उसका स्वभाव और परिणमन दोनों समान हैं । जैसा स्वभाव है उस ही के अनूकूल परिणमन है गरम जलमें स्वभाव और परिणमन इनकी समानता नहीं है । स्वभाव ठंडा है । परिणमन गरम है । तो हममें स्वभाव वही है जो प्रभुका स्वरूप है, पर परिणमन कषायवान बन रहा है यही तो अन्तर है यह अन्तर तो मिटाया जा सकता । स्वरूप समान है । यह तो बहुत बड़ा बल है कि हम कषायको दूर कर सकते हैं, प्रभुवत् हो सकते हैं । तो प्रभुभक्ति सातिशय किसके होती है ? एकरस होकर प्रभुभक्ति बने और प्रभुमें और अपनेमें अन्तर न रहे ऐसी अभेदभक्ति रहे, यह तब ही हो सकता जब स्वरूप की समता दृष्टिमें हो । तो जब यह बात रहेगी चित्तमें कि ये प्रभु सुख देने वाले हैं, ये हमारे कुटुम्बकी रक्षा कर देंगे, ये हमारी प्रगति कर देंगे, या इनकी भक्तिसे हमारा यह काम प्रगति का बनेगा । यह भाव अगर रखेंगे तो सातिशय भक्ति नहीं बन सकती, उसमें डर कारण रहेगी, पर आनन्दाश्रुसे गद्‌गद्‌ हो जायें, इस प्रकारकी भक्ति न बनेगी ।

(२७७) **सहजात्मस्वरूपकी निरख**—अपने स्वरूपको देखिये—यह है दर्शनज्ञानानन्दस्वरूप । दर्शन अन्तर्मुख चित्प्रकाश है, ज्ञान बहिर्मुख चित्प्रकाश है । दर्शनका महत्त्व ज्ञानसे क्या कम है ? स्वरूप ही तो है । दर्शन कहते हैं एक अन्तः स्वच्छताको और ज्ञान उसे कहते हैं कि जिसमें सर्वका प्रतिबोध रहता ऐसी कला । तो स्वच्छता जिसमें है उस ही में प्रतिविम्ब हो सकता है । जैसे दर्पणमें दर्पणकी निजी स्वच्छता और दर्पणमें बाहरी अनेक चीजोंका फोटो आता तो फोटो आना यह तो ज्ञान जैसा काम है और निजकी झिलमिलाहट

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहना अन्दर वह दर्शन जैसा काम है। तो आत्माके दर्शन स्वरूपका भी ध्यान दीजिये, जिसे कहते हैं सामान्यचेतना, निराकार चेतना अन्तः स्वच्छता। मैं दर्शनज्ञान स्वरूप हूं [illegible] नन्दस्वरूप हूं।

(२७८) **जीवमें गड़बड़ी, गड़बड़ीका कारण व उसके यथार्थपरिचयका प्रभाव**—अहो विकारवाली यह गड़बड़ी क्यों मुझ दर्शनज्ञानानन्दस्वरूपीमें हो गई? गड़बड़ यद्यपि अभी यह जीव चल रहा है मगर यह गड़बड़ी जीवके स्वभावकी चीज नहीं है। यह बात सुगमतया तब समझमें आयगी जब निमित्त नैमित्तिक भावका यथार्थ स्वरूप ज्ञानमें रहे। यहाँ दो भूलें हो जाती हैं—एक तो यह भूल कि जगतके ये जितने पदार्थ दिख रहे हैं रूप, रस, गंध, स्पर्शवान, इनका निमित्त मान लेते हैं कि मेरे विकारके ये निमित्त हैं, पर मेरे विकारके ये बाह्य पदार्थ निमित्त नहीं होते। इनका जब आलम्बन लें, इनको जब ज्ञानमें लें तो ये आश्रयभूत कारण कहलाते हैं। विषयभूत पदार्थ विकारके निमित्त कारण नहीं है वास्तवमें किन्तु आश्रयभूत कारण हैं। एक तो यह ध्यानमें रखना, दूसरी बात यह ध्यानमें रखना कि निमित्त कारण कहीं कहने मात्रका ही निमित्त नहीं है, अर्थात् कुछ नहीं है यों कह डालने जैसी बात नहीं है, निमित्त कहलाता है कर्मोदय, सो हमारे जितने विकार प्रसंग होते हैं वे कर्मोदयका सन्निधान पाकर ही होते हैं। कर्मोदयके अभावमें कहीं भी विकार होना बताया हो या होता हो सो खूब खोज लीजिये। ऐसा हो ही नहीं सकता। ये विकार स्वभावतया नहीं होते। यदि निमित्त सन्निधान बिना विकार होने लगे अपनी मर्जीसे, अपनी बातसे, तो एक बार आत्मा सिद्ध प्रभु हो जाय तो भी विकार होनेका संदेह बना रहेगा अथवा कभी विकार मिट ही नहीं सकता। यदि विकार निमित्त सन्निधान बिना होता हो तो सदैव विकार चलता रहेगा, विकार मिटेगा नहीं। ये विकार परभाव हैं, नैमित्तिक हैं अतएव ये हटाये जा सकते हैं। इस यथार्थ परिचयमें स्वभावदृष्टि सुगमतया होती है। स्वभावदृष्टि पानेके लिए ही निमित्त नैमित्तिक भावका परिचय होता है, न कि वहाँ कुछ निमित्तके जुड़नेका परिचय किया जा रहा है या अपने उपयोगमें निमित्तकी बलवत्ता धारण करनेके लिए परिचय कराया जा रहा है।

(२७९) **निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयका प्रयोजन अहंकार व कायरता मिटकर स्वभावदृष्टि होना**—निमित्त नैमित्तिकके परिचयका प्रयोजन मात्र स्वभावदृष्टि है। मैं अपने स्वभावको निराला स्वच्छ कैसे निरख पाऊं। जैसे दर्पणका स्वरूप, स्वभाव निराला निजमें स्वच्छता मात्र है उसे यह आप कैसे समझ पाते हैं? जब यह भाव रहता है कि इसमें हाथ छाया या पुस्तककी छाया, कपड़ेकी छाया आदिक जो भी फोटो पड़ रहे हैं ये नैमित्तिक हैं, यह ध्यानमें रहेगा तो उस फोटो विकारसे आप उपेक्षा करके दर्पणकी स्वच्छताकी दृष्टि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आपको सुगमतया मिलेगी। तो ध्यानमें यह लाना चाहिये कि निमित्तसे उपेक्षा, नैमित्तिकसे उपेक्षा करनेके लिए ही इनका सही परिचय किया जाता है। तब ही तो समयसार बंधाधिकारमें बारबार यह समझाया गया है कि तू ऐसा ख्याल मत कर कि मैं इसको सुखी करता हूं, दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, मारता हूं, क्योंकि यह तेरा भाव अर्थ क्रियाकारी नहीं है। जैसा परिणाम तू कर रहा है वहाँ वैसा काम बन जाय तेरे परिणामके किए जानेसे तब तो उसे अर्थ क्रियाकारी कहेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता। तेरे वशकी ही बात नहीं है। तू उनका निमित्त कारण नहीं। उनका जीवन उनकी आयुके उदयसे ही होगा, उनका मरण उनकी आयुके क्षयसे ही होगा। उनका सुख दुःख उनके साता असाताके उदयका निमित्त पाकर ही होगा। यह स्पष्ट लिखा है। तो यह ध्यान दिलाया गया है कि तू यथार्थ निमित्त नैमित्तिकको देख और इन आश्रयभूत पदार्थोंमें मैं करता हूं या मुझे इसने कुछ कर दिया ऐसे अहंकारको और कायरताको तज दें। देखिये—कायरता तो यों छूटी निमित्त नैमित्तिकके परिचयमें कि इन आश्रयभूतके प्रति संदेह न रहा कि ये मेरेको सुखी दुःखी करेंगे, ये मेरा विगाड़ करेंगे···। निश्चय हो गया कि मुझ द्रव्यका ये अन्य जीव कुछ नहीं कर सकते। स्वरूप तो यों है कि निमित्त भी उपादानमें कोई वृत्ति नहीं कर रहा है, वह तो वहाँ उपस्थित है, पर उस उपस्थिति बिना यह उपादान अपनी विकृतिकी कलाको नहीं खेल पाता है। इसीको कहते हैं विकार होनेके प्रसंगमें ऐसा ही वस्तुस्वभाव है याने उपादानमें खुद ऐसी कला है कि वह अशुद्ध उपादान अनुकूल निमित्त पाकर उस प्रकारका विकार परिणाम करता है, पर निमित्त सान्निध्य बिना विकार परिणमन होता नहीं है। अतएव वे परभाव हैं और वे हटाये जा सकते हैं। सब कुछ उपदेश स्वभावदृष्टि करानेके लिए है न कि बाह्यवस्तुवोंका ही परस्पर संबंध ध्यान जुडाव निरखनेके लिए। विकारसे हटें स्वभावमें आयें, बस यह ही पौरुष करना है। यह या बनेगा, यह दृष्टि बनेगी तो आपको सर्व बातें ऐसी स्पष्ट होंगी कि आप विकारसे हटेंगे और स्वभावमें लगेगे।

(२८०) **जीवके वैरीका निर्णय**—देखिये मेरे प्रति दुष्टताका काम कोई भी इन्द्रिय विषयभूत पदार्थ नहीं कर रहा है। दुष्टताका साक्षात् काम तो उसका अज्ञान और कषायभाव कर रहा है और निमित्त दृष्टिसे जिसे कहते हैं अष्टकर्म, ये शत्रु हैं, दुःखके कारण हैं, सो वे दुष्ट लगे हैं और वैसे सबके अनुभवमें आ रहा कि जितने भी हम आपको कष्ट हो रहे हैं वे इस शरीरके कारण हो रहे। यदि शरीर हमारे साथ न होता तो हमारे लिए कोई कष्ट न था। हम शरीर वाले हैं, शरीरका बन्धन भी साथ चल रहा है तो सारे कष्ट हम पर आ रहे हैं, जन्मका कष्ट, मरणका कष्ट, जीवनमें इष्टवियोग अनिष्ट संयोग, व्याधि, वेदना आदि अनेक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकारके आशा तृष्णा आदिक जितने भी हम आप कष्ट पा रहे हैं वे सब इस शरीरके लगावसे पा रहे हैं। कल्पना करलो कि यदि मेरे साथ यह शरीर न होता, मैं अकेला ही रहता, जैसा मेरा स्वरूप है वैसा ही मैं प्रकट होता तो मेरे लिए क्या बाधा थी? अनन्त आनन्द था निराकुलता थी, पवित्रता थी। निस्तरंग रहता। यह शरीरका प्रसंग और इस शरीरका लगाव यह हमारी सारी बाधावोंका कारण बन रहा है। एक बात और भी सोचिये—जब कभी धार्मिक चर्चायें करते हैं और अपनी अपनी आदतके अनुसार जब तालमेल नहीं खाता तो यह जल्दी क्रोध क्यों आ जाता है? चर्चा तो धर्मकी कर रहे, ज्ञानस्वरूपकी कर रहे, आत्माकी कर रहे वहाँ क्रोध क्यों आ जाता? उसका भी कारण है शरीरका लगाव। यह मेरी बात नहीं मानता····अरे यहाँ मेरेके मायने क्या? जिसकी फोटो उतरती है, जिसका कि नाम रखा है यह शरीर, इसे कहता है मैं, और इसने मेरी बात नहीं माना, वहाँ यह भाव नही है कि ज्ञानमात्र मुझ आत्माकी बात नहीं मानी। वहाँ तो शरीरको निरखकर ही वह चित्तमें अवधारण कर रहा कि इसने मेरी बात नहीं मानी। तो आप देख लो, सारे झंझट उलझन, विवाद, झगड़े ये सब कुछ इस शरीरको व्यामोहके कारण हो रहे हैं। तब यह भावना भाइये कि मैं शरीरसे न्यारा हूं, कर्मसे न्यारा हूं और कर्मके प्रतिफलनसे निराला हूं। स्वयं केवल चैतन्यमात्र हूं, यह है मेरा स्वरूप। और इस स्वरूपको अपना लिया जाय फिर कषाय न होगी। विवाद न होगा। अशान्ति न होगी, उलझन न रहेगी। जब स्वरूपकी दृष्टि तो हो नहीं पाती। शरीरको तो माने हुए हैं कि यह मैं हूं और धर्मके कुछ प्रसंगमें मुखिया नेता बननेका दावा रखते हैं तो वहाँ फिर ये कषाय बनते हैं अन्यथा कषायका क्या काम?

(२८१) कल्याणार्थीका कर्तव्य सहज स्वभावमें आत्मत्वकी प्रतीति और इस ही का अनुयोगोंमें समर्थन—जिसे कल्याण चाहिए उसका कर्तव्य तो यह है कि अपने सहज स्वभावको निरखकर उसको अपनाये। उसमें आत्मत्वका अनुभव करे। यह है उसके कल्याण का उपाय और उसी स्वभावके निरखनेके ये सब परिचय हैं। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग सबमें जो कुछ लिखा है उन सबका उद्देश्य यह है कि ये इसी स्वभावका दर्शन कर लें। अनुयोगोंकी पद्धति जुदी जुदी है, पर अन्तमें निष्कर्ष ध्येय यह ही आयगा कि स्वभावदृष्टि करें। पुराणोंमें कितने ही कथन आये हैं। क्या गृहस्थी थी, क्या भोग भोगे, अन्तमें कैसे विरक्त हुए, कैसे तपश्चरण किया, कैसे उन्होंने मोक्ष पाया उनका कल्याण कब हुआ? तो सर्वसंग छोड़कर केवल स्वभावदृष्टिमें ही समय व्यतीत हो तो उनको यह निर्वाण मिले। यह ही तो शिक्षा मिली प्रथमानुयोगके कथनमें। अब उसमें कथन अनेक प्रकारसे किए गए हैं, पर शिक्षा यह ही मिलती है। करणानुयोगमें जीव और कर्मकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जो दशायें बतायी गई हैं उनमें निमित्तनैमित्तिककी घटना बतायी गई है जीवोंके परिणाम का निमित्त पाकर कर्मोंमें दशा बनती है, शुद्ध निर्मल परिणाम हुए तब कर्मोंका विध्वंस होने लगता। कषाय परिणाम हुए तो कर्मोंमें कर्मत्व आने लगता। हो रहे दोनों जगह दोनो काम। एक काम दो का नहीं और एकके दो काम नहीं। परिणति सबकी अपने आपमें हो रही है मगर ऐसा सहज निमित्त नैमित्तिक योग चल रहा है वस्तुस्वरूपको परखिये। प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमनसे ही परिणम रहा है। हाँ अनुकूल निमित्तयोगमें यह उपादान इस रूप परिणम जाता, पर परिणमने वाला वह अकेला उपादान ही है उस रूप। सबका अपने में अपना ही परिणमन चलता है। तो चूँकि जैसे सामने आयी हुई चीजका निमित्त पाकर दर्पणमें फोटो प्रतिबिम्ब हुआ है तो इस कारण वह परभाव है तभी तो तुरन्त हाथ हटा दिया तो प्रतिबिम्ब भी हट गया। हाथ कर दिया तो प्रतिबिम्ब हो गया। इतना सब कुछ होने पर भी हाथकी परिणति हाथमें ही है। हाथकी कोई परिणति हाथके प्रदेशसे निकलकर बाहर न होगी,, पर ऐसा ही योग है। यह योग स्वभावदृष्टिका परिचय कराता है। मैं स्वभावतः विकाररूप नहीं परिणम रहा। मेरा स्वरूप विकार परिणमनके लिए नहीं है किन्तु मात्र चिद्वृत्तिके लिए है। जैसा मेरा सहज स्वरूप है उस प्रकारकी वृत्ति चले यह है मेरे स्वरूपका काम स्वभावका काम और बाकी जो हो रहा है वह सब औपाधिक है। इन औपाधिकमें लगाव न रखें, अपने सहज स्वरूपकी संभाल करें। तो स्वभावदर्शनके लिए करणानुयोगमें भी जीव और कर्मकी दशावोंके प्रसंगमें बताया गया है विशुद्ध अध्यात्म कि तू यथार्थतया किस रूप है इसको पहिचान।

(२८२) **औपाधिकभावसे निराले स्वभावमात्र अन्तस्तत्त्वके परिचयका चमत्कार**—मैं स्वयं अपने सत्त्वके प्रतापसे चैतन्यमात्र हूं। केवल प्रतिभास हो, इतना मात्र हूं। इसमें जो रागद्वेषादिक विकार चलते हैं वह कर्मकी छाया, माया, फोटो है, उपचारसे वे कर्मके कहे जाते वस्तुतः वहाँ निमित्त नैमित्तिक योग है। जैसे प्रकाश जो है सो ही है, हरा कागज लगा तो हरा प्रकाश हुआ। अब इस हरे प्रकाशमें प्रकाशका स्वरूप क्या है और हरापन क्या है? यह भेद तो जान रहे ना? प्रकाश तो है प्रकाशकका निजीरूप और यह हरापन औपाधिक रूप है। रागद्वेषादिक औपाधिक रूप हैं और निज चिद्वृत्ति, चित्प्रतिभास यह एक स्वाभाविक वृत्ति है। इस मिश्रसे मिश्रणको हटाना, इसमें भेद करना और अपनेको स्वभावमात्र निरखना यह ही तो एक पौरुष है, जिसके किये जाने पर हमारेमें प्रगति होगी। तो अपना किसीको शत्रु न समझें, कोई जीव मेरा हित नहीं करता, उसका अपना परिणमन चल रहा। जैसी योग्यता है जैसे कषायादिक भाव हैं उस प्रकारसे उसका परिणमन चल रहा

http://sahjanandvarnishastra.org/

है पर वह मेरा कुछ बना नहीं है। सुख दुःख रागद्वेषादिक ये मेरे कमाये अर्जित कर्मोंके विपाकके अनुसार हैं, इनके अनुसार नहीं है। तो बाह्य आश्रयभूतसे मेरा बिगाड़ नहीं है ऐसा जानने से कायरता मिटती है। मैं किसी भी दूसरे प्राणीको सुख दुःख देने वाला नहीं हूं, ऐसा जाननेसे अहंकार मिटता है। आप देखिये प्रायः सभी कभी अहंकारके शिकार हो रहे हैं। कभी कायरताके शिकार हो रहे हैं, ऐसी ही बुद्धि तो चलती है, मंडरा रही है। देखनेमें बड़े सुन्दर जंचते हैं बड़े-बड़े लोग, बड़े-बड़े ढंग जैसे मानो बहुत ही उदात्त हों, पर चित्तमें अहंकार और कायरता ये मूलसे नहीं मिटें तब तक इसका धर्ममें प्रवेश नहीं हो पाता है। खूब सोच लीजिए कि अहंकार बुद्धि कैसे मिटती है? निमित्त नैमित्तिकके सम्बन्धमे की जाने वाली भूल खतम करनेसे मिटेगी, जो यह भूल लगा रखी है कि मैं इनके सुख दुःखका निमित्त हूं, मैं इनके सुख दुःखका करने वाला हूं तो न मैं निमित्त हूं दूसरेके सुख दुःखका, न मैं करने वाला हूं, मेरे सुख दुःखका निमित्त मेरा कर्मोदय है। ऐसा जानते ही अपना अहंकार खतम हो जाता है। ये मेरा न जाने क्या बिगाड़ कर देंगे, मैं इनको प्रसन्न रखूँगा तो ये मुझे सुख देंगे, इस प्रकार की जो भीतर कातर बुद्धि चलती है यह भी कैसे मिटे? तो वह भी मिटेगी निमित्त नैमित्तिकके यथार्थ परिचयसे। ये मेरे सुख दुःखके निमित्त नहीं हैं, ये मेरा सुधार बिगाड़ करने वाले नहीं है। लोगों पर जो कुछ यहाँ बीत रहा है वह कर्मविपाकके अनुसार बीत रहा है। अन्य मेरेको कुछ नहीं करते, ऐसा जान लेनेपर यहाँसे कायरता तो हट गई।

(२८३) **दैववाद व पौरुषवादका निर्णय**—अब कोई कहे कि कर्मको निमित्त जानें, तो वहाँ कायरता रहेगी। तो भाई अष्टसहस्रीमें बताया है कि दैवसे कार्य होता कि पुरुषार्थ से? सांसारिक कार्योंकी बात कह रहे। मोक्षका कार्य तो पौरुषसे ही है। उसकी बात नहीं कह रहे, पर सांसारिक कार्य तो साक्षात् दैवके निमित्तके अनुसार होते हैं। मगर इसीका ही कोई हठ कर ले तो बताओ वह जो दैव बना वह किस कारणसे बना? वह आत्माके परिणामसे बना। तो परिणाम मायने पौरुष है, और कर्मोदय मायने दैव है। तब एकान्त नहीं कर सकते। जब यह कह दिया जाय कि जैसा मैंने किया वैसा भोग रहा हूं तो यह हो गई पौरुषकी ओरसे बात और जैसा कर्मोदय है वैसा मैं भोगता हूं, यह हुई दैवकी बात। सब समन्वय है। यथार्थ ज्ञान रखें तो उसमें उलझन सब खतम हो जाती है।

सर्वोद्वेगविचक्षणः प्रचुरमामुंचन्नवाच्यं विषं।
प्राणाकर्षपदोपदेशकुटिलस्वांतो द्विजिह्वान्वितः।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भीमभ्रांतविलोचनोऽसमगतिः शश्वद्दयावर्जि
तश्छिद्रान्वेषणतत्परो भुजगवद्वर्ज्यो बुधैर्दुर्जनः ॥४४५॥

(२८४) **दुर्जनोंकी सर्वोद्वेगविलक्षणता**—दुर्जन पुरुष सर्पकी तरह नाना प्रकारसे अनर्थकारी होते हैं इसी कारण जैसे लोग सर्पसे दूर रहा करते हैं ऐसे ही विवेकी पुरुष दुर्जनोंसे दूर रहा करते हैं, न कोई सर्पको अपने पास रखता है न सर्पके रहनेके स्थान पर पहुंचता है ऐसे ही विवेकी पुरुष न अपने पास किसी दुष्ट पुरुषको रहने देते हैं और न दुष्टोंके संगमें वे जाते हैं। सर्पकी तरह कैसे अनर्थक हैं ये दुर्जन, सो देखिये—सर्वप्रथम तो जैसे सर्प सभी तरहके उद्वेगका कारण होता है। जहाँ सर्प निकला कि सब लोग घबड़ा जाते हैं, सबको उद्वेग हो जाता है, चित्तमें विह्वलता हो जाती है, इसी तरह दुर्जन पुरुष सबके चित्तमें उद्वेग उत्पन्न करने वाले होते हैं। वे दुर्जन पुरुष दुष्ट जन जहाँ भी पहुंचते हैं वहाँ उनसे अनेक लोगोंको बाधा होती है तो उद्वेग उत्पन्न होने लगता है। तो ये दुर्जन सर्पकी तरह सर्व प्रकार उद्वेग उत्पन्न करानेमें समर्थ होते हैं। दुष्टजन अपनी प्रकृति छोड़ नहीं सकते। उनमें इर्ष्या भरी है, क्रोध भरा है, स्वार्थ भरा है। उसके निकट जो रहेगा उनके मन, वचन, कायकी चेष्टावोंके कारण उद्वेग होता ही रहेगा। तो विवेकी पुरुष दुर्जन पुरुषोंका संग नहीं किया करते। सर्प किसे उद्वेग करानेके लिए नहीं बनता? वह निकला और लोगोंको उद्वेग हो जाता है। डर लगता है। लोगोंको उससे प्राण जानेका भय रहता है। तो ऐसे ही कोई दुर्जन चाहे यह भी मनमें ध्यान न रखे कि मैं दूसरेको दुःखी करूँ पर उसकी कुछ चेष्टायें ही ऐसी बनती हैं कि जिससे दूसरोंको कष्ट पहुंचता है। दुर्जन लोगोंके पास रहने वालोंको उनसे अनेक बाधायें आती हैं, तिरस्कार होता है और उद्वेग होता है। तो दुष्ट पुरुषोंका संग सर्वके उद्वेगका कारणभूत है। अतः दुष्टोंका संग न करें।

(२८५) **दुर्जनोंकी अवाच्यविषप्रमोचकता व प्राणापघातकता**—जैसे सर्प विष ही उगलता है, चाहे उसे दूध पिलाया जाय, या अमृत पिलाया जाय फिर भी वह विष ही उगलेगा, ऐसे ही दुर्जन पुरुषकी चाहे कोई कितनी ही सेवा करे लेकिन वह ऐसे ही वचन बोलेगा कि जिन्हें न बोलना चाहिए। दूसरोंके दिलको पीड़ा करें ऐसे वचन उसके मुखसे निकलते हैं। तो अवाच्य वचन विषसे कम नहीं कहलाते। तो दुर्वचन बोलनेकी प्रकृति है, निन्द्यनीय वचन ही दुर्जन लोग बोला करते हैं क्योंकि उनका चित्त वशमें नहीं है, जो मनमें आया और मनमें क्या आया, उनके दोष दृष्टि हुआ करती है इस कारण वे दूसरोंकी निन्दा के ही वचन कहेंगे। अब उनका संग कोई करे तो जो अवगुण नहीं हैं फिर भी निन्दाके वचन बोला करे तो लोगोंकी दृष्टिमें कुछ फर्क आ सकता है। निन्दाके वचन जो भी पुरुष

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बोले समझना चाहिए कि उसका आशय मलिन रहता है। नहीं तो निन्दाके शब्द बोलनेका क्या प्रयोजन ? अपना धर्म करना है। अपना कल्याण करना है तो अपनेसे मतलब रखा जाना चाहिए। दूसरे पुरुषोके वचन, निन्दाके वचन बोलते रहने की प्रकृति खोटे आशय बिना नहीं हो सकती। तो ये दुष्टजन अवाच्य विषवचन बोला करते हैं। जैसे सर्प निकल आया, सम्पर्क हो जाय तो वह पुरुषको डस लेता है ऐसे ही दुष्टोंके चित्तमें दया तो होती नहीं है, क्योंकि वे स्वार्थसे अंधे हैं, अपनी कषाय आग्रहके हठी है। तो वे दूसरोंके प्राणघात के कारण बन जाते हैं। सो जैसे जहाँ सर्प रहते हैं उस स्थानमें न रहना चाहिये क्योंकि सर्प प्राणनाशक होते हैं ऐसे ही दुष्टजन जहाँ रहते हैं वहाँ सज्जन पुरुषोंको न रहना चाहिये क्योंकि वे भी प्राणोका नाश करने पर उतारु हो जाते हैं।

(२८६) दुर्जनोंकी कुटिल हृदयता, द्विजिह्वता व निर्दयता आदि—जैसे सर्प खोटी जगहमें रहते हैं, साफसुथरी जगहमें रहनेका उनका भाव नहीं रहता, अटपट जगहमें रहते हैं और कुटिल चालसे चलते हैं ऐसे ही ये दुष्टजन छल कपटसे कुटिल रहा करते हैं। जिस प्रकार सर्प दो जीभ वाले होते हैं उसी प्रकार ये दुष्ट पुरुष भी दो जीभ वाले हैं अर्थात् एक ही बात को दो तरहसे कहने वाले होते हैं याने कपट होनेके कारण ऐसी बात बोलेंगे कि जिसके दोनों अर्थ हो जायें। यह देखनेमें बड़े-बड़े पुरुषोंके भी बात पायी जाती है तथा किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ कहा, ऐसी इनकी प्रकृति होती है। साँप जिस प्रकार भयंकर इधर उधर घूमते हुए चंचलनेत्रोंसे युक्त रहता है इसी प्रकार ये दुर्जन पुरुष भी अपनी भयंकर नजरसे इधर उधर घूमते रहते हैं। वे अपना दाँव देखते रहते हैं कि किस प्रकार अपना स्वार्थ सिद्ध किया जाय, किस प्रकार इनको धोखा दिया जाय। जिस प्रकार साँप विसम गति वाला होता है, टेढ़ा चलता है उसी प्रकार दुर्जन पुरुष भी विसम गति वाले होते हैं याने किसीसे कुछ बोलते किसीसे कुछ, कभी हितकी भी बात बोलते और अक्सर अहितकी बात बोलते। साँप जैसे निर्दयी होता है, बाल, वृद्ध, युवक सभीको डस लेता है ऐसे ही दुर्जन पुरुष दयारहित होते हैं, शत्रु मित्र, अपराधी, गरीब धनी कोई भी हो, सभीको तंग करते हैं क्योंकि दुष्ट प्रकृतिमें यही रहता है। साँप जैसे बिल ढूढनेमें सदैव तत्पर रहता है इसी प्रकार दुष्ट पुरुष भी दूसरोंके दोष ढूढ़नेमें सदैव तत्पर रहते हैं। इन दुष्टोंका संग अपने लिए विपत्ति का कारण है अतः उनका संग तजना योग्य है।

धर्माधर्म विचारणा विरहिताः सन्मार्गविद्वेषिणो
निन्द्याचारविधो समुद्यतधियः स्वार्थैकनिष्ठापराः।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दु:खोत्पादकवाक्यभाषणरता: सर्वाप्रशंसाकरा
द्रष्टव्या सपरिग्रहव्रतिसमा विद्वज्जनैर्दुर्जना: ॥४४६॥

(२८७) **दुर्जनोंकी दोषपूर्णताका चित्रण**—दुष्टजन मानो परिग्रही पाखण्डी संन्यासी जनोंकी तरह हैं जैसे कोई पाखण्डी पुरुष धन धान्य दासी दास, चेतन अचेतन परिग्रहसहित होते हैं तो ऐसे ही ये दुर्जन भी धर्म अधर्मका विचार इनके नहीं है, पुण्य पापका विचार इनके नहीं है तो ये भी उन्हीं परिग्रहोंकी तृष्णामें लगे हुए हैं। इस छंदमें दुष्ट पुरुषोंके मुख्य मुख्य लक्षण विशेषणके रूपमें कहे गए हैं, जिनमें प्रथम परिचय यह है कि दुष्टजन धर्म और अधर्म अथवा पुण्य और पापके विचारसे रहित होते हैं। दूसरा लक्षण यह है कि ये दुष्टजन सन्मार्गके विद्वेषी होते हैं, जैसे पाखण्डी तपस्वीजन सन्मार्गके विद्वेषी होते हैं। जो वास्तविक साधुजन हैं उनसे विद्वेष रखते हैं। उसी प्रकार ये दुर्जन पुरुष भी श्रेष्ठ मार्गसे विद्वेष करने वाले होते हैं। क्योंकि इन दुष्टोंको चाहिए विषय और कषाय। विषय कषायके साधन गुणीजन या साधुजन नहीं होते। सन्मार्ग तो पापोंको दूर हटाता है और ये हैं पापके अभिप्राय वाले तो इन्हें व्यसनी पुरुष पापी पुरुष जो स्वयं गुण्डागर्दीके भावके हों वे तो सुहा जायेंगे पर जो ज्ञानी संयमी श्रेष्ठ आचरणके हैं वे पुरुष इसे भी न सुहायेंगे। तो इसने समीचीन मार्गसे द्वेष ही तो किया। दुष्टजन धर्मात्माजनोंको इस प्रकार देखते हैं जैसे कि वे तुच्छ हों, असहाय हों अथवा उनको कोई सुविधा न होनेसे यह मार्ग बनाया हो, इस ढंगसे देखते हैं। तो दुष्टजन सन्मार्गके विद्वेषी होते हैं, यह उनका दूसरा लक्षण है। तीसरा लक्षण है कि निन्द्यनीय आचरणके करनेमें उनकी बुद्धि तैयार रहती है याने निन्द्य आचार उनको पसंद रहता है, उन आचरणोंके करनेमें ही उनका सारा प्रयत्न चलता है। चौथी पहिचान यह है कि दुष्टजन एक स्वार्थमें ही अपनी बुद्धि रखते हैं, अपने इन्द्रियके साधन मिलें, आरामके साधन मिलें, भोग विषयोंके साधन मिलें, ऐसी उनकी दुर्बुद्धि होती और निजके स्वार्थमें ही उनकी आस्था बनी रहती है। ५वाँ परिचय उनका यह है कि वे ऐसे ही वचन बोलते हैं जिन वचनोंसे दूसरोंको दु:ख उत्पन्न हो। उनके वचनोंमें निष्ठुरता होती है। कदाचित मधुरता भी हो तो भीतर कपटपना बना रहता है जिससे दूसरे लोग दु:ख पायेंगे। तो उनका वचनसन्यास सर्व दु:खोंको उत्पन्न करने वाला होता है। दुष्टजनोंका छठा परिचय यह है कि सभी पुरुषोंकी वे निन्दा किया करते हैं। चाहे गुण हों उसकी भी निन्दा करेंगे। किसीमें गुण कम हों उसकी भी निन्दा करेंगे। निन्दा करना ही उनका स्वभाव पड़ गया है और इस कारणसे वे अपने मनको संतुलित नहीं रख पाते और कषायोंमें ही व्यग्र रहकर वे स्वयंको निरन्तर क्लेश संक्लेशमें रखा करते हैं। ऐसे दुष्टजनोंका संग छोड़ना ही उचित है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मानं मार्दवतः क्रुद्धं प्रशमतो लोभं तु संतोषतो ।
मायामार्जवतो जनोमवनतेर्जिह्वाजयान्मन्मथं ।।
ध्वांतं भास्करतोनलं सलिलतो मंत्रात्समीराशनं ।
नेतुं शांतिमलं कुतोपि न खलं मर्त्यो निमित्ताद्भुवि ।।४४७।।

(२८८) **दुर्जनको शान्त कराये जानेकी अशक्यता**—ये दुष्टजन किसी भी प्रकारसे वशमें नहीं आते । अनेक खोटी और कठिन बातोंपर विजय प्राप्त किया जा सकता है मगर दुष्ट पुरुषोंपर विजय प्राप्त नहीं किया जा पाता । उनको वशमें नहीं कर पाते । देखिये मान कषाय एक बहुत खोटा भाव है मगर उसे भी मार्दव धर्मके द्वारा शमन कर दिया जा सकता क्रोधभावको प्रशमभावसे नष्ट किया जा सकता है । यह क्रोध भी इतना भयंकर विकार है कि जब क्रोधभाव जगता है तो यह सद्बुद्धिसे दूर हो जाता है और वहाँ चित्तमें जो आता वही करता है । ऐसे क्रोधको भी प्रशमके द्वारा वश किया जा सकता है । लोभ कषाय जो जीवोंको निरन्तर क्लेश उत्पन्न करती है उस लोभ कषायको भी संतोषसे शान्त किया जा सकता है । न लोभ रहे, संतोष वृत्तिसे रहे, यह बात आ सकती है । माया कपट भाव एक ऐसा विकार भाव है कि इस मायाके रहते हुए धर्मका प्रवेश भी नहीं हो सकता । ऐसे छल कपट जैसे खोटे भावको आश्रव धर्मके द्वारा दूर किया जा सकता है । तो इन कषायोंके वेगको तो दूर किया जा सकता है किन्तु दुष्टजनोंको किसी भी प्रकारसे वशमें नहीं किया जा सकता, उनका शमन नहीं किया जा सकता । स्त्रीजनोंको अनुनय विनयसे प्रसन्न किया जा सकता है पर इन दुष्टजनोंको किसी भी प्रकारसे प्रसन्न नहीं किया जा सकता, सिद्ध नहीं किया जा सकता । ये किसीके वशमें नहीं आ पाते । जिभ्या इन्द्रियको जीतनेसे कामके वेग को शान्त किया जा सकता है लेकिन इन दुष्टजनोंको किसी भी प्रकारसे वशमें नहीं किया जा सकता । अंधकारको प्रकाशक पदार्थोंका सम्बन्ध दूर कर देता है । प्रकाश द्वारा अंधकार दूर किया जा सकता है किन्तु ये दुष्टजन किसी भी प्रकार दूर नहीं किए जा सकते, अर्थात् इनके चित्तको शुद्ध नहीं किया जा सकता । अग्नि जलके द्वारा बुझ सकती है । लोग प्रयोग करते ही हैं । जब अग्नि प्रज्वलित होती और उसके बुझानेकी आवश्यकता होती तो झट पानी डालकर उसे शान्त कर दिया जाता है परन्तु दुर्जन पुरुष किसी भी प्रकारसे शान्त या वशमें नहीं किए जा सकते । सर्प एक भयंकर जानवर है जब उसे किसी पर क्रोध आता है तो कितना ही दूर हो, वहीं पहुंचकर उसे डस लेता है, ऐसे सर्पको मंत्रके वशसे कीलकर शान्त किया जा सकता, परन्तु दुर्जन पुरुष किसी भी प्रकार वश नहीं किया जा सकता । ऐसे स्वच्छंद चित्त वाले दुर्जन पुरुषोंका संग त्यागने योग्य ही है ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वीक्ष्यात्मीयगुणैर्मृणालधवलैर्यद्वर्धमानं जनं ।
राहुर्वा सितदीधितिं मुखकरैरानंदयंत जगत् ॥
नो नीचः सहते निमित्तरहितो न्यक्कारवद्धस्प्रहः ।
किंचिन्मात्रं तददभुतं खलजने येन वृकेव स्थितः ॥ ४४८ ॥

(२८६) **दुर्जनोंकी भेड़ियेकी तरह दुर्दृष्टि व दुष्प्रवृत्ति**—दुष्ट जन अपनी दुष्टताकी प्रकृतिको नहीं छोड़ते । कोई पुरुष निर्मल गुणोंसे बड़ा प्रगतिशील हो रहा हो, जो समस्त जगतको आनंदित कर रहा हो, ऐसे उत्तम गुणी पुरुषोंको देखकर दुष्टजन अकारण ही उनको नीचा करनेका प्रयत्न किया करते हैं । तो मानो उनको ग्रसकर गिराना चाहते हैं । जैसे कि चन्द्रमा जो जगतको शीतलता प्रदान करता है, जिसकी किरणें बडी उज्ज्वल हैं उस चन्द्रसे मानो यह राहु गुणोंकी दृष्टि न देख सकनेसे उसे ग्रसनेका प्रयत्न करते हैं, भले ही कुछ समयके लिए चन्द्र ग्रसा जाता है मगर उसका वश सदा नहीं चलता । तो भले ही कोई दुर्जन किसी गुणीको सताये तो वह गुणी अपनी सद्भावनाके कारण अन्तमें सुरक्षित ही रहता है मगर दुष्टजन उनको सताये बिना नही रहते । अर्थात् दुष्टजन गुणी पुरुषोंके गुणोंमें ईर्ष्या रखकर उसका बुरा ही करनेमें लग जाते हैं । सो मालूम होता कि ये दुष्टजन भेड़ियेकी तरह हैं । जैसे भेड़िया टकटकी लगाकर भीतर ही भीतर झुन्नाता रहता है, अवसर देखता रहता है । जैसे ही उसने अवसर पाया कि झट भेड़ बकरी आदिक जानवरोंका शिकार कर लेता है इसी तरह दुष्ट पुरुष भी सदा ताक लगाये बैठे रहते हैं, वे अवसर देखते रहते हैं और जैसे ही अवसर मिलता है तो ये गुणोंको मलिन कर डालते हैं । गुणी पुरुषोंके गुणोंको भी अवगुणरूपमें प्रकाशित करते हैं और अपने गुणोंको तो मलिन कर ही रहे हैं । तो जो दुष्टजन मिथ्या मलिन आशयके हैं उनका संग करने से इस मनुष्य को लाभ कुछ नहीं, उल्टे हानि ही हानि है । इसलिए अपनी बुद्धिके सुधारके लिए सन्मार्गमें निर्बाध गमन करनेके लिए विवेकी पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे दुष्टजनोंका संग छोड़ दें ।

त्यक्त्वा मौलिकसंहतिं करटिनो गृह्णंति काकाः पलं ।
त्यक्त्वा चंदनमाश्रयंति कुथितयोनिक्षतं मक्षिकाः ॥
हित्वान्नं विविधं मनोहररसं श्वानो मलं भुंजते ।
यद्वल्लाति गुणं विहाय सततं दोषं तथा दुर्जनाः ॥४४६॥

(२६०) **दुर्जनोंकी सतत दोषग्राहिता**—दुष्टजन गुणियोंके गुणोंको छोड़कर निरन्तर उनके दोषोंको ही ग्रहण करते हैं और प्रकट करते हैं । जैसे कि कौवा हाथीके गजमोतियों को तो छोड़ देता है और मांसको ही ग्रहण करता है । किसी किसी गजके मस्तकमें मोती

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भी होते हैं। जैसे हड्डियां होती तो वे भी पौद्गलिक हैं ऐसे ही कोई विशिष्ट जातिका लौकिक उत्तम मूल्यवान पदार्थ भी वहां उत्पन्न होता है। तो काग जब कुछ कमजोर हाथीको या तुरन्तके मरे हुए हाथीको चोटते हैं तो उनकी दृष्टि केवल मांस खानेमें रहती है, भले ही वहां और भी मूल्यवान पदार्थ हैं, पर उनको वे छोड़ देते हैं, करें क्या? कौवेकी प्रकृति मांसकी ही तो होती है अएतव मोतियोंके समुदायको छोड़कर केवल मांसका ही भक्षण करते हैं इसी तरह ये दुष्ट पुरुष गुणीजनोंके गुणोंको त्यागकर केवल उनमें दोषको ही ग्रहण करते हैं। उपयोगमें लेते हैं और उसीको ही जिभ्यासे बोलते हैं? दुष्टोंको गुणोंसे क्या मतलब रहा? उसमें रुचि ही नहीं। गुणोंसे प्रेम ही नहीं, गुणोंको तो वे देखते हैं जिनको गुणोंमें प्रेम होता है। तो गुणोंसे द्वेष रखने वाले दुष्टजन गुणीजनोंके गुणोंको छोड़कर केवल दोषोंको ही ग्रहण करते हैं। जैसे मक्खियां चंदनको छोड़कर निन्द्य घावका ही आश्रय करती हैं। जैसे किसी पुरुषको घाव हुआ हो और उसमें चंदनका लेप किया हो तो मक्खियां उस चंदनसे प्रेम नहीं करती, चंदनके लेपको तो छोड़ देती हैं और उस घाव पर मुख देती हैं ऐसे ही दुष्टजन गुणीजनोंके गुणोंका उनपर पूरा लेप है लेकिन उन गुणोंको दुष्टजन ग्रहण नहीं करते, बल्कि कोई थोड़ा दोष हो तो उसका ही आश्रय करते हैं। दोष ही उसकी दृष्टिमें रहते हैं। कदाचित दोष न भी हों तो दोष बना बनाकर वे उगलते रहते हैं। जैसे कुत्ते बड़े रसीले भोजनको छोड़कर केवल वमन जैसे मलोंको ही खाते हैं। उन कुत्तोंको उस वमनके खानेमें ही प्रेम होता है ऐसे ही ये दुष्टजन गुणी पुरुषोंके गुणोंको त्याग कर केवल उनके दोषको ही निरखते रहते हैं। दुष्टजन क्या करें, उनको दोषमें प्रेम है इस लिए दूसरोंमें दोषको ही देखते हैं और वे स्वयं दोषको श्रेष्ठ समझते हैं। वे दोषोंके करनेमें पापकार्योंके करनेमें अपनी बहादुरी भी मानते हैं। मैं पुरुषार्थी हूं, मैं बड़ा हूं, सबसे अधिक समझदार हूं, मैं अनेक लोगोंकी आंखोंमें धूल झोंककर अपना काम बना लेता हूं, ऐसा उन दुष्टजनोंके मनमें गर्व रहता है। तो इन दुष्ट प्रकृति वाले लोगोंका दोष ही दोषमें निवास है। उनका संग करनेसे कभी भी धर्मका लाभ नहीं हो सकता, बल्कि धर्ममें हानि होती है, उद्वेग बढ़ता है इस कारण धर्मके इच्छुक पुरुषोंका दुष्टजनोंका परित्याग करना ही चाहिये।

ये जल्पंति व्यसनविमुखा भारतीयस्तदोषं
ये श्रीनातिद्युतिमतिधृतिप्रीतिशांतीर्ददंते।
येभ्यः कीर्तिर्विगलितमला जायते जन्मभाजां
शश्वत्संतः कलिलहतये ते नरेणात्र सेव्याः ॥४५०॥

(२६१) सत्संग किये जानेके योग्य सज्जनोंका हितकारिणी वाणीसे परिचय व

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सत्संगके लाभ—यह सज्जन निरूपण नामका परिच्छेद है। संग सज्जनोंका सेवन करनेके योग्य है। दुष्टसंगसे तो बनवास या अन्य कार्य भी भले हैं। संग होना चाहिये सत्पुरुषोंका क्योंकि सत्संगसे बुद्धि पवित्र रहती है। सन्मार्ग मिलता है, शान्ति प्राप्त होती है। तो वह सज्जन पुरुष कौन होता है उसका वर्णन इस छंदमें किया है। सज्जनकी पहिचान है निर्दोषवाणी। जिनकी निर्दोष वाणी दुःखोंसे अलग रखती है वे सज्जन पुरुष कहलाते हैं। जिन्होंने आत्माका और संसारके स्वरूपका भली भाँति निर्णय किया है उनमें ही यह कला आती है, वे ही वास्तवमें सत्पुरुष कहलाने योग्य है, उनकी ही वाणी ऐसी निर्दोष निकलती है कि जिसमें मिथ्याका काम नहीं, दूसरोंका अहित नहीं। मनुष्योंकी पहिचान वाणीसे होती है मगर कभी कभी यह भी धोखा रहता है कि जिसकी वाणी सुननेमें तो भली लग रही है मगर हृदयमें कपट है, स्वार्थवासना है तो उसकी पहिचान थोड़ा कठिन तो होती है मगर बहुत दिन बसे बसे सब ज्ञात हो जाता है कि यह वाणी तो वास्तवमें निर्दोष है और यह कपटभरी है। सज्जन पुरुषोंकी निर्दोष वाणी दूसरोंको विपत्तियोंसे हटाती है, विभूति, कीर्ति, कान्तिका वर्द्धन करती है। जिनका हृदय पवित्र है, इस संसारके सर्वसंकटोंसे हटनेकी खुदको वाञ्छा है उनकी वाणी कपटभरी कैसे हो सकती ?

(२९२) **परविविक्त स्वैकत्वगत सहजात्मस्वरूपकी प्रतीतिका कर्तव्य**—देखो इस जीवनमें करने योग्य खास काम क्या है ? जो करने योग्य काम है वह कठिन नहीं, सुगम है, स्वाधीन है। वह काम क्या है ? अपने आपके सहज स्वरूपका परिचय बना लेना। मैं हूं तो अपने आप ही तो हूं, मेरी सत्ता किसी दूसरे पदार्थकी दया पर नहीं है। अपने आपसे ही सत्त्व हूं। तो स्वयं अपने आपसे मैं कैसा हूं इसका जिसको निर्णय हुआ है वह ही वास्तविक विरक्त होगा और अपनी स्वरूपदृष्टि करके संसारसे पार होगा। स्वरूपदृष्टि करनेके लिए एक संक्षिप्त मनन करें कि मैं देहसे, कर्मसे, विकारसे निराला केवल चेतनामात्र हूँ। ऐसी बात दृष्टिमें आनी चाहिए। किसी परपदार्थके सम्बन्धसे क्या हो रहा ? निर्णय तो रखिये जरूर मगर अनुभवके प्रसंगमें दृष्टि केवल निज सहज स्वरूपपर देनी है। भले ही कई चीजोंका मिलाप हो और उस मिलापमें सभी अपने स्वभावके विपरीत परिणाम रहे हों तिसपर भी सबकी सत्ता अपने आपके निरपेक्ष है और स्वयंके रूप ही हुआ करती है। मैं देहसे निराला हूं। यह बात सही है या नहीं ? कहनेमें तो झट आ जायगा कि सही है मगर परीक्षाके अवसर जब आते हैं तब जैसे कहते हैं अपनी सिट्टी भूल गए। अच्छा एक दिन खाना न मिले या तीव्र ज्वर हो जाय, या कोई विकट रोग हो जाय तो उस समय जो ऊपरी बातें कर रहे थे वे तो डिग जायेंगे और जिन्होंने पदार्थोंके सहज स्वरूपका निर्णय बनाया है वे धैर्य

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पायेंगे उन कठिन परिस्थितियोंमें भी।

(२९३) **देहबन्धनकी असुविधायें**—भैया, इतना तो स्पष्ट निर्णय सबको है कि मरेके बाद लोग शरीरको क्यों जला देते हैं ? जिस शरीरसे लोगोंका ऐसा प्रेमपूर्ण व्यवहार रहा ऐसे मित्रजन, वे ही सगे भाई बंधु इस मुर्देको झट ले जाकर जला आते हैं। दो घड़ी भी उसको घरमें नहीं रहने देते तो क्यों नहीं रहने देते ? उनको इस बातका ज्ञान है कि जीव न्यारा है, देह न्यारा है। जीव चला गया, खाली यह देह रह गया, तो यों भी झट समझमें आता है कि जीव न्यारा है, कर्म न्यारे हैं, और शरीर न्यारा है, पर बंधन ऐसा है कि इनका प्रयोग रूप देनेमें बड़ी बाधा आती है। भूख प्यास आदिक रोगोंकी बात तो दूर जाने दो, इष्टवियोग हो गया या अपनी कषाय वश विरुद्ध कोई बात बोल दी तो उसमें झट तिलमिला जाते हैं। अब बताओ कहाँ गया वह ज्ञान कि देह जुदा और मैं आत्मा जुदा ? कोई विपरीत बात कह दे तो बात कहने वाला जुदा है। मूर्तिक है, भाषावर्गणाके शब्द हैं, अपनी कषायके अनुकूल काम कर रहा है, उसमें मुझ ज्ञानमात्र आत्माका क्या सम्बंध है ? किन्तु उसे सुनकर झट तिलमिला जाते। मालूम होता है कि वह सब तोतारटन्त बात है—शरीर जुदा मैं जुदा, इसका अभ्यास नहीं बनाया, मनन नहीं बनाया सो बुरा लग रहा। अपने शरीरको माना कि यह मैं हूं और दूसरे शरीरोंको माना कि ये दूसरे लोग हैं और उस गालीके शब्दोंमें यह बात जोड़ ली कि इतने लोगोंके सामने यह मुझे गाली दे रहा, तो शरीरमें लगाव है तब तो गाली दे रहा, तो शरीरमें लगाव है तब तो गाली बुरी लगी, इष्ट वियोगका दुःख हुआ।

(२९४) **गुणरुचि व साम्यभावमें वास्तविक समृद्धि**—जो बात कहनेमें भली लगती है उसका अगर प्रयोग हो जाय तब तो बेड़ा पार हो। सभाके बीच किसीको व्याख्यान देने खड़ा कर दिया तो वह जितनी बातें कहेगा वे सब भली कहेगा। किसीकी निन्दाकी बात न बोलेगा अगर बोलेगा भी तो वह प्रशंसाके रूपमें बोलेगा। निन्दाकी बात कहनेको तैयार होगा तो उसके हाथ पैर कांपने लगेंगे। वह ठीक तरहसे बयान नहीं कर सकता, और अगर किसी की प्रशंसाकी बात बोलेगा तो वह स्थिर रहेगा, प्रसन्न रहेगा। तो आप प्रयोग करके देख लो, जो बात करनेमें भली लगती है उस रूपसे प्रयोग बने तो इसमें आत्माका कल्याण है। देह जुदा मैं जुदा यह कहनेमें कितना भला लगता और यह ही व्याख्यानमें बोला जाता और इसका यदि भीतरी मनन बन जाय तब तो इसे शान्ति प्राप्त होगी। तो अभ्यास यह बनाइये कि मैं देहसे न्यारा हूं। जैसे प्रतिकूल किसीकी क्रिया हो जाती तो वहाँ क्यों कषायका बेग होता ? अरे प्रतिकूल कुछ नहीं है दुनियामें जो बाहरी पदार्थ जैसा परिणमते हैं, परिणम रहे हैं वे मेरे प्रतिकूल क्या ? अज्ञानसे।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हम मान रहे कि ये मेरे प्रतिकूल हैं। कोई लोग कहते कि मेरा ही बेटा और मेरी ही बात नहीं मानता। जिसकी २०-२५ वर्ष तक सेवा की, पढ़ाया लिखाया, शादी करायी, सब प्रकारको सेवायें कीं, मगर यह मेरेसे प्रतिकूल बोलता है।....अरे वह प्रतिकूल कुछ नहीं बोलता, वह तो अपनी कषायके अनुकूल बोल रहा। जिसमें उसे सुख शान्ति नजर आती वह कार्य कर रहा है। चाहे वह कार्य उसके ही खिलाफ बने, उसके ही बिगाड़का कारण बने, मगर सब लोग अपने-अपने माने हुए सुखके लिए अपनी प्रवृत्ति करते हैं। जो करते हैं सो करने दो, दुनियामें करोड़ों मनुष्य कर रहे ऐसा काम जैसे कि यह मनुष्य कर रहा, वहाँ क्यों बुरा मानते ? उनमें लगाव न रखें, उनमें मोह बनाया है, लगाव रखा है इससे बुरा मानते हैं, और लगाव कब है ? जब उसने अपने शरीरको माना कि मैं यह हूं। तब तो लगाव है, नहीं तो ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मस्वरूपको दृष्टिमें लेकर कौन कहेगा कि यह मेरे प्रतिकूल है।

(२६५) **स्वरूपाभिमुखतामें स्वरूपदृष्टि**—धर्म स्वरूपाभिमुख होनेपर धर्म बड़ा सुगम है, लेकिन जो लोग खोटे पथकी ओर चल रहे हों उनके लिए अतीव दुर्गम है। जैसे दर्पण है, इसके समक्ष मुख कर लिया तो अपना दर्शन बड़ा सुगम है और दर्पणकी ओर पीठ कर लें तो अपना दर्शन बड़ा दुर्गम है। देखिये जासे में ही कितना अन्तर हो गया। तो जिनको कल्याण इष्ट है, जो जान चुके कि मेरा हित किसी बाह्य पदार्थके लगावमें नहीं है वह भिन्न है, मेरे लिए असार है, मुझे वहाँ क्या करना ? अनन्त भव गुजर गए इसी चक्करमें मेरा किसी अन्यसे प्रयोजन नहीं। आत्मस्वभाव मेरी दृष्टिमें आये बस एक मात्र यही करनेका काम पड़ा हुआ है। मैं देहसे न्यारा हू। और देहसे भी बहुत सूक्ष्म पुद्गल, जिनका कि विकट बंधन बना है, अनादिसे भरे चल रहे हैं, बंधन है, वे कर्म भी पौद्गलिक हैं। उन कर्मोंसे भी मैं न्यारा हूं। जैसे शरीरसे न्यारा ऐसे ही कर्मसे न्यारा। यद्यपि मरण हो जानेपर शरीर साथ नहीं जाता कर्म साथ जाते हैं। वे पौद्गलिक सूक्ष्म कर्म जीवके साथ जाते हैं इतनेपर भी उन कर्मोंसे यह आत्मा जुदा है। तो मनन करें कि मैं आत्मा इन कर्मोंसे भी न्यारा हूं। तीसरा मनन करिये कर्मका उदय आया। जब कर्म बंधे हैं तो अपने समयपर उनका विपाक आया। तो कर्मका विपाक कर्ममें आया। कर्मके उदयमें कर्ममें ही भयंकर रूप बन गया। लेकिन जब यह निमित्त नैमित्तिक बंधन है तो कर्मके उदयका वह भयंकर रूप यहाँ उपयोगमें आया, यहाँ उसका प्रतिफलन हुआ। फोटो आयी कैसे ? छाया बनी तो वह बनी जिनके विकार भाव रूप और इसीको जीवने मान लिया कि मैं यह हूं और इस मान्यतासे संसारमें रुलता है। मैं इन विकारोंसे भी नि-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

राला हूँ, क्योंकि वे मेरे स्वरूपकी चीज नहीं हैं, वे नैमित्तिक हैं, इनसे मैं न्यारा हूँ। तो देह से न्यारा कर्मसे न्यारा और विकारसे न्यारा केवल चेतना मात्र।

(२९६) **पुद्गल व पौद्गलिक भावका बन्धन होनेपर भी स्वरूपसत्त्वकी विविक्तता–** अब अपने स्वरूपकी ओरसे देखिये यह मात्र चैतन्यस्वरूप है। अपने आपके बारेमें उस चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि जाय तो जीवको धर्मका मार्ग मिलता है। सो धर्मकी इच्छा तो है सबके इसी लिए तो मंदिर आते, धर्म भावोंसे ही तो आते। तो यह धर्ममार्ग कितना सुगम है, थोड़ा इसका ज्ञान बना ले और अपने आपको मात्र चैतन्यरूपमें सही स्वरूप मानें, बिगाड़ कितने ही हो रहे मगर स्वरूप तो सही है। जैसे दूध और पानी भले ही मिल गए हैं मगर पानी पानीसे ही रचा है दूध दूधसे ही रचा हुआ है। यद्यपि मिले हुए दूध पानीमें से कोई दूध दूध पी ले, पानी न पिये ऐसा करना कठिन है। प्रयोगमें न आ पायगा किन्तु स्वरूप तो देखो वहाँ कि पानी पानीमें ही है, दूध दूधमें ही है उसको आगसे तपा दिया जाय तो दूध दूध तो रह जाता और पानी भाप बनकर ऊपर उड़ जाता। मशीनों द्वारा भी दूध और पानी अलग अलग देखे जा सकते। हंस पक्षीकी चोंचमें भी कोई ऐसा रसायन होता जिससे उस चोंचको मिले हुए दूध पानीमें डालने पर दूध अलग हो जाता और पानी अलग हो जाता तो जैसे मिले हुए दूध पानीमें दूधकी सत्ता अलग है और पानीकी सत्ता अलग है ऐसे ही शरीर कर्म और जीव इन तीनोंका मिश्रण होनेपर भी सब एक दूसरेसे भिन्न हैं।

(२९७) **सहजात्मस्वरूपभावनासे पवित्रताकी संभूति**—मैं आत्मा केवल चैतन्यमात्र हूँ, यह जिनकी दृष्टिमें आ गया है उनका मन शुद्ध है, उनके वचन शुद्ध हैं। और की तो बात क्या कहें उनके कायको भी शुद्ध कहते हैं। जो रत्नत्रयसे पवित्र हैं ऐसे साधुवोंके देह को किसने अपवित्र कहा? उनके स्नानका त्याग है लेकिन उनके शरीरको किसी ने अपवित्र कहा क्या? कोई साधु स्नान न करके आहारके लिए आया हो तो उसे आप आहार देनेमें मना तो नहीं करते। भले ही कोई ऐसा तेज शोधिया बना हो कि इस ही भावसे अलग भोजनका प्रबंध करे, आँगनमें लगाये कि ये नहाते तो हैं नहीं, ये चौकेमें आ गए तो हमारा चौका अपवित्र हो जायगा ऐसा सोचकर यदि कोई अलग प्रबंध करे तो उसका दूषित भाव है, पर ऐसा कोई करता नहीं। साधुका, रत्नत्रयधारीका देह सदा ही पवित्र माना जाता। उनके वचन तो पवित्र हैं ही किसीको पीड़ा कारक वचन नहीं हैं। उनके क्रोध, मान, आदिक कषाय नहीं जगते। साधुसंतोंने वास्तविक क्या चीज पायी है जिसके बलपर उनके कषाय नहीं जगते? तो उन्होंने पाया है स्वभावदृष्टिका बल। मैं यह हूँ, चैतन्यमात्र। जैसा जो कोई अपने बारेमें बार बार सोचता है उस रूप उसका परिणाम, परिणमन होने लगता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। आप किसीके बारेमें सोच रहे हों कि यह मेरा बड़ा विरोधी है, यह मेरेको देखता नहीं है तो आपको ऐसा ही दिखने लगेगा और उसकी प्रत्येक क्रिया आपको यों ही समझमें आयगी कि यह मेरा विरोध कर रहा है। जो बार बार यह सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ। मनुष्य हूँ मायने यह देह वाला हूँ तो उसके सब संसार बढ़ने वाली बात बनेगी और जिनका मनन बराबर यह चलता है कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, केवल चैतन्यस्वरूप पदार्थ हूँ तो उसके ज्ञाताद्रष्टा रूप व्यवहार चलने लगेगा।

(२६८) **भावनानुसार भविष्य**—देखो जैसे पहाड़से कोई रत्न निकालता है या आग निकालता है ऐसे ही आत्मामेंसे सुभाव निकालते हैं या दुर्भाव निकालते हैं यह अपने भावोंके आधार पर है। उसने किसका मनन कर रखा है, किसको अपना रखा है उस आधार पर बात है कि कोई चाहे रत्न निकाले या आग। जिसने अपनेको पर्यायरूपसे मनन किया है उससे आग निकलेगी और जिसने अपने आपके लिए चैतन्यस्वरूप मात्र मनन किया है उसकी वाणी निर्दोष निकलेगी। तो सज्जन पुरुष वह है जिसकी निर्दोष वाणी दूसरोंका दुःख दूर कर देती है। जो विभूति, नीति, कान्ति, शुद्ध लक्ष्मी वर्द्धक वृद्धिको करती है जिसके सम्बन्धसे निर्मल कीर्तिका प्रादुर्भाव होता है ऐसे सज्जन पुरुषोंका सदा सेवा सत्संग करना चाहिए। पहले एक यह निर्णय बना लो कि आपको इस संसारमें बारबार जन्म लेने में मजा आता है या जन्म बिल्कुल न हो आगे यह आपको चाहिए? इसका निर्णय बनायें पहले। यदि कोई यह कहे कि मुझे तो जन्म चाहिये, जन्म अच्छी चीज है, जन्ममें ही तो बड़े उत्सव समारोह होते हैं, स्वर्गोंमें देव समारोह करते हैं यहाँ सेठ लोग समारोह करते हैं, तो जन्म अच्छा है ना? तो ठीक है जन्म लेना यदि आपको पसंद है तो आप एक काम करिये कि इस शरीरको खूब मानते रहिये कि बस यह ही मैं हूँ, बस इस ही मान्यतासे आपको खूब शरीर मिलते रहेंगे। और अगर आपको जन्म न चाहिए, जन्म लेना पसंद नहीं है और आपके मनमें यह भाव हो कि मैं शरीरसे रहित केवल आत्मा ही रहूँ, अन्य पदार्थ भी तो अकेले अकेले ही हैं। निर्लेप धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य वगैरह तो इनकी भाँति मैं आत्मद्रव्य भी अकेला ही रहूँ, कोई संग न चाहिए, कुछ लेप न चाहिए, अगर ऐसी इच्छा है तो उसका उपाय यह है कि शरीरको हम (मैं) न मानें और शरीरसे निराला अपने को ज्ञानमात्र, चैतन्यमात्र मनन करें। दोनो ही बातें सामने रखी हैं। अब यह अपनी छटनी कर लें कि जन्म लेना पसंद है या जन्मसे हटकर केवल आत्मा रहना आपको पसंद है? यदि जन्म लेना पसंद है तो देखलो संसारमें ये ही सब तो जीव भरे हुए हैं—निगोदिया, अन्य एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पंचेन्द्रियमें तिर्यंच और नारकी देव, मनुष्य, ऐसे प्राणी होते रहना पसंद है, तो यह बात कोई विवेककी नहीं है। प्रभुभक्ति करके यह ही तो एक उमंग बढ़ाना है कि हे प्रभो, जैसे आप सर्व लेपसे रहित हो गए। हे सिद्ध भगवान जैसे आप शरीरसे सदाके लिए छूट गए। अब केवल निर्लेप ज्ञानपुञ्ज ही रह गए ऐसा ही मैं अपने आपको चाहता हूं, क्योंकि ऐसा हुए बिना आत्मकल्याण नहीं सो जन्म लेता रहूं यह बात रंच भी पसंद न कीजिए। किन्तु मैं जन्मरहित हो जाऊँ, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाऊं, बस यह भावना भरें।

(२९९) **अन्तः आशयके अनुसार उपलब्धि**—देखो भीतरकी लगनका फर्क होता है। जिसने यह भावना भरी उसके मोह कहाँ रहेगा। कैसे मान सकेगा कि ये पुत्रादिक मेरे हैं। यह मैं हूं यह बुद्धि उसके आ ही नहीं सकती। हाँ रहना है तो प्रेमका व्यवहार तो बनाये रखना पड़ेगा, क्योंकि मुझ समान ही ये भी चेतन हैं, मगर रागका व्यवहार बना कर भी ज्ञानीके निर्मोहता रहती है। तो हे प्रभु मैं देहरहित होना चाहता हूं, याने जन्मरहित होना चाहता हूं। देह और जन्मका बीज है कर्म। कर्मके उदय होते, देहका बंधन होता, यही परम्परा अनादिसे चली आयी है। तो भावना करे कि मैं कर्मसे रहित होना चाहता हूं। न मुझे शुभ कर्म चाहिये न अशुभ कर्म, न पुण्य चाहिये न पाप चाहिए, क्योंकि पुण्यकर्मके फलमें एक बार राजा, नेता, धनी बन जायें तो उसकी क्या गारन्टी है कि वह दुःखी न होगा या अगले भवमें उससे हीन पद पर न आयगा? बल्कि प्रायः यह होता है जिसके पुण्यका उदय है, धन वैभव मिला है तो उसका हृदय स्वच्छंद हो जाता है, विषयोंमें लग जाता है, मनमाने पाप करता है। यह पुण्यके उदयसे नहीं कर रहा, यह तो अपने वर्तमान भावोंके अनुसार कर रहा मगर ऐसी बात होने तो लगती है। तो इस पुण्यकी कोई गारंटी नहीं है कि पुण्य मिल गया तो उसका कल्याण होगा ही। इससे न पाप चाहें बल्कि उनसे हटनेका काम करें। उनसे हटनेका क्रम यह ही है कि पहले पाप भावोंको छोड़कर पुण्य भावोंमें आयें पर लक्ष्य अपना रखें शुद्धभावोंका तो बात बनेगी। यदि शुद्ध भावना हो जाय, अपने सहज स्वरूपका निर्णय हो जाय तो ये सब बातें आसान हो जाती हैं। तो हमें यह चाहिये कि जो ज्ञानी पुरुष हैं, सज्जन पुरुष हैं उनका सत्संग करें तो उनकी मुद्रासे, चेष्टासे हमें सन्मार्ग मिलेगा।

नैतच्छ्यामा चकितहरिणीलोचना कीरनाशा
मृद्वालापो कमलवदना पक्वबिंवाधरोष्ठी।
मध्ये क्षामा विपुलजघना कामिनी कांतरूपा
यन्निर्दोषं वितरति सुखं संगतिः सज्जनानां ॥४५१॥

(३००) **सत्संगतिसे निर्दोष सुखका लाभ**—सज्जन पुरुषोंकी संगति जिस निर्दोष

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सुखको प्रदान करती है वैसे सुखको दुनियावी लोगोंके द्वारा मानी गई कामिनी भी प्रदान नहीं करती। लौकिक जन सर्व पदार्थोंमें सर्वाधिक सुख देने वाली स्त्रीको माना है, और साहित्यकार अपने साहित्यमें उसकी प्रधानताका बड़े गौरवके साथ वर्णन करते हैं। किस प्रकार वर्णन करते हैं कि जो युवती जन हैं वे चकित हिरणीके समान चंचल नेत्र वाली हैं। नेत्रोंको जल्दी यहाँ वहाँ घुमायें ऐसी स्त्रियोंको उनकी सुन्दरता मानते हैं। कीरनाशा जिनकी नाक सुव की तरह है, उसका भाव यह है कि नासिकामें छिद्र सीधे यदि दिखें तो लोगोंको ग्लानि उत्पन्न होती तो ऐसी नाक जिसमें कि छिद्र दिखें नहीं वह तो तोतेकी होती है। साहित्यकार जिस-जिस ढंगमें स्त्रियोंकी सुन्दरताका वर्णन करते हैं लौकिक पुरुष भी उस उस ढंगमें उस सुन्दरताको निरखते हैं। ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ भी वह सुख नहीं प्रदान करतीं जो निर्दोष आल्हाद सज्जनों की संगतिसे प्राप्त होता है स्त्रियोंका वर्णन मृदु आलाप वाली सुन्दरता बतानेके लिए है। ये लौकिकजन भी उसीको ही अधिक प्रिय मानते हैं जो मधुर वचन बोलें। जिनका वदन कमल के समान कोमल हो। जैसे कमलके पत्ते कोमल होते हैं इसी तरह जिनका बदन भी कान्तिमय और कोमल हो ऐसी स्त्रियोंमें लौकिकजन सुन्दरता समझते हैं। जिनके ओंठ वक्र हों, बिम्ब-फलके समान लाल हों याने ललाई प्राकृतिक ओंठों पर पायी जाय वहाँ लौकिकजन सुन्दरता मानते हैं और साहित्यकार कवि भी उसी ढंगसे वर्णन करते हैं, जिनकी कमर मध्यमें अत्यन्त पतली हो और जंघा मोटे हों उस कामिनीको लौकिक जन सुखका कारण मानते हैं और अच्छे ढंगसे साहित्यकार भी वर्णन करते हैं, लेकिन ऐसी युवती स्त्रीजनोंसे उत्पन्न होने वाला सुख सदोष है। तत्काल भी खोटे परिणाम ही बनते हैं और कर्मबंध भी होता है। भविष्यमें उसका परिणाम खोटा भोगना पड़ता है। तो भले ही कुछ कल्पनामें लौकिकजन स्त्रियोंको सुखका कारण मानें लेकिन सुखका कारण नहीं हैं तत्काल भी और आगे भी क्षोभका कारण हैं लेकिन सज्जन पुरुषोंकी संगति तत्काल भी और भावीकालमें भी संतोष और आनन्दको प्रदान करने वाली होती है। अतः सत्संगति करना योग्य है और उसमें ही आत्मा अपने गुणोंको समृद्ध बना सकेगा।

यो नाक्षिप्य प्रवदति कथानाभ्यसूयां विधत्ते।
न स्तौति स्वं हसति न परं वक्ति नान्यस्य मर्म ॥
हंति क्रोधं स्थिरमति शमं प्रीति तो न व्ययीति।
संतः संतं व्यपगतमदं तं सदा वर्णयंति ॥४५२॥

(३०१) सज्जनपुरुषोंके आक्षेपकथन, ईर्ष्या व स्वप्रशंसाके भावकी असंभवता—सज्जन पुरुषोंका संग लाभदायक होता है यह प्रकरण इस ग्रन्थमें चल रहा है। तो वे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सज्जन पुरुष कौन होते उसका कुछ वर्णन इस छंदमें है। जो पुरुष कभी भी दूसरोंपर कटाक्ष न करें, आक्षेप न करें ऐसी उनकी व्यावहारिक प्रवृत्ति रहती है जिसके चित्तमें सर्व जीवोंका स्वरूप समाया है और जानते हैं कि जो भी त्रुटि है वह सब औपाधिक है। इनके स्वभावमें से यह त्रुटि नहीं आयी है ऐसा जो देखते हैं, जीवोंके स्वरूपकी दृष्टि रखते हैं ऐसे सत्पुरुष दूसरोंका कटाक्ष और आक्षेपके वचन कैसे बोल सकते हैं ? चित्तमें कषाय हो तो उसके कारण लोग आक्षेप भरी बातें बोला करते हैं। तो प्रथम परिचय यह है कि जिनकी वाणी दूसरोंके कटाक्ष और आक्षेप भरी नहीं होती। कोई दोष भी करता हो तो उसे जान तो जाते हैं, पर उस दोषको उसके स्वभावमें उत्पन्न नहीं करते। ज्ञानी पुरुषोंकी ऐसी रीति नीति होती। ज्ञानी पुरुष सज्जन पुरुष किसीके गुणोंमें दोषका आरोप नहीं करते। जिनको गुणोंमें रुचि होती है वे अन्यत्र भी गुणोका दर्शन करते हैं। रुचिके अनुसार लोगों की बाह्य प्रवृत्ति होती है। जैसे जिसका कलुषित हृदय है वह बाहर सबमें कलुषित ही कल्पना करता है, जिसकी गुणोंमें रुचि है, निर्मल चित्त है उसको बाहरमें प्रथम तो दोषके दर्शन ही नहीं होते। गुण और दोष सबमें मौजूद होते हैं, पर जिनकी गुणोंमें रुचि है उनकी गुणोंपर प्रधानतया दृष्टि रहती है। जिनके दोषोंमें रुचि हैं, दोषमय जिनका हृदय है उनको सब जगह दोष ही दोष दिखते हैं। जैसे जो स्वयं अवगुणसे भरा है, कहिये चोरी जैसी वृत्ति है वह दूसरोंपर किसी प्रकारकी शंका रखता है और झट उन्हें पहिचान भी लेता है, जिनकी गुणोंपर दृष्टि है उन्हें गुणोंके दर्शन होते हैं और उनमें प्रमोदभाव जगता है। ईर्ष्या अहंकार ये एक ऐसे दोष हैं कि जिनके कारण प्रकृति दुष्ट हो जाती है। तो जो सत्पुरुष हैं वे कभी कटाक्ष नहीं करते और किसीके गुणोंमें दोषका आरोप नहीं किया करते। जो जैसा है वैसा बाहरमें वे परख लेते हैं। सत्पुरुष कभी अपनी प्रशंसा और दूसरोंकी बुराई नहीं करते। ये तो नीच गोत्रका बंध करने वाले भाव हैं। अपनी प्रशंसाका भाव भी वे नहीं रखते। ऐसी सरलता उन सत्पुरुषोंमें होती है।

(३०२) **सत्पुरुषोंके सहजात्मस्वरूपकी धुन**—सत्पुरुषो में केवल जो एक उनका कर्तव्य है उसकी ही धुन होती है। वह कर्तव्य क्या है ? अपने आपको सहज स्वरूपमें देखनेका पौरुष होना। धर्मपालन वस्तुतः अपने आपको जैसा कि सहज सत्त्व है, स्वयं स्वरूप है उस रूपमें अपने आपको मानना व उसपर दृढ़ रहना और ऐसा ही निरन्तर जानते रहना यह है वास्तविक धर्मपालन। यह जिसने निर्णय कर लिया है वह पुरुष इस वृत्तिका पात्र रहे इसके लिए आगे बढ़ता है। चरणानुयोगके अनुसार व्रत, तप, संयम आदिक ग्रहण करता है ताकि हम अपने स्वभावदर्शनके पात्र बने रहें और समय समयपर यह दृष्टि करके अपना जीवन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सफल करें। मुख्य बात है अपने आपके सही स्वरूपको पहिचान लेना, यह जिसने नहीं किया वह भले ही थोड़ासा पुण्यबंध कर ले, लेकिन उसे मोक्षमार्ग नहीं मिलता। तो सर्व आरम्भ करके, पौरुष करके जैसे आत्माके सही स्वरूपका परिचय बने वह काम करिये। वह है ज्ञान। भेदविज्ञान। वस्तुस्वरूपका परिचय। निरखना क्या है कि मैं केवल चेतना मात्र हूं। मेरे सत्त्वमें दूसरेका सत्त्व मिल करके बना हो ऐसी बात नहीं है। जो भी सत् है वह स्वयं है, स्वयं पूर्ण है। किसीकी सत्ता अधूरी नहीं रहती। तो मैं जब सत् हूं तो वह वस्तुतः क्या हूं यह बात जिनके अनुभवमें आ जाती है उनको मोक्षमार्गका लाभ होता है।

(३०३) **अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति बिना गल्पवादका प्रवर्तन**—देहसे मैं न्यारा हूं ऐसी बात तो प्रायः सब बोलते हैं और थोड़ा इस पर विश्वास भी रखते हैं। जैसे कोई पुरुष गुजर गया तो सभी कहते हैं कि हंसा उड़ गया, मिट्टी रह गयी, इसको तो उन्होंने भी स्वीकार किया। देहसे न्यारा यह मैं आत्मतत्त्व हूं। भले ही विपर्ययरहित विधिसे नहीं जान पाया फिर भी साधारणतया सभी लोग इस बातको थोड़ा थोड़ा जानते हैं कि यह जीव देहसे निराला है। जरा इसी बातको वस्तुस्वरूपके परिचयके साथ और जाननेकी आवश्यकता है। यह देह क्या है? अनेक परमाणुओंका पिण्ड है, स्तम्भ है, रूप, रस, गंध, स्पर्शवान है। इसमें चैतन्यस्वरूप नहीं है। मूर्त कोई चेतन हो ही नहीं सकता, और मैं एक जाननहार आत्मतत्त्व हूं। बंधन है आज और वह बंधन भी विकट है। जब आराममें है तब भेदविज्ञानकी बात सब बोल लेंगे (आजकी स्थितिकी बात कह रहे) और कोई ज्वर हो, खांसी हो, श्वांस हो, कोई रोग हो, चोट हो, कोई वेदना आ जाय तो प्रयोगात्मक विधिसे अपने आपमें तको कि मैं अब भी भेदविज्ञानपर अमल कर पाता हूं कि नहीं। तो गप्प करना तो सबको आसान रहता है और गप्प सप्पमें ही विवाद हो जाया करता है। तब विवादात्मक विधिसे जितने क्षणका संकल्प हो उसकी प्रायः सारी समस्यायें सुलझ जाती हैं और ठीक विधिसे वे अपने स्वरूप तक पहुंच लेते हैं। आज ऐसा बन्धन है, पर स्वरूप देखो तो सबका अपना अपना जुदा-जुदा है। उसका अभ्यास नहीं है। अपने आपके एकत्वकी लगन नहीं है। पूरी तरहसे निर्णय भी नहीं किया है, अतएव ऐसी बातें गप्पोंमें आती हैं, पर प्रयोग रूपमें उत्तीर्ण नहीं हो पाते। तो जरूरत इस बातकी है कि मैं अपने आप स्वयं जैसा चैतन्यमात्र हूं उस प्रकारकी निरख करें।

(३०४) **अन्तस्तत्त्वकी अनुभूति होनेपर ही सहजात्मस्वरूपका वास्तविक परिचय**—मोह ममतासे अन्य पदार्थोंको मानना कि ये ही सब मैं हूं, ये मेरे हैं, रागद्वेषके जितने व्यवहार हैं, जितनी रागद्वेषकी भीतरी जागृतियां हैं उनसे तो अपनेको अलग कर सकते हैं अन्तर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में पर कुछ प्रयोगात्मक विधिसे हो तो अपने आपका स्पष्ट बोध हो। जैसे मिश्री मीठी है, ऐसा बारबार कहने पर भी जिसने मिश्री नहीं चखी है उसे उस मीठेपनकी बात भीतर उतरती नहीं है, मुखसे तो वह कह देगा, सुन रखा है, कुछ युक्तियाँ बताती है कि गन्ना इतना मीठा होता है, उसका रस निकाल लिया जाय तो वह और भी मीठा होता उसको पकाकर राब बना दिया जाय तो वह उससे अधिक मीठा होता, राबका गुड़ बना दिया जाय तो वह उससे अधिक मीठा, गुड़से शक्कर बना दी जाय तो वह और भी अधिक मीठा और फिर उस शक्करका मैल निकालकर मिश्री बना दिया जाय तो वह और भी मीठा, इस तरह कोई शब्दों द्वारा मिश्रीका खूब ज्ञान भी कर ले, शब्दोंसे बोल भी ले पर सही रूपसे मिश्रीके स्वादका निर्णय वह नहीं कर सकता। हाँ उसको मिश्रीकी एक डली खिला दी जाय तो वह मिश्रीका सही सही स्वाद समझ लेगा, जान लेगा। तो ऐसे ही आत्मस्वरूपकी बात कोई बहुत-बहुत सुन ले, मुखसे भी बोल ले फिर भी उसे आत्मस्वरूपका सही सही अनुभव नहीं हो पाता। आत्मस्वरूपके अनुभवका ढंग, आत्मकल्याणका ढंग तो बड़ी शान्तिका है। धीरताका है जब भीतर अपनेको सम्बोधन करें। अपने आपकी ओर उन्मुख हों, उसका प्रयोग करें। प्रयोग भी तब ही बनेगा जब कि कुछ आचरण सही हो।

(३०५) सदाचरण होनेपर सम्यक्त्वलाभकी संभवताका एक सिद्धान्तसे परिचय— करणानुयोगमें बताया है कि क्षायिकसम्यक्त्व कैसे होता। अन्य सम्यक्त्वकी भी विधि बतायी है। ७ प्रकृतियाँ जो इसके मिथ्या दर्शनके निमित्तभूत हैं उन प्रकृतियोंका क्षय होने पर सम्यक्त्व प्रकट होता है। तो उस प्रसंगमें यह बताया है ना कि जब करणलब्धि होती है तो उसके प्रसादसे सर्वप्रथम अनन्तानुबंधीका अन्तर करण, विसंयोजन व अनन्तानुबंधीसे हटनेकी बात आती है। अनन्तानुबंधीका क्षय हुए बाद यह जीव अन्तर्मुहूर्त विश्राम करता है, उसके पश्चात् दर्शनमोहका क्षय होता है। अनन्तानुबंधी चारित्रमोहकी प्रकृति है। यह विधि भी बतला रही है कि आचरणका अंश जगे बिना यह दर्शनमोहको साफ न कर पायगा और न अनुभव बन पायगा। तो अपने योग्य आचरणमें रहकर भीतर धुन बनाइये, मनन करिये अपने स्वरूपका। उसके प्रसादसे जो जैसा होना है ओटोमेटिक निमित्तनैमित्तिक योग में हो जायगा। कैसे कर्म दूर होते हैं, क्षीण होते हैं, क्या उनमें स्थिति बनती है वह सब आत्माके विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर होता रहेगा। अपना काम है अपने स्वरूपपर दृष्टि देना।

(३०६) विकारोंकी नैमित्तिकता व परभावताके परिचयका प्रथम लाभ—देखो जितने विकार होते हैं, जिन्हें कहते हैं परभाव, रागद्वेषादिक भाव, ये क्या जीवमें स्वभावतया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होते ? नहीं होते । हो रहे जीवके परिणमन, पर जीवोंमें स्वभावतया नहीं होते । रागद्वेष करनेका जीवका स्वभाव नहीं है । और हो सो जाते हैं । जैसे एक दर्पणमें किसी भी चीजका फोटो आते रहना क्या परके सान्निध्य बिना दर्पणके स्वभावसे ही होता है जिस वस्तुका सामने सान्निध्य होता है उसके अनुरूप वैसा दर्पणमें फोटो रूप परिणमन होता है । यह निमित्त नैमित्तिक भाव है, ऐसे ही मुझमें जो रागद्वेषादिक विकार जगते हैं वे पूर्वबद्ध कर्मके उदयका निमित्त पाकर ये जीवमें विकार परिणतियाँ बनती हैं, ऐसा सब लोग जानते हैं, मानते हैं, पर इस श्रद्धासे अपनेको लाभ क्या मिलता है ? पहला लाभ तो यह है कि जो एक यह त्रुटि बन रही है कि जितने ये बाहरी पदार्थ है रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द इनको लोग विकारका निमित्त कारण मान मानकर अहंकार और कायरता इन दो भावोंको बढ़ा रहे हैं । मैंने अमुक को सुख दिया । अमुकको दुःख दिया ऐसा मानकर वह अहंकार बढ़ा रहा है, मुझको अन्य जीवने सुख दिया, दुःख दिया ऐसा मानकर यह कायरता बढ़ा रहा है । तो निमित्त नैमित्तिक योग केवल जीवके विकारके प्रसंगमें कर्मके साथ है । जगतमें जो अन्य इतने पदार्थ हैं, इनके साथ नहीं है, इनको हम उपयोगमें लेते हैं, इन्हें आश्रयभूत बनाते हैं तो ये आरोपित निमित्त बन जाते हैं सो भी व्यक्त विकारके प्रसंगमें । आश्रयभूत का हम ध्यान न धरें और किसी प्रतिपक्षभावका हम प्रवर्तन करें, जैसे मानो भगवानके गुणोंके स्मरणमें लग रहे हैं व आत्माकी चर्चामें हम चल रहे हैं तो यद्यपि क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें निरन्तर उदयमें चल रही है पर आश्रय भूत हमने बाहरी पदार्थोंको नहीं बनाया और हम अपनी आत्मचर्चा, आत्मचर्यामें लग गए, तो वहाँ विकार अव्यक्त रहेगा । जिसे अबुद्धिपूर्वक कहते हैं, व्यक्त न हो पायगा, बुद्धिपूर्वक न बनेगा । व्यक्त विकार होता ही तब है जब कि आश्रयभूत पदार्थमें हमारा उपयोग जाय । तो जब हमने– कर्म-विपाक और विकारका ही निमित्त नैमित्तिक योग है, यह बात परख ली तो आश्रयभूत पदार्थोंसे हमारा अहंकार और कायरता बननेका एक दोष निकल गया । पहला लाभ तो यह है । अब निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका दूसरा लाभ सुनिये ।

(३०७) निमित्ति नैमित्तयोगके परिचयका द्वितीय लाभ—निमित्त नैमित्तिकयोगके परिचयका दूसरा लाभ यह है कि इस निमित्त नैमित्तिक योगके परिचयमें सहज स्वभावकी दृष्टि साथ पड़ी हुई है, यह स्वभावदृष्टि सुगमतया बन जाती है । यह विकार नैमित्तिक है मायने मेरा स्वरूप नहीं । ऐसा बोध करनेके साथ एकस्वभाव नजरमें आ रहा है । अगर स्वभाव दृष्टि नहीं है तो वह विकारको नैमित्तिक नहीं बोल सकता । उसकी दृष्टिमें है कि मैं केवल चैतन्यमात्र हूं । इस चैतन्यमात्रकी स्वभाववृत्तिमें रागद्वेष विकार नहीं हैं । ये आये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं, ऐसा ही कर्ममें भयंकर विस्फोट है वही झलक रहा है, यह नैमित्तिक है। परभाव शब्द का अर्थ है यह कि परका निमित्त पाकर होने वाला भाव। यहाँ परभावका यह अर्थ नहीं है कि पर पदार्थको उपयोगमें लेकर होने वाला भाव। उसे परभाव कह तो सकते हैं, किन्तु वह व्याप्य मात्र है और परकर्मका निमित्त पाकर होने वाला भाव परभाव है, यह व्यापक रूप है। अर्थात् जितने परभाव होते हैं वे सब किसी पर पदार्थको उपयोगमें लेकर नहीं होते कोई परभाव परपदार्थको उपयोगमें लेकर होते हैं। कोई परको उपयोगमें न लेने पर भी होता है जो परको उपयोगमें लेनेसे परभाव होते हैं वे कहलाते हैं व्यक्त, बुद्धिपूर्वक और परको उपयोगमें न लेने पर भी निमित्तनैमित्तिक योगवश जो विकार बनते हैं वे होते अव्यक्त, बुद्धिपूर्वक तो देखो ये परभाव बाह्यपदार्थका आलम्बन लिए बिना भी हो गए, यह एक ऐसी ओटोमेटिक बात है। तो जहाँ हमने यह जाना कि ये विकार भाव तो कर्मविपाक की छाया भर है, और इसे जीवने अपना लिया, यह अज्ञान है। तो ऐसा नैमित्तिकपना समझमें आते ही उसकी दृष्टिमें स्वभाव आ गया। यह मैं चैतन्यमात्र हूं और ये भाव नैमित्तिक हैं। तो देखिये एक लाभ यह हुआ कि सुगमतया स्वभावकी दृष्टि बन गई।

(३०८) **यथार्थ स्वलक्ष्य होनेपर परिणमनकी विशुद्धता**—भैया! चाहिये तो यही ना, विकारसे हटना, स्वभावमें उपयुक्त होना और एक यही लक्ष्य बनाइये इस लक्ष्यके होने पर फिर आपको सही सही सर्वत्र दर्शन होगा। उसका प्रयोजन है विकारसे हटना और स्वभावमें लगना। यदि भीतरमें यह प्रयोजन नहीं बनता है अपनी ईमानदारीके साथ कि सचमुच मुझे इस जन्म-मरणसे इस शरीरसे रहित होना ही है, ऐसा हुए बिना मेरा हित नहीं, उद्धार नहीं, ऐसी एक पक्की बात ठान लें; तब यह धुन बन जायगी कि मुझे तो अब इस शरीर और कर्मबंधनके मूलभूत इस विकारभावसे हटना है और अपने आपको स्वभाव मात्र अनुभवना है। तो जैसे विकारसे हटा जाय उस तरहसे ज्ञान बनेगा। जैसे स्वभावदृष्टि बने उस प्रकारसे ज्ञान बनेगा। तो मौलिक लाभ यह है और ऐसी बात जग जानेपर फिर जो व्यवहार बनना चाहिये योग्य वह योग्य व्यवहार बनने लगता है। ऐसे जीव दूसरोंपर क्या कटाक्ष करेंगे, दूसरोंकी क्या निन्दा करेंगे और अपनी क्या प्रशंसा करेंगे। प्रशंसा और निन्दाकी बातें शरीरके लगावके साथ रहा करती हैं। जैसे किसी ने निन्दा की, उसे सुनकर बुरा मानते तो क्यों बुरा मानते? इसलिए कि अभी इसको शरीरसे उपेक्षा नहीं है। मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। ऐसी दृष्टि होने पर कैसे यह भाव बनेगा कि इसने मेरी निन्दा की? यह मुझको देख ही नहीं रहा। जो मुझको नहीं देख रहा वह मेरी निन्दा कहाँ कर सकता और जो मुझको देख रहा वह मेरी निन्दा कैसे कर सकता? मैं हूं अमूर्त ज्ञानमात्र। यह बात न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निन्दकके परिचयमें है और न इस सुनने वालेके परिचयमें है तव यह झगड़ा बन गया कि इसने मेरी निन्दा की । तो ध्यानमें रखिये जितने उपद्रव मुझपर बीत रहे हैं वे सब उपद्रव इस शरीरके लगावमें बीत रहे हैं, यदि बड़ी सच्चाईके साथ अपने आपके सहज स्वरूपकी धुन बन जाय कि मैं तो यह हूँ और मुझे यह ही प्रकट होना है ऐसी वास्तविक धुन बन जाय तो उसकी कितनी ही आदतें जो खोटी थी वें निकल जायेंगी और जो अच्छी हैं वे बातें आ जाती हैं । पर एक बार ऐसी धुन बनना चाहिए अन्यथा हित न होगा ।

(३०६) सत्पुरुषोंकी उदात्त वृत्ति—सहजात्मस्वरूपकी प्रतीति प्राप्त कर लेने वाले पुरुष मौलिक सत्पुरुष कहलाते हैं और वे आत्मप्रशंसा और परनिन्दासे दूर रहते हैं। ये पुरुष कभी दूसरेके गूढ़ अभिप्रायको प्रकट नहीं करते किसीको मर्मभेदी वचन नहीं कहते बड़ा इनका उदात्त भाव हो जाता है । जितना हो सके दूसरोंका हित हो उसके लिए तो इनकी वृत्ति रहती है मगर किसीके अहितके लिए इनकी वृत्ति नहीं होती । ये सत्पुरुष क्रोधको सदा शान्त किया करते हैं । क्रोध किनके जगता है ? जिनको कि शरीरमें कुछ लगाव है । इसने मेरी प्रतिकूल बात कह दी, ऐसा सोचने वाले ने मेरा किसे कहा ? इस शरीरको । या शरीर धारीके लिए मेरा कहा है । जो निराला मेरा स्वरूप है उसको मेरा सोचता हुआ कोई दुःखी न होगा कि इसने मेरे प्रतिकूल बात कहा है । जो इसने कहा वह इसका परिणमन है । दूसरे के कल्याणकी वह इतनी तेज धुन बनाये रहता कि प्रतिकूलताकी बुराइयां अपनेमें लादे तो यह बात ज्ञानवृत्तिमें नहीं होती । कोई अगर उल्टा चलकर अपनी हठ चला रहा हो तो उस का खेद नहीं । जहाँ अनन्तानन्त जीव उल्टे हैं वैसे ही ये कुछ लोग भी उल्टे हो गये तो उस का क्या बुरा मानना ? कहीं तेजकमर कसकर धर्मका प्रसार करना ज्ञानीके मनमें नहीं होता। कमर कसी जाती है किसी त्रुटिके कारण। पर जैसे सभी आचार्योंने बहुत बहुत लिखा, उपदेश किया मगर कोई भीतरमें उन्होंने ऐसी कषाय नहीं बनायी कि वे लोगोंका इस इस तरहसे कमर कसकर कार्य करें । होता है । स्वयं जब उपकारमें चल रहे हैं, अपने आपके उद्धारमें चल रहे हैं तो सहज ही ऐसा वातावरण होता है कि लोग उससे लाभ ले लेते हैं । आत्मधुन अर्थात् सहज ज्ञानस्वरूप मैं हूं, इस प्रकारकी अपने आपकी दृढ भावना जहाँ जगती है वहाँ फिर कुछ नहीं समझाना पड़ता कि आपको किस किस तरहसे बात करना है । बोलना है ? वे सब बातें सहज ही आयेंगी । एक भीतरमें ज्ञानप्रकाश बने उसके प्रतापसे सारी बातें सही चलने लगती हैं ।

(३१०) प्रतिभा तर्कणा योग्यता हो जानेपर बुद्धिकी गतिशीलता—बुन्देलखण्डकी एक ऐसी घटना गुरु जी सुनाते थे, चाहे वह छत्रशाल राजाका किस्सा हो, कि उस बालकका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

छोटी ही उमरमें पिता वहाँका राजा था। तो उस राजाके गुजरनेके बाद जब तक उसकी संतान बालिग नहीं हो जाती थी तब तक उस राज्यकी संभाल उस राज्यके एजेन्ट लोग किया करते थे, सो जब तक वह बालक नाबालिग रहा तब तक उस राज्यको एजेन्ट लोग चलाते रहे ! धीरे धीरे वह बालक बड़ा हुआ तो उस राजमाताने एजेन्टोंसे अपील की कि मेरा बालक अब वालिग हो चुका है उसे राज्य दे दिया जाय। तो उस राज्यके साहबने एक तिथि निश्चित कर दी कि अमुक तिथिको उस बालकको हमारे पास भेज दो, पहले हम उसकी बुद्धिमानीकी परीक्षा लेंगे और यदि वह बालक राज्य चलाने योग्य जंचा तो जरूर उसे राज्य दे दिया जायगा। अब जिस तिथिको उस बालकको साहबके सम्मुख उपस्थित होना था उस तिथि तक उस राजमाताने अपने बेटेको बीसों बातें सिखा दी, बेटा यदि साहब यह पूछे तो यों जवाब देना, यह पूछे तो यों जवाब देना, पर बादमें वह बालक बोला और यदि इनमें से एक भी बात साहबने न पूछा तो ? ··· तो वह राज माता बोली बेटा अब मैं समझ गई कि तुम जरूर सही सही उत्तर देकर आवोगे। क्योंकि जब तुम्हारी बुद्धिमें यह तर्क पैदा हो गया कि यदि इन सब बातोंके अतिरिक्त अन्य कुछ पूछा तो क्या उत्तर देंगे। तो तुम जरूर उत्तर देकर आवोगे चाहे कुछ भी साहब पूछे। आखिर वह बालक उस निश्चित तिथिपर साहबके सम्मुख उपस्थित हुआ तो साहबने कुछ पूछा तो नहीं पर उस बालकके दोनो हाथ बड़े जोरसे पकड़ लिया और कहा देखो अब तुम कुछ नहीं कर सकते, मेरे आधीन हो गए ना ? तो वह बालक बोला—साहब आप क्या बात करते ? अरे आधीन हम हो गए कि आप। आप स्वयं हमारे आधीन बन गए न कि हम आपके आधीन बने। तो साहब ने पूछा कि हम कैसे तुम्हारे आधीन बने ? तो वह बालक बोला—देखो जब किसी लड़कीका विवाह होता है तो वहाँ लड़का उस लड़कीका केवल एक हाथ पकड़ लेता है भाँवर पड़ते समय तो वह उस लड़कीके आधीन जीवन भर रहता है याने जीवन भर उस लड़की की उसे रक्षा करनी पड़ती है, फिर आपने तो मेरे दोनों ही हाथ पकड़ लिए फिर मुझे अब क्या डर ? मैं तो पूर्ण रक्षित हो गया ···· इस प्रकारका तर्कणा पूर्ण उत्तर सुन कर साहब उस बालक पर अति प्रसन्न हुआ और उसे राज्य दे दिया। तो बात यहाँ यह बताया कि जब कोई एक प्रतिभा हो जाती है तब उसके लिए सब आसान हो जाता है। जिसको आत्मस्वरूपकी दृष्टि हो जाती है उसके मन वचन कायकी सब क्रियायें आसान बन जाती हैं। मूल स्वभाव तो यह है कि मेरेमें देह नहीं, कर्म नहीं, विकार नहीं, मैं तो वास्तवमें चैतन्यस्वरूपमात्र हूं। इस दृष्टिकी आवश्यकता है। फिर जितनी प्रवृत्तियाँ होती हैं करनी पड़ती है वे सब बाह्य प्रवृत्तियाँ बनती हैं। ये सज्जन पुरुष लोगोंके अपराधको क्षमा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करते हैं, उनमें भ्रान्ति स्थिर नहीं रखते हैं, कभी अहंकार नहीं करते। यह बात इस परमार्थ दृष्टिके प्रतापसे सहज ही बन जाती है। तो ऐसे कोई सत्पुरुष हों उनका संग, सेवनके योग्य है ताकि खुदमें गुणोंकी वृद्धि हो और कभी भी सन्मार्गसे भ्रष्ट न हो सकें।

धृत्वा धृत्वा ददति तरवः सप्रणामं फलानि
प्रायं प्रायं भुवनभृतये वादि वार्दा क्षिपंति।
हत्वा हत्वा वितरति हरिर्दंतिनः संश्रितेभ्यो
भो साधूनां भवति भुवने कोऽप्यपूर्वोऽत्र पंथा ॥४५३॥

(३११) सज्जनोंका फलवान वृक्ष व वारिदोंकी तरह उपकारशीलता—संसारमें साधुजनोंका उपकार करनेका मार्ग अपूर्व ही होता है। सज्जन पुरुष अपना स्वार्थ नहीं तकते किन्तु दूसरे पुरुषोंका भला हो ऐसी ही प्रवृत्ति करते हैं। जैसे वृक्ष अपने मतलबके बिना, उद्दण्डताके बिना घमंडसे रहित होकर, नम्र शाखाओंमें प्रवृत्त होकर, नम्र होकर फल देते हैं, कोई भी वृक्ष जब फलवान हो जाता है तो उसकी शाखायें झुक जाती हैं और लोगोंको मधुर फल वहांसे प्राप्त होते हैं, तो साहित्यकार अलंकारमें कहते हैं कि वृक्ष भी नम्र होकर दुनियाको अपना फल प्रदान करते हैं इसी प्रकार सज्जन पुरुष भी नम्र होकर दूसरोंका उपकार करते हैं। ऐसा भी नहीं है कि किसीका उपकार कर दें, कोई कार्य बना दें फिर उसपर एहसान बतायें या शान बतायें, ऐसा भी नहीं होता, किन्तु सज्जनोंकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि वे स्वभावतः नम्र भी होते हैं और दूसरोंका हित भी करते हैं। जैसे मेघ समुद्रसे जल खींच खींचकर अपनेमें भरकर पीछे लोगोंमें उस जलका वितरण कर देते हैं याने वर्षा कर देते हैं, जिस वर्षाका इतना बड़ा फल कि लोग अन्न पाते हैं और सुखसे जीते हैं, तो मेघोंका कितना बड़ा उपकार है। वे अपनेमें मानो कष्ट ही सह रहे हैं। समुद्रसे बड़ी गर्मी द्वारा भापसे पानीका खींचना, फिर जड़ होकर घन होकर आकाशमें यत्र तत्र डोलना। जब वे बादल आपसमें टकरा जाते हैं तो बड़ी गर्जना होती है, आघात होता है, ये सब बातें सह लेते हैं वे मेघ और दुनियाको वर्षा देकर, जल वर्षा कर अन्नादिक उत्पन्न करके सुखी करते हैं ऐसे ही सज्जन पुरुष कठिनसे कठिन परिश्रम उठाते हैं और दूसरोंका हित करनेका ही भाव रखते हैं।

इस छंदमें तीसरा एक लौकिक दृष्टान्त दिया है। जैसे सिंह अपने शरणमें आये हुए जीवोंको आहारकी सुविधा देता है और अन्य प्राणियोंको मारकर भी वहां उन्हें भोजन दे देता है तो इस दृष्टान्तके अनुसार सिर्फ यह ही बात समझना है कि सज्जन पुरुष भी दूसरेके उपकारके लिए अपनेमें कुछ थोड़ी बहुत मर्यादामें किसी कालमें कमी आ जाय तो भी वे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उनका उपकार करते हैं और वे कभी अपना उपकार करके एहसानका घमंड नहीं करते। तो सज्जन पुरुष दूसरोंके हितके लिये अपनी प्रियसे प्रिय वस्तुको भी प्रदान कर देते हैं ऐसे सज्जन पुरुष जिनके स्वार्थ नहीं लगा है। केवल दूसरोंके उपकारकी वृत्ति है और साथ ही जिनको अपने स्वरूपकी दृष्टि है जिन्होंने सर्व जीवोंको अपने समान समझ पाया है उन महा पुरुषोंका तो कहना ही क्या है? सो सत्पुरुषोंकी संगतिसे सन्मार्ग मिलता है, आदर्शकी आराधना होती है और सब क्षण शान्तिमें व्यतीत होते हैं।

वार्धेश्चंद्रः किमिह कुरुते नाकिमार्गस्थितोऽपि
वृद्धौ वृद्धिं श्रयति यदयं तस्य हानौ च हानिं।
अज्ञातो व भवति महतः कोप्यपूर्वस्वभावो
देहेनापि व्रजति तनुतां येन दृष्ट्वान्यदुःखं ॥४५४॥

(३११) **सज्जनोंका चन्द्रवत् सर्वसुखकारिता**—सज्जन पुरुष दूसरोंके दुःखको देखकर खुद भी दुःखी हो जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि सब जीवोंको अपने ही स्वरूपके समान भले प्रकार माना है, तब उनमें कोई दुःख होता है तो उसी प्रकारका स्वरूप तो खुदका है सो खुदमें भी वैसा ज्ञान होता है और तद् विषयक सहानुभूति बनने लगती है। सो ऐसे पुरुष दूसरोंके उपकारके लिए क्या क्या नहीं कर डालते? देखो आकाशमें हजारों कोशों की दूरी पर है चन्द्रमा, पर इतनी दूर रहता हुआ भी चन्द्रमा समुद्रका कितना उपकार कर देता है सो लोगोंको विदित ही है कि जब चन्द्रकी किरणोंमें वृद्धि होती है तो समुद्रकी वृद्धि होने लगती है, पर जब चंद्रकी कला ही घटने लगे तो बेचारा चंद्र क्या करे? वहाँ समुद्र भी घटने लगता है, पर चन्द्र उपकार तो सही है कि उसकी किरणोंका स्पर्श पाकर यह समुद्र वृद्धिको प्राप्त होता है, अथवा समुद्रकी ओरसे भी तो देखिये—समुद्रका कैसा उदार स्वभाव है कि चंद्रमाकी वृद्धिमें तो यह समुद्र बढ़ता है, फूला नहीं समाता और चंद्रकी हानिमें यह समुद्र भी घटने लगता है, उदास हो जाता है तो ऐसे ही सज्जन लोग भी दूसरोंकी वृद्धि और विभूतिकी उन्नति देखते हैं तो वे हर्ष मानते हैं और उनकी घटती अथवा अवनति दिखती है तो उसमें भी दुःख मानता है। तो सज्जन पुरुषोंकी प्रकृति भी ऐसी है कि संसारके जीवोंको वे सुखी ही देखना चाहते हैं। उनके हृदयमें सतत भावना है कि सर्व जीव सुखी हों, सर्व जीव निरोग हों। जीवोंको अपने स्वरूपका भान हो जिसके प्रतापसे वे सर्व जीव संकटोंसे दूर हो जाते हैं। तो ऐसी सद्भावना वाले सज्जनोंकी संगति आत्माका कल्याण करने वाली होती है।

सत्यां वाचं वदति कुरुते नात्मशंसान्यनिंदे
नो मात्सर्यं श्रयति तनुते नापकारं परेषां।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नो शप्तोपि व्रजसि विकृतिं नैति मन्युं कदाचित्-
केनाप्येतन्निगदितमहो चेष्टितं सज्जनस्य ॥ ४५५ ॥

(३१३) **सज्जन पुरुषोंकी सत्यवादिता, आत्मप्रशंसापरिहार परनिन्दापरित्यागका निर्देश**—सज्जन पुरुषोंकी चेष्टा अद्भुत होती है। सज्जन लोग सदा सत्य ही वाणी बोलते हैं। सत्य उसे कहते हैं जो हितकारी हो, परिमित हो, प्रिय हो, सबका भला करने वाली हो। तो सबका भला करने वाली वाणी वही हो पाती है जो वस्तुस्वरूपके अनुरूप हो और इसी कारण उसको सत्य वाणी कहते हैं। तो सज्जन पुरुष सदा सत्य वाणी ही बोलते हैं। सत्पुरुष कभी अपनी प्रशंसा नहीं करते। वे जानते हैं कि आत्मप्रशंसासे क्या होता ? संसार में देह कर्म और विकारके बंधनके बीच फंसा हुआ यह मैं प्रशंसा योग्य भी नहीं हूं और फिर प्रशंसा बिल्कुल व्यर्थकी चीज। किसको अपनी प्रशंसा बतलायें ? संसारके ये मनुष्य सब अपनी अपनी कषायके अनुसार अपनी अपनी दशायें भोग रहे हैं, स्वार्थको सिद्ध कर रहे हैं, छद्मस्थ हैं, संसारमें रुलने वाले हैं। इनको क्या अपनी प्रशंसा सुनाना ? अथवा प्रशंसा है ही क्या ? जब प्रशंसनीय आत्मा हो जाता है तो वहाँ विकार नहीं रहता। जब प्रशंसाका भाव रहता है तो निश्चित समझिये कि वह विकारी है, प्रशंसाके लायक रंच भी नहीं है। सर्व तत्त्वोंको स्पष्ट सही जानने वाले सज्जन पुरुष कभी भी अपनी प्रशंसा नहीं करते और किसी अन्य पुरुषकी निन्दा भी नहीं करते, क्योंकि अन्यकी निन्दा करनेसे क्या प्रयोजन है ? उससे क्या बढ़वारी होती ? बल्कि ईर्ष्या आदिक अवगुण जाहिर होते हैं। तो सज्जन पुरुष अन्य किसीकी निन्दा नहीं करते।

(३१४) **सज्जन पुरुषोंमें मात्सर्यादि अवगुणोंकी असंभवता**—जिन पुरुषोंकी संगति उपादेय है उन पुरुषोंका कुछ परिचय दिया जा रहा है। सज्जन पुरुष दूसरे लोगोंमें कभी मात्सर्य भाव नहीं रखते। मात्सर्यमें मात्सर्य करने वाले पुरुष दूसरोंके गुणोंको दोषरूप ठहरानेका प्रयत्न किया करते हैं। भले ही गुण हों मगर उन्हें दोषरूपमें ही साबित करने की आदत दुष्टजनोंके होती है। जो ज्ञानी पुरुष है जिन्होंने स्व और परपदार्थके स्वरूपका भले प्रकार निर्णय किया है, वे जानते हैं कि कोई जीव बड़ीसे बड़ी समृद्धि पाये, ऊँचासे ऊँचा विकास पाये तो उसमें वे खुशी मानते हैं, उनका विकास हो, उन्नति हो इसकी तो वे ज्ञानी पुरुष अनुमोदना करते हैं। जब ऐसी बात है तो फिर वे किसीके साधारण विकासमें ईर्ष्या कैसे कर सकते ? सज्जन पुरुष कभी भी दूसरेके गुणोंको दोषी ठहरानेका प्रयत्न नहीं करते संतजन कभी किसीको कैसा ही मानसिक, वाचनिक अथवा कायिक (शारीरिक) दुःख नहीं देते। सज्जनोंकी ऐसी ही, चेष्टा और अपने आपका ध्यान रहता है कि जिससे कभी दूसरों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को मानसिक व्यथा हो ही नहीं सकती। यदि कोई दुष्ट सज्जनको ही निरखकर दुःखी हुआ करे तो उसका कोई उपाय नहीं, किन्तु सज्जन पुरुषोंकी कोई वृत्ति ऐसी नहीं है जिससे दूसरे लोग मानसिक दुःख पायें। उनके वचन तो कभी खोटे निकलते ही नहीं। तो वाचनिक दुःख कैसे उनके द्वारा हो सकते हैं ? इसी प्रकार शारीरिक दुःख भी सज्जन पुरुषोंके द्वारा सम्भव नहीं हैं।

(३१५) **सज्जनपुरुषोंके किसी भी स्थितिमें परोपकारभावकी असंभवता**—सज्जन पुरुषोंका यदि कोई उपकृत पुरुष बिगाड़ भी कर दे तो भी वे अपने भीतर विकृत नहीं होते अर्थात् अपकार करने वालेसे बदला लेनेकी कभी मनमें भावना नहीं जगती, क्योंकि वे जानते हैं कि मुझको दुःखी करने वाला कोई दूसरा पदार्थ हो ही नहीं सकता। केवल अपने बांधे हुए कर्मोंके उदयका सान्निध्य पाकर ही ये दुःखी हुआ करते हैं। सो उन दुःखोंके लिए भी मैं कर्मोंको क्या जिम्मेदार ठहराऊँ ? वे कर्म भी तो मेरे परिणामके अनुसार ही बंधे हैं। अर्थात् जैसा मैंने किया था वैसा ही मैं आज भोग रहा हूं। इसमें किसी दूसरेको क्या करामात ? यह निर्णय उनके बड़ी दृढ़तासे बैठा हुआ है इस कारण सज्जन पुरुष कभी भी दूसरोंके द्वारा बिगाड़ होने पर भी कभी वे विकृत नहीं होते। संत पुरुष दुनियाके समस्त समागमोंको असार जान रहे हैं और इसी कारण किसी भी घटना पर उन्हें क्रोध नहीं जगता। समस्त बाह्य परिणमन हैं। जैसा जहाँ जिसका हो रहा है वह उसकी योग्यतासे चल रहा है, उस पर क्रोधका क्या अवकाश ? और इसी तरह शोक भी नहीं करते, कोई पदार्थ कैसा ही परिणमें उससे मेरेको क्या हानि ? तो सज्जन पुरुष क्रोध अथवा शोकको प्राप्त नहीं होते और सदा प्रसन्न मुख ही बने रहते हैं, इसलिए सज्जन पुरुषोंका एक विलक्षण उदारता पूर्ण ही समस्त व्यवहार होता है। ऐसे सज्जनोंकी संगतिमें जो पुरुष रहते हैं वे संतोष शान्ति और सन्मार्गपर गमन करने वाले होते हैं।

नश्यत्तंद्रो भुवनभवनोद्भूततत्त्वप्रदर्शी
सम्यग्मार्गप्रकटनपरो ध्वस्तदोषाकरश्रीः।
पुष्पत्पद्मो गलिततिमिरो दत्तमित्रप्रतापो
राजतेजा दिवससदृशः सज्जनो भाति लोके ॥४५६॥

(३१६) **सत्पुरुषोंकी निष्प्रमादता**—एक पुराने भजनकी टेक है—धनि धनि साधु मिलनकी घड़ी। साधर्मी जनोंके समागम की घड़ीको धन्यवाद किया है। जगतमें अनेक चीजें मिलना सुलभ है पर साधर्मी पुरुषोंका सत्संग मिलना बड़ा दुर्लभ है और इस मनुष्य का उद्धार सत्संगके बिना नहीं हो पाता। पुराने चरित्र देख लो—किसको कहाँ क्या सत्संग

Report any errors at vikasnd@gmail.com

मिला। कैसे उसका उद्धार हुआ। यह सब चरित्र आपको मिलेगा। इस समय भी देखलो जो जिस संगमें रहता है उसकी वैसी बुद्धि बन जाती है। तब यह आवश्यक है कि हम आप सबको सज्जनोंका सत्संग अधिक प्राप्त हो ताकि इस पाये हुए मनुष्यजन्मकी सफलता हो। उन्हीं सज्जनोंका इसमें स्वरूप बताया जा रहा है। ये सज्जन पुरुष इस लोकमें दिनके समान शोभित होते हैं याने लौकिक दृष्टिमें, जो दिनमें गुण मिलते हैं वैसे ही गुण सज्जन पुरुषोंमें होते हैं। कैसे कि विवश होते हैं। नश्यत्तंद्रो मायने जब दिन होता है तो आलस्य दूर हो जाता है, यह सब लोग जानते हैं। जब रात रहती है तो लोग प्रमादमें और आलस्यमें रहते हैं। जब रात्रि समाप्त होती है तब लोगोंका आलस्य स्वयं छूट जाता है। लोग जगते हैं, मुख धोते हैं, नहाते हैं। तो ऐसे ही सज्जन पुरुषोंकी तंद्रा नष्ट हो गई, उन्हें भी आलस्य नहीं, प्रमाद नहीं। प्रमाद नाम किसका? जो मोक्षमार्गमें बाधक हो उस भावका नाम है प्रमाद। कोई पुरुष बड़ी वीरता जताये कि मुझे आलस्य नहीं है तो उसका वह केवल कहना मात्र है। आलस्य वहाँ न कहेंगे जहाँ परिणामोंमें निर्मलता हो, जिससे मोक्षमार्ग बने, क्योंकि जगतमें कोई भी वस्तु सारभूत नहीं है।

(३१७) **असारसमागमोंसे व्यामोह दूर कर दुर्लभ नरपर्यायको सफल करनेका संदेश**—भैया, खूब सोच लो, जहाँ आपका मन हो उस बातका विचार कर लो। क्या यह धन वैभव सदा मेरे काम आयगा? अरे अब भी काम नहीं आ रहा आत्माके तो आगे क्या काम आयगा? यह कुटुम्ब मित्रजनोंका समागम मेरेको शरण है क्या? ये अनेक सुखसाधन इनसे शान्ति किसीको मिली है क्या? बड़े-बड़े धनिक पुरुषोंसे भी पूछ लो कि धन होनेसे आपको तो बड़ी शान्ति हुई होगी?....तो वह यही कहेगा कि शान्ति तो नहीं मिली हाँ कुछ काल्पनिक मौज भर माना गया। तो जगतमें कोई भी समागम ऐसा नहीं है कि जिसमें शांति उत्पन्न हो सके। प्रथम बात तो यह ही देख लो—यह जो शरीर लग बैठा जीवोंके साथ भिन्न सत्ता होनेपर भी अनादिसे धारा चली आ रही है सूक्ष्म शरीरकी और उसीके कारण सूक्ष्म शरीर भी साथ लगा है, तो यह ही बड़ी विपत्ति है। सारे कष्ट इस शरीरके सम्बन्धसे हैं। और की तो बात क्या कही जाय, ऐसे भयानक इस संसारबनमें आलस्य करनेसे अर्थात् धर्मसे दूर रहनेसे क्या लाभ है? हानि ही है। बहुत कालमें आज यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया है। यहाँ बताया गया है कि असंख्यात कालके बाद कभी किसीको दो हजार सागर तक ही त्रस पर्याय मिलती है और त्रस पर्यायमें दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, नारकी, पशु पक्षी, देव, मनुष्य आदिक सभी प्रकारकी पर्यायें हैं। ये दो हजार सागर अगर व्यतीत हो जायेंगे इस मनुष्य पर्यायके साथ या थोड़ा बहुत कम होगा तो अन्य पर्यायके साथ, तो

http://sahjanandvarnishastra.org/

फल क्या होगा ? स्थावरमें ही जन्म होगा, पेड़, पृथ्वी, आग, हवा, फल फूल आदिक बनना पड़ेगा। फिर उद्धारका मार्ग कहाँसे मिलेगा ? तो यह मनुष्यभव बड़ा दुर्लभ है, यह विषयोंमें खोनेके लिए नहीं है। आज पुण्यका उदय है, सुख साधन प्राप्त हैं, शरीरकी स्थिति भी सबल है, तो इस समय कोई यदि यह सोचे कि खूब विषयसाधन करें, खूब सुख लूटें और वह विषयोंमें मस्त रहे तो अन्तमें उसे बहुत पछताना पड़ता है। जितना समय रह गया उतने समय ही चेत लीजिए। बहुत समय निकल गया। थोड़ीसी आयु रह गई, अब रही सही आयुमें यदि मोह किया, अज्ञान रहा, आत्मस्वभावकी दृष्टिके लिए न चले तब यह भव ऐसा ही खो दिया समझियेगा। अब जीवनका रहा सहा समय तो धर्मदृष्टिमें लगाना चाहिये। तो जो ज्ञानी पुरुष हैं, जिन्होंने आत्मस्वरूपका परिचय पाया है वे पुरुष मोक्षमार्गमें प्रमाद नहीं करते।

(३१८) सत्पुरुषों द्वारा सन्मार्गप्रकाश व उनके गुणप्रकाशसे दोषाकर जनोंकी शोभा का ध्वंस—सत्पुरुष सूर्यकी तरह इस लोकभवनमें रहने वाले पदार्थोंका सही प्रकाश करते हैं। सूर्यका उदय होता है, सब चीजें प्रकाशमें आ जाती हैं। तो सज्जन पुरुष भी ऐसे ज्ञानी होते हैं कि परोक्षज्ञानसे या कुछ प्रत्यक्षज्ञानसे वे समस्त लोक और पदार्थोंको जान लेते हैं। और देखिये प्रयोजनकी बात तो इतनी है कि मैं जीव हूं, चैतन्यस्वरूप वाला हूं और मेरे ही समान अनन्त जीव भी चैतन्यस्वरूप वाले हैं पर मेरी सत्तासे जुदे हैं, और जितने भी पुद्गल हैं सभी पुद्गल मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, सभी पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, ऐसा एक भेद-विज्ञान बने तो इसमें सारा जान लिया। जो कुछ समझना था वह सब परख लिया, क्योंकि बहुतको जानना इसीलिए होता है कि मैं अपने स्वभावको समझ लूं। अपने सत्को जान लूं। तो जिसने आत्मस्वरूपको जाना उसने सब जान लिया समझिये। अन्य विशेष जाननेसे क्या प्रयोजन रहा ? तो सत्पुरुष वास्तविक तत्त्वमें जाननहार होते हैं। जैसे—सूर्य सही मार्गके प्रकट करनेमें तत्पर होता है ऐसे ही ये सज्जन सही मार्गके प्रकट करनेमें तत्पर हैं। सही मार्ग क्या ? ज्ञाताद्रष्टा रहना, विकल्प त्यागना यह ही सही मार्ग है। सो इसको प्रकट करते ही हैं। वस्तुस्वरूप जानकर यह ही तो अवधारण किया जाता है कि मैं आत्मा स्वयं-स्वभावतः ज्ञानानन्दमय हूं, मैं किस स्वरूपसे रचा हूं, जैसे ये दिखने वाले पदार्थ हैं तो ये रूप, रस, गंध, स्पर्शसे बने हुये हैं, स्पष्ट मालूम होते हैं ऐसे ही यह आत्मा किस रूपसे रचा हुआ है वह भी तो अंतः परखिये। यह है ज्ञान और आनन्दसे रचा हुआ। दुःख बनाया जाता है आनन्द स्वयमेव होता है। जब कि आज लोग इस बातको तरसते हैं कि हमें आनन्द चाहिये। आनंद बने। तो बननेकी चीज आनन्द नहीं होती। क्लेश है बनावटकी चीज। किन किन आश्रय-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

भूतोंपर दृष्टि दी, किन किन साधनोंपर मोह ममत्व कर रहे, दुःख ही बन रहे । सही ढंगसे चलें, यथार्थ श्रद्धा रखें, आनन्द अपने आप है । तो ये सज्जन पुरुष सही मार्गके प्रकट करनेमें तत्पर होते हैं । जैसे सूर्य चन्द्रकी शोभाको नष्ट कर देता है । सूर्यके उदयकालमें दिनमें कभी चंद्र भी आकाशमें रहता है पर उसकी शोभा तो नहीं रहती, ऐसे ही ये सज्जन पुरुष दोषाकरके अर्थात् दोषोंकी खान दुर्जन पुरुषोंकी शोभाको ध्वस्त कर देते हैं याने लोकमें सज्जनोंकी ही शोभा है उनके सामने दुर्जनोंकी शोभा नहीं है ।

(३१९) आत्मविकासके उपाय सत्याग्रह व असहयोग—सत्पुरुषोंके गुणविकास कैसे बना कि उन्होंने अपने उस स्वरूपको पहिचाना जिस स्वरूपकी पहिचानपर आत्माका विकास होता रहता है । स्वरूप क्या है ? ज्ञानप्रकाश जाननमात्र । अन्य विकल्पोंको हटाकर केवल ज्ञान ज्योति मात्र ही तत्त्वज्ञानमें रखें तो वह प्रकाश, वह अनुभव अपने आप बन जायगा । देखो आत्मा तक पहुंचनेके या आत्माकी आजादी पानेके दो उपाय हैं—सत्याग्रह और (२) असहयोग । जैसे भारत देशको आजाद करनेके लिए ये दो ही उपाय अपनाये गए थे ना—सत्याग्रह और असहयोग, क्या किया था नेताओंने असहयोगमें कि विदेशी मालको न खरीदना, बल्कि यहाँ तक आन्दोलन किया था कि कोई विदेशी टोपी लगाये हो तो उस की टोपी लेकर टोपीको जला देना, यह तो था उनका असहयोग और सत्याग्रहमें क्या किया था कि हमारे देशकी उपज देशकी चीज यह हमारे प्रयोगकी चीज है । उपयोगकी चीज है, इस पर प्रतिबन्ध न होना । जैसे नमक बनाना आदिक कामोंमें प्रतिबंध था उनको तोड़ा । जिनकी बड़ी उम्र होगी वे सब लोग इस बातको भली भाँति जानते ही होंगे । तो असहयोग और सत्याग्रह इन दो के बलपर जैसे भारतदेशकी आजादी प्राप्त की थी ऐसे ही आत्माकी वास्तविक आजादी भी इन दो उपायोंसे प्राप्त की जा सकती है असहयोग और सत्याग्रह । विदेशी तत्त्वोंसे याने नैमित्तिक तत्त्वोंसे, बाह्य पदार्थोंसे और रागद्वेषादिक परभावोंसे उपेक्षा रखना उन्हें न अपनाना, उनमें लगाव न रखना, यह तो करें असहयोग और सत्याग्रहमें क्या करें कि आत्माका जो सहज स्वरूप है चैतन्यमात्र, उसका आग्रह करें । मैं यह हूं चैतन्य स्वरूप मैं अन्य कुछ नहीं हूँ । मैं मनुष्य नहीं, मैं त्यागी नहीं, मैं गृहस्थ नहीं, व्यापारी नहीं कुटुम्ब वाला नहीं, अमुक गाँव वाला नहीं, यों आप सारी बातें लगाते जाइये, ये कुछ भी मैं नहीं हूँ । मैं तो एक चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ । एक द्रव्य हूँ ना, सत् हूँ ना । तो मैं केवल चैतन्यस्वरूप हूँ । अन्य चीजोंको भुला दीजिये, और अपने आपका जो सत्यस्वरूप है उसका आग्रह करिये । तो ये दो उपाय ऐसे हैं सत्याग्रह और असहयोगके कि हम अपने आत्माकी आजादी प्राप्त कर सकते हैं । यह ही किया, अन्य सब संतोंने, तीर्थंकरोंने जिनकी आज हम

भक्ति भावसे पूजा करते हैं।

(३२०) **प्रभुताका साधन व प्रताप**—प्रभुको पूजनेका क्या प्रयोजन है, जरा प्रयोजन भी तो अपना निर्णीत करें। ये सुख देंगे, नरकसे बचा देंगे, स्वर्गमें पहुंचा देंगे या कुटुम्ब को बढ़ा देंगे या दूकान चला देंगे, इस प्रयोजनसे क्या प्रभुकी भक्ति करने आया करते हैं? यदि यह प्रयोजन भी सिद्ध न होगा और आपका परिश्रम भी व्यर्थ जायगा, क्योंकि खोटा प्रयोजन रखनेसे पुण्यरस भी नहीं बनता और कदाचित कुछ हो भी जाय तो यह पूर्वबद्ध पुण्य के उदयसे हुआ। तो अपना प्रयोजन क्या रखें कि हे प्रभो! तुम भी कभी मुझ जैसे ही संसारी प्राणी थे जितने भी सिद्ध हुए उन सब सिद्धोंने पहले निगोद अवस्था भोगा था इतना तो निश्चित है। अन्य पर्यायमें क्या भोगा क्या नहीं भोगा, भले ही कुछ कम बढ़ बात हो मगर सबने निगोद पर्याय तो भोगा था। निगोदसे निकलकर मनुष्यपर्याय पाया। तो मनुष्य पर्यायमें यह ही विवेक किया, यही तपश्चरण किया असहयोग और सत्याग्रह। देह मैं नहीं, यह स्थूल पौद्गलिक है। कर्म मैं नहीं, ये सूक्ष्म पौद्गलिक है। विकार मैं नहीं। ये औपाधिक नैमित्तिक हैं, परभाव हैं। मैं तो केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। तो ये मैं नहीं, ये परभाव मैं नहीं। ऐसा जानकर उनका सहयोग न रखें, उनमें उपयोगको न फंसाया जाय यह तो है असहयोग और मैं आत्मा एक चेतना मात्र हूँ। यह सत्य बात है, परमार्थ सत्य है, अनादि अनन्त सत्य है। उस चैतन्यस्वरूपका आग्रह होना चाहिए कि मैं यह हूँ। ये दो उपाय तो अपनाइये, फिर आपके अणुव्रत, महाव्रत, ध्यान, तपश्चरण आदिक साधनायें होती जायेंगे। और आप मोक्षमार्गमें बढ़ते जायेंगे। तो ये सज्जन पुरुष अपने आपके इस ही सन्मार्गको प्रकट करने वाले हैं और समस्त दोषोंको दूर करने वाले हैं। ऐसे सत्पुरुषों का संग करना चाहिए। सत्पुरुषोंका एक सीधा लक्षण यह मिलेगा जो देखनेमें अनुमानमें आये कि संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त रहेंगे। उनकी कुछ प्रवृत्तिसे, उनकी वाणीसे, उनके व्यवहारसे यह समझमें आ जायगा कि यह रागद्वेषादिकका झगड़ा रगड़ा इनसे अलग हैं, ये विषय भोगोंसे दूर रहते हैं। ये अपने शरीरमें ममत्व नहीं रखते, यह बात उस संगसे समझ में आ जाती है। यह सत्पुरुषोंकी एक मौलिक पहिचान है।

(३२१) **सत्पुरुषोंकी पुष्यत्पद्मता**—ये पुरुष सूर्यके समान पुष्यत्पद्म अर्थात् जैसे सूर्य के उदयसे पद्म पुष्ट हो जाते हैं, कमल फूल जाते हैं, विकसित हो जाते हैं ऐसे ही इन सज्जन पुरुषोंके संगसे इनकी पद्मा कहो विभूत, लक्ष्मी, शोभा, कान्ति, लौकिक सिद्धि ऐश्वर्य ये सब पुष्ट हो जाते हैं। देखिये ऊँचासे ऊँचा पुण्य कौन बांध सकता है? पुण्यमें ही चलें और यही निरीक्षण करें कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके जितना उच्च पुण्यबंध हो सकता है उतना अज्ञानी

http://www.jainkosh.org

मिथ्यादृष्टिके नहीं हो सकता। और यह खासियत देखिये कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुण्यको चाहते नहीं, उस पुण्यमें उनका मन नहीं रमता फिर भी रहे सहे भावके कारण ऐसा पुण्यबंध होता है जैसा कि अज्ञानीके नहीं हो सकता। तो यहाँ एक बातपर दृष्टि दें कि मिनिस्टरके साथ रहने वाला कोई चपरासी, सिपाही या राष्ट्रपतिके साथ या राजाके साथ कोई पहरेदार, चपरासी हो तो वह भी कितना प्रभाव वाला होता है। सब लोग वहाँ नहीं फटक पाते हैं। उनका भी कुछ आन मानते हैं, तो उस सिपाहीमें, उस राजाके साथ रहनेके कारण इतना प्रभाव बनता हैं तो ऐसे ही समझिये कि वैराग्यभूमि तो राजा है, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन उसका धनी, उस आत्माके जो राग शेष रह गए उस राग चपरासीमें जो इतना प्रभाव आया है सो ज्ञानी आत्माके संगसे प्रभाव आया। तो सज्जन पुरुष पुण्यंतपस्य होते अर्थात् इनकी सम्पत्ति लक्ष्मी ऐश्वर्य पुष्ट होते हैं। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदिक जैसे बड़े-बड़े पद ये सम्यग्दृष्टिको ही प्राप्त हो पाते हैं। भले ही नारायण प्रतिनारायण उस भवमें सम्यग्दृष्टि नहीं रहे, मगर ऐसे पदका बंध उन्होंने किया था पूर्वभवमें मुनि होकर, शुद्ध ज्ञानी होकर, उस तपश्चरणके साथ भले ही थोड़ी गल्ती रही जिससे निर्वाण न हो सका मगर संसारकी बड़ीसे बड़ी विभूतियाँ शुद्ध श्रेष्ठ आत्मावोंको प्राप्त होती हैं।

(३२२) **सत्पुरुषोंका अज्ञानान्धकारापहरण**—ये सत्पुरुष सूर्यके समान अंधकारके नष्ट करने वाले हैं। यहाँ अज्ञानभाव नहीं रहता। जैसे सूर्यके उदयमें अंधेरा नहीं रहता ऐसे ही ज्ञानियोंके कोई अंधेरा नहीं रहता। सारी बात स्पष्ट रहती है, जीव क्या, अजीव क्या, तत्त्व क्या ? यह सब उनके स्पष्ट रहता है। देखिये धर्मकी भावना है सबके मगर क्या चाहते हैं अनेक लोग कि मेरे ऐसा हो तो आलस्य रहे और कुछ परिश्रम न करना पड़े, न ज्ञान सीखना पड़े, न तत्त्वज्ञानमें उपयोग देना पड़े और हमको धर्मलाभ होता रहे। तो ऐसे धर्मलाभ नहीं होता। इस पायी हुई प्रतिभाको, बुद्धिको आप उपयोगमें लीजिए। जीवादिक ७ तत्त्वोंका ही जिनको परिचय न हो उनको क्या कहा जाय ? चाहे निश्चयतया सम्यग्दर्शन नहीं है मगर व्यवहारसम्यक्त्व जो कि निश्चयसम्यक्त्वका हेतु बनता है वह कुछ होना ही चाहिए। ७ तत्त्वोंका परिचय यह प्रत्येक भाईको हो तो ये कुछ धर्ममार्गमें आगे प्रगति कर सके। तो ७ तत्त्व क्या हैं ? मैं जीव हूं, देह अजीव हैं, कर्म अजीव है और कर्मोंका उदय पाकर जो भाव जगते हैं विकार वे भी चेतनासे रहित हैं। मैं चैतन्यस्वरूप हूं। जीव और अजीवका ज्ञान किया। जब यह जीव रागद्वेष विकार भाव करता है, यह अजीव ये कार्माणवर्गणा, ये कर्मरूप धारण कर लेते हैं तो जीवके साथ इन कर्मोंका एक क्षेत्रावगाह होता है। आना और बँधना यह ही आश्रव बंध है। जब जीव अपने ज्ञान वैराग्यकी सम्हाल करता है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अपने स्वरूपकी दृष्टि करता है तो कर्म बँधना बंद हो जाता है । वे बहुत कम रह जाते हैं । उनके बंधका रुकना यह हुआ सम्वर और इसी ज्ञान और वैराग्यके प्रतापसे पहले बँधे हुए संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है । सम्वर और निर्जरा होते जायेंगे इस ज्ञान और वैराग्यके प्रसादसे तो मोक्ष हो जाता है । जीवका हित मोक्षमें है, जहाँ रंच भी आकुलता नहीं है । आकुलता संसार है और निराकुलता एक मुक्ति है । जहाँ पूर्ण निराकुलता है उसे मोक्ष कहते हैं । एक ऐसी कथासी है कि एक भाई भगवानके आगे बहुत बहुत कहा करते थे कि हे भगवान मुझे मोक्ष दीजिए । मैं मोक्ष ही चाहता हूं, अन्य कुछ नहीं चाहता । तो मानो किसी देवने आकर उसकी परीक्षा की । देव बोला—भाई चलो मोक्ष, हम तुम्हें वहाँ लेनेके लिए आये हैं । तो वह पुरुष बोला—पहले यह तो बताओ कि वहाँ स्त्री, पुत्र, मकान, चाय, लड्डू हलुवा आदि सब चीजें मिलेंगी कि नहीं ? तो वह देव बोला—भाई वहां ये कोई चीजें नहीं मिलेंगी, वहाँ तो तुम सिर्फ आत्मा ही आत्मा रहोगे । तो वह पुरुष बोला—तो फिर हमें ऐसा मोक्ष न चाहिये । अभी आप जावो, फिर कभी आगे देखा जायगा ।.... तो जब तक यह भीतरमें तीव्र भावना नहीं बनती कि मुझे तो केवल चैतन्यमात्र आत्मा ही रहना है । शरीर और कर्मका मेरेको लेप और सम्बंध न चाहिये । ऐसा जब तक पक्का निर्णय नहीं बनता तब तक वह धुन नहीं आ पाती, जिसमें धर्म बनता है, मोक्षमार्गकी प्रगति होती है । एक यह ही निर्णय कर लेना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है । मुझे शरीरका सम्बन्ध न चाहिए । मुझे केवल जैसा मैं हूं वैसा ही रहना चाहिए । यह निर्णय बने तो वहाँ धर्मकी प्रगति है ।

(३२३) **सत्पुरुषोंका प्रताप और तेज**—ज्ञानी सत्पुरुषोंका सर्व प्रकारका अज्ञान अंधकार हट गया अतः उनके संसर्गसे मित्र जनोंका भी प्रताप बढ़ता है, सत्संगसे दूसरोंकी भी प्रगति होती है । जैसे सूर्यके उदयमें अनेक पदार्थोंका प्रताप बढ़ता है सूर्य अपने तेजसे शोभायमान होता है । ऐसे ही ये ज्ञानी सत्पुरुष अपने तेजसे शोभायमान होते हैं । तेज क्या ? अपना शुद्ध ज्ञान । आनन्द शुद्ध ज्ञानमें है, कल्पनामें आनन्द नहीं । किसी बाह्य पदार्थको अपनानेमें ममता करनेमें आनन्द नहीं है । आनन्दस्वरूप तो यह आत्मा स्वयं है । अन्य दार्शनिक कहते हैं—आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, यही बात तो यहाँ भी है । वहाँ जरा एकान्त कर लिया गया और यहाँ उसके साथ ज्ञान भी माना गया । सभी अनन्त गुण माने गए, यहाँ एकान्त नहीं है, पर प्रयोजनकी दृष्टिसे तो आनंद मुख्य चीज है । तो आनंद तो मेरा स्वयंका स्वरूप है । ज्ञान जगे तो आनन्द भी बढ़े, पर बाह्य पदार्थोंका लगाव लगेगा तो आनन्द घटेगा और दुःख बनेगा । यदि एक ज्ञानका प्रकाश आ जाय तो समझिये कि बहुत बड़ी विभूति है । "धन कन कंचन राजसुख सबहि सुलभ कर जान, दुर्लभ है संसारमें एक यथारथ ज्ञान ।" यदि यथार्थ ज्ञान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो गया तो संसारमें फिर रुलता क्यों ? वह तो सर्व संकटोंसे छूट जाता । तो हमें यथार्थ ज्ञानका प्रयत्न करना चाहिए, और बाहरी बातोंका अधिक विकल्प न रखना चाहिए जैसे कि सम्मान किया, अपमान किया, निन्दा किया, प्रशंसा किया…, अरे ये सब मायामयी चीजें हैं, ये कोई मेरेको तार न देंगे, किन्तु मेरे स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो तो वह ही मुझे तार देगा इसलिए एक यह ही भावना होनी चाहिए कि मेरेको यथार्थ स्वरूपका ज्ञान जगे, तो ये सत्पुरुष इस लोकमें प्रतापी सूर्यकी तरह शोभायमान होते हैं, और ऐसे सत्पुरुषोंका संग कल्याण का उपाय है । इस बातकी बहुत दृष्टि रखना चाहिए ।

(३२४) **सत्संगका प्रभाव**—लोग कहते कि मेरा चित्त स्थिर नहीं रहता । पूजा पाठ भी करने आये । गुरुवोंके पास बैठकर उनकी वाणी भी सुनते, और और भी अनेक उपाय करते पर चित्त क्यों नहीं स्थिर रहता ? तो भाई देख लो इस जीवनमें कुसंग कितने समय तक रहता है ? दुकानमें, घरमें, परदेशमें, मोही ज्ञानी जनोंके संगमें कितना अधिक समय बीतता है और निर्मोह पुरुषोंका, सत्पुरुषोंका कितना संग आप करते हैं जरा इस पर भी तो विचार कीजिए । तो जिनमें उपयोग अधिक फंसा रहता है उनका प्रभाव तो रहेगा ही । तो सत्संगमें अपना अधिकाधिक समय लगे, ऐसा प्रयत्न बनाना चाहिए और ऐसी भावना रखना चाहिये कि निर्मोह पुरुष, साधुसंत पुरुष मेरे सच्चे बंधु हैं जो मेरेको संसारसे उद्धार करनेका उपाय लगायेंगे या उनके संगसे उद्धारका उपाय बनेगा । धर्मात्मा जनोंको अपने कुटुम्बके प्रेमसे भी अधिक साधर्मी जनोंसे, गुरुजनोंसे प्रेम होता है । वे जानते हैं कि साधर्मीजनोंके वात्सल्यसे तो हमारे आत्माकी प्रगति होगी पर कुटुम्बीजन, मित्रजन, इनकी भक्तिसे आत्माकी प्रगति नहीं हो सकती । तो सत्संगका महत्त्व दीजिए और जीवनमें अधिक से अधिक प्रसंग सत्संग मिले और रोज सभावों द्वारा सत्संग बनाये रहें तो अपना उद्धार सम्भव ही नहीं, बल्कि निकट है ।

ये कारुण्यं विदधति जने सापकारेऽनपेक्षा
मान्याचारा जगति विरला मंडनं ते धरित्र्याः ।
ये कुर्वंति ध्रुवमुपकृतिं स्वस्य कृत्यप्रसिद्ध्यैः
मर्त्याः संति प्रतिगृहममी काश्यपीभारभूताः ।।४५७।।

(३२५) **दयाशील सदाचारी उपकारी सत्पुरुषोंकी विरलता**—जो सज्जन अपना अपकार करने वाले पुरुषोंपर भी दया धारण करते हैं वे सज्जन इस जगतमें बड़े बिरले हैं । साधारणतया किसी जीवको दुःखी देखकर दया हो जाना स्वाभाविक बात है, पर कोई पुरुष जिसका अपकार कर रहा हो, जिसका बिगाड़ कर रहा हो वह पुरुष फिर भी दया दिखलाये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उनको मूर्ख अज्ञानी समझकर दया करे और कभी भी उनसे बदला लेनेकी इच्छा न करें ऐसे पुरुष पृथ्वीमें भूषण स्वरूप है और वे जगतमें बहुत विरले हैं। लेकिन ऐसे पुरुष जो कामसिद्ध हो जाने के लिए तो उपकार करते हैं और उस कार्यके बिगड़ जानेपर अपकार कर बैठते हैं ऐसे लोग सर्वत्र निन्द्यवान हैं और पृथ्वी पर भाररूप हैं। सत्जन वही है कि अपकारीका भी उपकार करें। ऐसी योग्यता ज्ञानवान पुरुषोंमें ही हुआ करती है। जिनका चित्त अज्ञान अंधेरेसे भरा पड़ा है उनकी कभी भी ऐसी वृत्ति नहीं बनती। हाँ अपना उपकार करने वालेका उपकार करना और अपना बुरा करने वालेका बुरा करना, ऐसी जिनकी प्रकृति है वे पुरुष बहुतसे हैं। वे यत्र तत्र सभी जगह मिलते हैं परन्तु अपकार करने वालोंका भी उपकार करें ऐसे सत्जन पुरुष विरले ही देखनेमें आते हैं।

सम्यग्धर्मव्यवसितपरः पापविध्वंसदक्षो
मित्रामित्रस्थिरसममनाः सौख्यदुःखैकचेताः।
ज्ञानाभ्यासात्प्रशमितमदक्रोधलोभप्रपंचः
सद्वृत्ताढ्यो मुनिरिव जनः सज्जनो राजतेत्र ॥४५८॥

(३२६) सज्जनोंका मुनिकी तरह निर्मल हृदय—सत्जन पुरुष सच्चरित्र मुनियोंकी तरह शोभायमान होते हैं। जैसे मुनियोंकी वृत्ति सम्यक्चारित्रके धारण करनेकी होती है सो सम्यक्चारित्रके धारक श्रेष्ठ मुनि होते हैं वैसे ही और वही वृत्ति श्रेष्ठ आचरणके आचरने वाले सत्जन पुरुषोंकी भी होती है। लोकमें जो सत्जन हैं उनका आचरण पापसे दूर रहने का और सत्कार्योंमें लगने का होता है। जैसे ये मुनिजन समीचीन धर्मके धारण करनेमें तत्पर रहते हैं इसी प्रकार ये सत्जन पुरुष भी जो चाहे मुनि भेषमें न आ सकें, किन्तु ज्ञान और श्रद्धान सही है वे समीचीन धर्मके धारण करनेमें निपुण होते हैं। महाव्रत है उनके पापोंका सर्वथा त्याग है तो ऐसे ही अन्य सत्जन पुरुष भी अपनी पदवीके अनुसार पापका विध्वंस करनेमें चतुर होते हैं। साधुजन जैसे शत्रु और मित्रमें समान भाव रखते हैं, शत्रु भी सदा संगमें न रहेगा, मित्र भी सदा संगमें न रहेगा। शत्रु भी अपने भावोंके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, मेरा कुछ नहीं करता, तो मित्र भी अपनी कषाय वृत्तिके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, मेरा कुछ नहीं करता ऐसा जिनका निर्णय है उनके लिए शत्रु और मित्र दोनो एक समान जंचते हैं। सो शत्रु और मित्रमें सत्जनोंके समता भाव रहता है, सत्जन पुरुष सुख और दुःखको एक समान समझते हैं, दुःख आया तो क्या है? बाह्यपदार्थ की परिणति है और यदि कोई बंधन है तो थोड़ा उसे कष्ट होता है। तो सुख भी क्या है?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बाह्यपदार्थोंका जो परिणमन है वह हो रहा है, उसमें कुछ अनुकूल कल्पनायें करते हैं और वहां कुछ सुख माना जाता है। पर ज्ञानी जीव सुख और दुःखको एक समान समझते हैं क्योंकि दोनो संसाररूप हैं। आज सुख है तो थोड़ी देर बाद दुःख हो गया, या अभी दुःख है तो थोड़ी देर बाद सुख हो गया। तो सत्जन पुरुष सुख और दुःखको एक समान समझते हैं। दोनो ही परभाव हैं। उपयोग जब आत्मासे दूर होता है तब ही ये सुख दुःखकी वेदनायें, कल्पनायें चलती हैं। ज्ञानी पुरुष अपने परमार्थस्वरूपको जानता है। उसे सुख और दुःखमें इष्ट और अनिष्ट बुद्धि नहीं होती। जैसे मुनिजन ज्ञानके अभ्याससे क्रोधादिक कषायों को शान्त कर डालते हैं ऐसे ही सत्जन पुरुष भी अपने ज्ञानबलसे इन कषायोंको शान्त कर डालते हैं। तो यों सत्जन पुरुष सच्चरित्र मुनिकी तरह शोभायमान होते हैं। उनका संग समागम जीवोंको लाभकारी है।

य: प्रोत्तुंग: परमगरिमा स्थैर्यवान्वानगेंद्र:
पद्मानंदी विहृतजडिमो भानुवद् धूतदोषः।
शीत: सोमोमृतमयवपुश्चंद्रवद् ध्वांतघाती
पूज्याचारो जगति सुजनो भात्यसौ ख्यातकीर्ति: ॥४५९॥

(३२७) सत्पुरुषोंमें नगेन्द्रवत् उत्तुंगता व स्थिरता एवं सूर्यवत् निर्दोषता व आनन्दकारिता—सज्जन पुरुष उदार हृदयके होते हैं, उनका चित्त स्थिर होता है वे थोड़ी अनुकूलता प्रतिकूलतामें भी या विशेष अनुकूलता प्रतिकूलता हो तो भी वे अपने पदसे विचलित नहीं होते। सो सज्जन पुरुष सूर्यके समान तीन विशेषणोंसे युक्त हैं, पद्मानंदी हैं, अर्थात् जैसे सूर्य कमलोंको आनन्दित करने वाला है ऐसे ही ये सज्जन पुरुष पद्म अर्थात् लक्ष्मी ऐश्वर्यको आनन्दित करने वाले हैं। उनके इतना पुण्योदय चलता है कि उनका ऐश्वर्य वृध्यंगत होता रहता है। सूर्य विहृतजडिम होता है अर्थात् जडिम मायने सर्दी, उसको नष्ट करने वाला होता है। सूर्यका यह गुण है कि उसके उदयमें ठंड नहीं रहती। तो ये सज्जन पुरुष जडिम कहो मूर्खता, मोह बुद्धि, उसको नष्ट करने वाले हैं याने सज्जनोंके चित्तमें किसी प्रकारका व्यामोह नहीं रहता। सूर्य जैसे धूतदोष होता है, धूत मायने नष्ट कर दिया है रात्रिको जिसने, सूर्योदय होनेपर रात्रि नहीं रहती ऐसे ही सज्जन पुरुष भी धूतदोष होते हैं अर्थात् दोषको नष्ट करने वाले होते हैं। तो ये श्रेष्ठ मनुष्य अपने विचारके उन्नत ऐसे ऊँचे कि किसी दुर्जनके द्वारा उल्लंघन नहीं किये जा सकते और अचल, किसी भी कार्यसे विचलित नहीं होते और गौरवसहित होते। जैसे कि पर्वत उन्नत होता, स्थिर होता और गुरु होता, ऊँचा तो होता ही है तो ऐसे ही सज्जन पुरुष दिलके ऊँचे होते हैं, पर्वत जैसे स्थिर रहते हैं, ऐसे ही सज्जन पुरुष

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भी अपने सद्विचारमें स्थिर रहते हैं। उनके क्षणमें ऐब, क्षणमें राग, क्षणमें द्वेष, क्षणमें अनुराग, क्षणमें प्रीति, ऐसी वृत्ति नहीं होती। उनका चित्त स्थिर होता, और जैसे पर्वत गुरु होता, वजनदार होता ऐसे ही सज्जन पुरुष भी आत्मगौरवसहित होते हैं याने आत्मामें कोई हीन वृत्ति न आये ऐसी उनकी प्रकृति होती है।

(३२८) सत्पुरुषोंकी चन्द्रवत् अमृतस्राविता व कीर्ति—सज्जन पुरुष चन्द्रकी तरह सोम अमृत शरीर वाले और ध्वांतघाती होते हैं। जैसे कि चन्द्रमा सोम है, शान्त है, उसका दूसरा नाम सोम है, जिसपर सोमवार कहा जाता, तो प्रकृत्या वह शान्त है, ऐसे ही सज्जन पुरुष भी प्रकृत्या शान्त रहते हैं, उनके चित्तमें क्रोधका उद्वेग नहीं होता, क्योंकि सज्जनोंने अपना और संसारका स्वरूप भली-भाँति परख लिया और संसारको असार समझ लिया तब कैसे बाह्य परिग्रहोंके पीछे वे अशान्त रहेंगे? ये अचेतन हैं, मेरा तो मेरा आत्मा है। मेरा शरण, मेरा साथी यहाँ अन्य कोई नहीं, फिर किसी अन्यकी कुछ भी प्रतिकूलता देखकर क्रोध कैसे आयगा? जो जिस प्रकार चल रहा है वह उसका फल पायगा। उससे मेरेमें क्या बिगाड़ होता हैं? भली वृत्ति करने वाले सज्जनोंके अशान्ति नहीं आती। जैसे चन्द्र अमृतरूप शरीर वाला माना गया है ऐसे ही ये सज्जन पुरुष भी अमृतकी तरह जीवोंको हितकारी हैं। याने जीव, प्राणी सज्जन पुरुषोंको निरखकर उनका सत्संग पाकर स्वयं हित प्राप्त करते हैं जैसे चन्द्र ध्वांतको नष्ट करने वाला है तो ये सज्जन पुरुष भी अज्ञानरूपी ध्वांतके अर्थात् अंधकारके नष्ट करने वाले हैं। तो ये सज्जन पुरुष उन्नतिमें स्थिर हैं, गौरवमय हैं, ऐश्वर्यवान हैं, व्यामोहरहित हैं, संतोषी हैं, शान्त हैं, दूसरोंको सुखदायी हैं, अज्ञानके नाशक हैं इसी कारण उनकी कीर्ति सर्वत्र फैलती है और ऐसे सज्जनोंका संग किया जाने योग्य है।

तृष्णां चित्ते शमयति मदं ज्ञानमाविष्करोति
नीतिं सूते हरति विपदं संपदं संचिनोति।
पुंसां लोकद्वितयशुभदा संगतिः सज्जनानां
किं वा कुर्यान्न फलममलं दुःखनिर्नाशदक्षा ॥४६०॥

(३२९) सज्जनोंकी सुखदायिता—सज्जन पुरुषोंकी संगति जीवोंको सुखदायी होती है। सत्संगमें चित्तकी तृष्णा बुझ जाती है। किसी गुरुके निकट बैठनेसे, प्रभुमूर्तिके निकट बैठनेसे किसी महान् पुरुषका सत्संग करनेसे उस समय तृष्णाका विकल्प नहीं रहता। तो उस समय उसकी रक्षा ही तो हो रही है। तृष्णासे जीव क्षुब्ध रहता है और कर्मोंका बंध करता रहता है। तो जितने समय तृष्णा दूर होती है उतने समयमें जीवकी रक्षा है। सत्संग होनेसे घमंड नष्ट हो जाता है। बड़ेका संग इसीलिए बताया गया कि अपनेमें किसी प्रकारका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मद न रहे और बड़ेका संग छोड़कर कुसंग आ जाय, छोटे लोगोंका संग किया जाय तो वहाँ अहंकार जग सकता है। मैं बड़ा हूं ऐसी महत्ताका विकल्प जग सकता है, किन्तु सत्संगमें यदि वह अपनेको बड़ा मानता है तो आत्मामें गुणोंको देखकर बड़ा मानता है। शरीर और इस शक्ल-सूरतके नातेसे अपनेको बड़ा नहीं समझता। तो सत्संगसे घमंड नष्ट होता है। सत्संग करनेसे गुणोंकी वृद्धि होती है। प्रथम तो सज्जन पुरुषोंके दर्शनसे ही बहुतसा अज्ञान दूर होता है और ज्ञानमार्गपर चलनेकी वृत्ति बनती है। फिर उनकी वाणी मिलनेसे उनका प्रसाद आशीर्वाद प्राप्त होनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती ही है। सज्जन पुरुषोंकी संगति होनेसे नीति का पालन होता है। न्यायके पथपर आचरण करने लगते हैं और सत्संगसे सारी बिपत्तियाँ दूर भागती हैं। चूंकि तृष्णा नहीं रही, घमंड नहीं रहा, ज्ञान जग गया, न्याय पर चल रहे तो फिर विपत्तियाँ कहाँसे आयेंगी, और ऐसे पुरुषोंका सम्पत्ति इकट्ठी होकर आश्रय करने लगती है। जहाँ सदाचरण है वहाँ पुण्यका बंध है और उसका पुण्योदय होनेपर सम्पत्ति आश्रय करने लगती है। सत्संगसे इह लोक और परलोक दोनोंमें शुभ फल प्राप्त होता है। इस लोकमें भी शान्ति रहेगी न्याय नीतिपर चलेंगे, अज्ञान दूर होगा और परलोकमें भी जायेंगे तो वहाँ भी ये सब समागम प्राप्त होंगे। तो बहुत कहनेसे क्या फायदा? सत्संग एक ऐसा महान् गुण है कि वह सर्व दुःखोंके नष्ट करनेमें समर्थ है। सत्संगका क्या फल नहीं मिलता? जिनको मोक्ष भी मिला है उनको पूर्व कालमें सत्संग मिला उसका फल है। वे आगे बढ़े और समाधिभाव धारण किया, उनके कर्मोंका नाश हुआ और सदाके लिए संसारसंकटोंसे मुक्त हो गए।

चित्ताह्लादि व्यसनविमुखं शोकतापापनोदि
प्रज्ञोत्पादि श्रवणसुभगं न्यायमार्गानुयायि।
तथ्यं पथ्यं व्यपगतमदं सार्थकं मुक्तबाधं
यो निर्दोषं रचयति वचस्तं बुधाः संतमाहुः ॥४६१॥

(३३०) **निर्दोष वचनोंसे सत्पुरुषोंका परिचय**—जो पुरुष चित्तको प्रसन्न करने वाले वचन बोलते हैं। जो विधिके विरुद्ध कुछ भी नहीं बोलते हैं, जिनके वचन शोक और संताप को नष्ट करने वाले होते हैं वे ही सज्जन संसर्ग किए जाने योग्य हैं। उनकी सत्संगतिसे बुद्धि बढ़ती है और उन जैसे ही वचन बोलनेकी अपनी वृत्ति बनती है वे न्याय मार्गके अनुसार स्वयं चलने वाले हैं तो उनका संग करने वाले पुरुष भी न्याय मार्गपर चलने लगते हैं, जो मनुष्य अपने आपमें सहीपनका अनुभव करना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि वे अपनी वाणी निर्मल बनायें। मनुष्यका हृदय वाणीसे जाना जाता है। जिनकी वाणीमें मर्मभेदीपना है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, अयोग्य वचनालाप है, अनवसर वाणी है तो समझना चाहिए कि उनके हृदयमें पवित्रता नहीं है। जब पवित्रता नहीं होती, चित्तमें कषायबुद्धि होती है तो उनकी वाणी स्पष्ट और मिष्ट नहीं हो सकती। तो मनुष्योंका प्रधान कर्तव्य है कि वे अपने मनको निर्दोष बनायें जिससे वाणी भी निर्दोष बने, क्योंकि वचन भावके अनुसार ही निकलते हैं। कपटी पुरुष ही मनमें कुछ है, वचनमें कुछ बोलेंगे, पर जिन्होंने कपटका बड़ा तेज अभ्यास किया है वे ही ऐसा कर सकते हैं। उनके मनमें कुछ है और वचन मधुर बोलते हैं लेकिन प्रायः मनुष्योंकी वाणी हृदयके अनुसार निकलते हैं। तो हृदयको निर्मल बनायें जिससे कि वाणी शुद्ध निकले और शुद्ध हृदय होनेसे अर्थात् सज्जनता आनेसे सर्व प्रकारकी विपत्तियोंका उसके बचाव हो जाता है।

कोपो विद्युत्स्फुरिततरलो ग्रावरेखेव मैत्री
मेरुस्थैर्यं चरितमचलः सर्वजंतूपचारः।
बुद्धिर्धर्मग्रहणचतुरा वाक्यमस्तोपपातं
किं पर्याप्तं न सुजनगुणैरेभिरेवात्र लोके ॥४६२॥

(३३१) **सत्पुरुषोंके कषायका गलन**—जिन आत्मावोंने अपना और समस्त परपदार्थों का प्रायोगिक स्वरूप परिचय पा लिया है उन्होंने यह निर्णय किया कि यह मैं आत्मा स्वयं ही आनन्दस्वरूप हूं, ज्ञानस्वरूप हूं अतएव उनको बाहरमें कोई आकांक्षा नहीं रहती। बाहर से आनन्द आये तब तो बाहरकी उपेक्षा की जाय किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। यह मैं स्वयं आनन्दमय हूं। सो अपने आपमें रमूं तो आनन्द कहीं नहीं गया। अपनेसे हटकर बाहरी पदार्थोंमें आनन्दकी आशा लगाये फिरते हैं तो आनन्द गायब है। तो जिन्होंने अपने ज्ञान और आनन्दका निर्णय किया है उन पुरुषोंके मोह और कषायभाव नहीं रहता। मोह तो नाम है अज्ञानका। स्व और परका भेद न आ पाना और एकमेक मानना इसे कहते हैं अज्ञान, इसे कहते हैं मोह। राग और मोहमें यही तो अन्तर है। राग तो उसे कहते हैं जहाँ परवस्तुविषयक प्रीति भाव जग गया। परिस्थिति ऐसी है कि राग करना भी पड़ता है, पर मोहभाव कहते हैं उसे कि जिसको अपना राग सुहा जाय और सदा ऐसा ही रहे इस प्रकार का आशय बन जाय। जैसे कोई रोगी पुरुष है उसको बड़े आरामके साधन दिए जाते हैं। दवा दी जाती है, डाक्टर समय समयपर आता है, मित्रजन भी वार्तालाप करते हैं और उस रोगीको डाक्टरसे भी प्रेम है, समयपर डाक्टर न आये तो उसे बुलवाते हैं। दवा समयपर न मिले तो झुंझला जाते हैं। तो दवासे प्रेम तो है उस रोगीको मगर उसके मनमें ऐसा नहीं है कि ऐसी दवा मुझे हमेशा मिलती रहे। उसके मनमें तो यह रहता कि कब यह दवा लेना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

छूट जाय। तो दवा छोड़नेके लिए दवा लेता है। तो ऐसे ही समझिये रागमें और मोहमें अन्तर है। जिन्होंने अपने स्वरूपका निर्णय किया उनको बाह्य पदार्थोंमें कहीं भी व्यामोह नहीं रहता और इसी कारण उनके कषायका वेग कम हो जाता है, उन्हींको सत्पुरुष कहते हैं।

(३३२) सत्पुरुषोंके कारणवश आगत क्रोधकी विद्युतवत् क्षणस्थायिता—सज्जनों का क्रोध बिजलीके स्फुरणके समान चंचल है, जैसे मेघमें बिजली चमकी तो वह कितनी देर रहती है, ऐसे ही सज्जनोंका क्रोध कितने समय रहेगा ? कोई कारण पाकर क्रोध आ गया तो वह क्रोध थोड़ी देर ठहरता है, तुरन्त मिट जाता है, यह है सज्जनोंकी पहिचान। ज्ञानी पुरुष किसी दूसरे जीवोंके प्रति हठ बाँधकर नहीं रहता कि मैं इसका ऐसा ही करूँगा इसे बरबाद ही करूँगा। उनके कोई हठ नहीं रहती। उनके क्रोध बन गया किसी परिस्थितिमें मगर क्रोध अधिक देर नहीं ठहरता। सिद्धान्तमें बताया है ना चार प्रकारके क्रोध, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। अनन्तानुबंधी क्रोधमें तो ऐसा भाव संस्कार रहता है कि वह भव-भवमें बैर बांधता है, पर अप्रत्याख्यानावरण क्रोधमें इसके क्रोधका संस्कार ६ माहसे अधिक न रह सकेगा। यह होता है ज्ञानी अव्रती पुरुषोंको। प्रत्याख्यानावरण क्रोधका संस्कार १५ दिनसे अधिक न रह पायगा। यह होता है श्रावकोंके और संज्वलन क्रोध क्षण मात्र अन्तर्मुहूर्तको रहेगा। यह होता महाव्रतियोंके तो जैसे-जैसे अपने ज्ञानमें अभ्यास बने, दृढ़ता बने वैसे ही वैसे ये कषायोंके वेग भी कम हो जाते हैं।

(३३३) मोह और कषायसे आत्माकी बरबादी—हम आपको सताने वाला है मिथ्यात्व और कषाय। बाहरी हमको कोई सताने वाला नहीं है। भीतर मोह पड़ा है। दुःखी होते हैं और इसी कारण कषायोंसे जकड़े रहा करते हैं। सिवाय मोह और कषायके हम आपको दुःखी करने वाला कोई दूसरा जीव नहीं है। दूसरा कोई भी जीव हो, वह अपने सुखके लिए अपनी चेष्टा तो करेगा, पर आपके लिए कुछ न करेगा। जो भी करेगा वह अपने लिए करेगा। यहाँ हम जो कुछ करते हैं वह अपने लिए करते हैं। तो इस जगत में अनादि कालसे अज्ञानसे घूमते चले आये हैं। कैसे-कैसे भव धारण किया और उसी सिलसिलेमें आज भी मनुष्यभवमें आये, परिवार भी बसाया, घर भी है धन दौलत भी रखी है, यह सारा संग जुटा है, इसमें मोह भाव बनता है, तो जैसा भव भवमें करते आये वही बात यहाँ कर रहे हैं। उसमें कुछ अन्तर नहीं आया, ऐसा ही पशु पक्षी करते हैं, यह ही हम मनुष्य लोग करते हैं। क्या पशुपक्षी अपने बच्चोंसे मोह करना नहीं जानते ? उनके भी

http://sahjanandvarnishastra.org/

बड़ा तीव्र मोह होता है। यदि गाय भैंस आदि किसीका बच्चा गुजर जाय तो वह कितना बाँय बाँय कर रोती है, अश्रु भी बहाती है। तो पशुवोंके भी वैसा मोह रहता जैसा कि मनुष्योंके। पशुवोंके क्या विषयका भाव नहीं है जैसा कि मनुष्यके है ? बल्कि मनुष्य विषयों को कलाके साथ भोगता है। तो उनमें तीव्र कषाय बनी है। तो मनुष्योंमें पशुवोंमें अन्तर है तो एक धर्मभावका है। मोह करना राग करना, अपना मानना, गैर मानना, किसी को अपना मानकर जो जो कुछ बातें विकारकी चल रही है ये बातें सब तुम आपको अनर्थके लिए हैं। इसमें आत्माका कोई हित नहीं है। आत्माका हित है तो अपना परिचय पाकर अपनेमें रमें तो आत्महित है। सो जिन ज्ञानी पुरुषोंने अपने आत्मतत्त्वका परिचय पाया है उन्हें शान्ति है। क्रोधादि भाव कम हो जाते हैं।

(३३४) **क्रोधकी अतिक्रूरता**—क्रोध बड़ा बैरी है, यह इस जीवके सारे गुणोंको फेंक डालता है। कोई कितना ही दूसरेका भला करे पर एक बार भी क्रोध आ जाय तो मानो साराका सारा ऐहसान पानीमें धुल गया। उसकी फिर कदर नहीं रहती। बाप अपने पुत्रका कितना पालन पोषण करता है बचपनसे लेकर बड़े तक और एक बार भी वह बाप यदि क्रोध कर दे तो लो बेटेके दिलसे बाप उतर गया। बेटेके लिए बापकी अब कुछ कदर नहीं रहती। वह बैर बाँधने लगता। तो ऐसे ही समझिये सर्वत्र यह क्रोध जीवको हानि करने वाला होता है और दोनों ही अगर क्रोधी क्रोधी मिल गए तब तो वहाँ बड़ी कठिन नौबत आ जाती है। यदि उन दोनोंमें एक शान्त हो तो सब गनीमत, पर दोनों क्रोधी हों तो वहाँ बड़ी विकट बात बढ़ जाती है और यहाँ तक कि एक दूसरेका हनन भी कर डालते हैं। पर एक शान्त हो घरमें तो घरमें फिर क्रोधकी ज्वाला नहीं बढ़ती, शान्त रहती है। एक ऐसी ही घटना बताते हैं कि कोई एक बजाज सेठ था, सो जब वह घरपर आता था तो उसकी सेठानी रोज किल्लत मचाया करती थी, झगड़ा किया करती थी। तुम मेरे लिए अमुक चीज बनवाकर नहीं लाये, हम कबसे कह रहे, तुम एक भी बात नहीं करते, तो उसको भोजन भी करना कठिन पड़ जाता था। सेठानी तो थी गुस्सैल (गुस्सा करने वाली) और सेठजी थे शान्त प्रकृतिके। ऐसा ही कई दिन होता रहा। एक दिन जब सेठ भोजन करके उतर रहे थे सीढ़ियोंसे तो सेठानीको गुस्सा बहुत भरा हुआ था कई दिनोंसे तो उसने जो एक बर्तनमें धोवन धरा था दाल चावल वगैरहका उसीको सेठ जी के सिरपर फेंक दिया। सेठ जी की पगड़ी तथा सारे कपड़े भीग गए। तो वहाँ सेठजी बोले—सेठानी जी तुम गरजी तो बहुत पर बरसी आज हो। वहाँ सेठकी शान्त दशा देख सेठानी शर्मके मारे सेठके चरणोंमें लोटकर बोली—माफ कीजिए मेरी गल्ती। मैंने आपको रोज रोज पीड़ा दिया, पर आप देवता सरीखे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शान्त रहे, और मैंने आपकी कोई कदर नहीं की। अबसे मैं कभी आपके ऊपर क्रोध न करूँगी। तो घरमें अगर एक भी शान्त हो तो वह क्रोधकी ज्वाला बढ़ नहीं सकती और जब दोनों ही शान्त हों तब तो फिर वहाँका कहना ही क्या है ? ऐसा कई जगह दिखता कि पति भी कम नहीं, पत्नी भी कम नहीं तो उनकी कैसा बनती कि चाहे आप सिनेमा, थियेटर देख लो चाहे उन्हें देख लो। तो यह क्रोधभाव तब तक शान्त नहीं हो पाता जब तक कि शान्तस्वरूप अंतस्तत्त्वका परिचय नहीं मिलता। तो सज्जन पुरुषोंका क्रोध बिजलीकी चमक की तरह चंचल है।

(३३५) **सत्पुरुषोंकी मित्रतामें पाषाणरेखावत् स्थायित्व**—सत्पुरुषोंकी मित्रता पत्थर की रेखाकी तरह दृढ़ है, सर्व जीवोंमें मैत्रीभाव है। सज्जनोंकी यह आदत नहीं होती कि क्षणमें बड़े खुश हो गए और दो मिनट बाद रुष्ट हो गए, यह आदत सज्जनोंकी नहीं हुआ करती। जो अधीर हैं, अज्ञानी हैं, स्वार्थी हैं। केवल अपना ही अपना सब सोचते हैं उनमें तो यह आदत बन जाती है कि जरासी देरमें खुश हो गए और जरासी देरमें अप्रसन्न हो गए, पर सज्जनोंकी मित्रता दृढ़ रहा करती है। पहले तो सर्व जीवोंके साथ मैत्रीभाव करना सर्व जीव मेरे स्वरूपके समान हैं। जैसे मैं दर्शन ज्ञान आनन्दस्वरूप हूं ऐसे ही सर्व जीव हैं, जो कुछ यहाँ अन्तर दिख रहा है यह सब कर्मविपाकका अन्तर दिख रहा है, औपाधिक भावों का अन्तर दिख रहा है, पर स्वरूप तो सब जीवोंका समान है। यहाँ तक कि प्रभु सिद्ध अरहंत और मैं, सर्व जीव एक ही जातिके पदार्थ हैं उनके स्वरूपमें अन्तर नहीं। अन्तर है तो यह कर्मविपाकका है। सो यदि कर्मविपाकमें लगाव रखें याने मोह रखें तो यह अन्तर बना ही रहेगा और जहाँ भेदविज्ञान बना कि मैं इस कर्म और कर्मविपाकसे निराला केवल चैतन्यमात्र हूं, ऐसी स्वरूपकी दृष्टि बने तो यह अन्तर मिट जायगा। जो प्रभुका स्वरूप है वही स्वरूप प्रकट होने लगेगा। तो कुछ अपने पर करुणा करके चिन्तन करें कि जन्म-मरण कर करके संसारमें रुलते रहना ही ठीक है क्या या जन्म मरण छूटे और यह मैं आत्मा जो हूं सो ही रह जाऊँ, केवल निर्लेप, इन दो में से अपनी छाँट जरूर करियेगा। संसारमें जन्म मरण करते रहनेमें संकट ही संकट है, इस कारण इस देहसे इस समागमसे, इन बाह्य अर्थों से अपने विकारसे भी ममताको त्यागकर केवल एक चित् प्रतिभासमात्र अपनेको ज्ञानमें लें और इसी प्रयोजनके लिए पूजा करें, स्वाध्याय करें। सर्व काम इसी प्रयोजनके लिए करें तो इसमें अपना उत्थान है।

(३३६) **सत्पुरुषोंके चारित्रकी मेरुवत् स्थिरता व सर्वोपकारकी अचलता**—सज्जन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुरुषोंका चरित्र मेरूके समान स्थिर रहता हैं। जैसे मेरू जहाँ है वहाँ ही अचल है, ऐसे ही सत्‌जन पुरुषोंका चारित्र स्थिर रहता है, और जो अज्ञानीजन हैं वे कभी चारित्रका रूप दिखायेंगे कभी उससे बिल्कुल अलग हट जायेंगे, विभिन्नता बनी रहेगी, मगर सत्पुरुषोंका चारित्र मेरूके समान स्थिर होता है। यह प्रकरण चल रहा है इसलिए कि सब जीवोंको, मनुष्योंको सत्‌जनोंका ही संग करना चाहिए दुर्जनोंका संग न करना चाहिये। जिसके मनमें और है, वचन कुछ और, करे कुछ और जिनको केवल अपना यश फैलानेकी ही भावना है उनके वचन दूसरोंके हित करने वाले निकलें, यह जरा सम्भव नहीं है। अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए जैसा होना चाहिए वैसा ही कहेंगे वे जिनको किसी भी इन्द्रियके विषयसे प्रेम है अथवा अपनी नामवरीसे प्रेम है उस पुरुषका संग कष्टदायी होता है, उसमें तृप्ति और संतोष नहीं मिल सकता। अतएव सत्‌जन पुरुषोंका परिचय किया गया है कि उनका कैसा व्यवहार होता है, सत्‌जन पुरुष सर्व प्राणियोंका उपकार करते हैं। समस्त शत्रु और मित्रमें उनका उपकार रहता है। ये मेरे बैरी हैं। ये मेरे बंधु हैं, ऐसी विषय भावना सत्पुरुषोंमें नहीं होती, ज्ञानियोंके नहीं होतीं। क्योंकि ज्ञानी जानता है कि जीव जीव सब समान हैं। जो कुछ इनकी चेष्टा हो रही है वह कर्मविपाककी लीला है। यह जीवमें फर्क नहीं है, कौन मेरा शत्रु कौन मेरा मित्र ? यह सब मायारूप व्यवहार है। तो शत्रु और मित्रमें समान उपकारकी बुद्धि रहती है। राजा श्रेणिकके चरित्रमें जब श्रेणिक और चेलनामें कुछ बातोंकी दौड़ सी चल रही थी धर्मके प्रसंगमें, तो श्रेणिकने एक बार क्या किया कि जंगलमें जा रहे थे, वहाँ एक मुनिराज विराजे थे तो उनके गलेमें मरा हुआ साँप डाल दिया, और तीन दिन बाद चेलनासे कहा किसी प्रसंगमें कि हमने तुम्हारे साधुके गलेमें मरा हुआ साँप डाला, तो चेलना बोली—आपने अनर्थ किया, श्रेणिक बोले—इसमें अनर्थकी क्या बात ? वह तो साँपको हटाकर कहीं चले गए होंगे। तो चेलना बोली—यदि वे निर्ग्रन्थ साधु हैं तो वहीं विराजे होंगे, वे उपसर्गको अपने आप न टालेंगे। आखिर जब वहाँ दोनों (श्रेणिक और चेलना) गए तो क्या देखा कि मुनिराज शान्त मुद्रामें विराजे थे। उनके गलेमें साँप पड़ा था, जिससे चींटियाँ सारे शरीरपर चढ़ी हुई थीं। यह दृश्य देखकर श्रेणिक बड़ा पछताये, ओह मैंने व्यर्थ ही मुनिराजपर उपसर्ग किया, धिक्कार है मेरेको।....तो चेलनाने उस समय नीचे शक्कर बिखेर दी जिससे सभी चींटियाँ नीचे उतर आयीं फिर उस साँपको गलेसे निकाल दिया। उस समय जब मुनिराजने आँखें खोलीं और सामने खड़े राजा श्रेणिक व रानी चेलना को देखा तो दोनोंको एक समान आशीर्वाद दिया। उभयोर्धर्मवृद्धिरस्तु, तुम दोनोंको धर्मवृद्धि हो। अब उस समयके परिणाम देखिये मुनि महाराजके। उनकी दृष्टिमें यह न था कि यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो मेरा उपासक भक्त है इसमें राग करें और यह मेरा विघातक शत्रु है इसमें द्वेष करें। न उनकी दृष्टिमें शत्रु आया और न मित्र, क्योंकि स्वरूपका परिचय हुआ है। कौन जीव शत्रु है और कौन मित्र हैं ? यह तो कर्मविपाककी छाया है जो इस प्रकार सब बातें दिख रही हैं और अज्ञानी जीव उन ही को अपना रहे हैं। तो शत्रु और मित्रमें सज्जनोंका समान विचार चलता है।

(३३७) सत्पुरुषोंकी धर्मग्रहणचतुरा बुद्धि—सत्पुरुषोंकी बुद्धि धर्मको ग्रहण करनेमें चतुर रहती है। धर्म क्या ? रागद्वेष न होना, समता परिणाम जगना, अपने ज्ञानानन्दका अनुभव होना यह ही धर्मका ग्रहण है और इसीलिए पंच परमेष्ठियोंकी भक्ति, पूजा, स्वाध्याय यह ही सब धर्मका ग्रहण है तो धर्मके ग्रहणमें सत्पुरुषोंकी बुद्धि चतुर होती है। धर्म प्रिय होता है। देखिये—धर्मसे बढ़कर प्रिय जगतमें कुछ नहीं है। भले ही मानते हैं जीव कि मेरेको घर प्रिय है, स्त्री प्रिय है, बच्चे प्रिय हैं पर प्रियका लक्षण यह है जो पूरा प्रिय हो, जो प्यार फिर कभी न बदले। आप रोज रोज अपने जीवनमें देखते हैं कि आज इसपर प्यार है कल नहीं रहा। तो वह वास्तवमें प्रिय नहीं कहलाता। वास्तविक प्रिय वस्तु वह है जिसपर एक बार प्यार आये और फिर न अटके। ऐसा कोई नहीं है बाह्य पदार्थ कि जिस पर प्यार आये और फिर न हटे। मानो स्त्रीसे प्यार है, वह कोई दुर्वचन कह दे या शंका हो जाय तो फिर प्यार उससे हट गया। आज बच्चेसे प्रेम है उसने यदि कोई अविनय कर दिया तो प्यार हट गया। जरा खोजो तो सही कि जिसपर प्यार हो और फिर न मिटे। तो सुनो एक कथानक द्वारा बताते हैं।

(३३८) धर्मभावकी सर्वाधिकप्रियताका एक चित्रण—देखो जब कोई बच्चा ४-६ माहका होता है या साल डेढ़ सालका होता है तो उस बच्चेसे यदि यह पूछा जाय कि हे बच्चे तुझको सबसे प्यारा क्या लग रहा ? तो उसका उत्तर क्या होगा कि मुझे सबसे प्यारी माँ की गोद लगती है। जब कभी कोई उस बच्चेको छेड़ता तो झट माँ की गोदमें पहुंचकर अपनेको रक्षित मानता। माँ की गोदसे बढ़कर उसे कुछ प्रिय नहीं रहता। वही बच्चा जब बढ़कर ४-५ वर्षका हो जाता तो अब उसे खेल खिलौने प्रिय हो जाते। माँ की गोद भी अब उसे प्रिय नहीं रहती। यदि किसी बच्चेका मन खेल खिलौनोंमें लगा है तो भले ही उसकी माँ उसे पकड़कर खिलानेके लिए अपनी गोदमें बैठाये पर वह नहीं बैठना चाहता। वह तो माँकी गोदीसे छूटकर खेल खेलनेके लिए भाग जाना चाहता है, क्योंकि उसे अब खेल खिलौने अधिक प्रिय हो गए, माँकी गोद अब उसे प्रिय नहीं रही। वही बालक जब ८-१० वर्षका होता तो उसे विद्या प्रिय हो जाती। नई नई विद्यायें पढ़ना, कलायें सीखना यह उसे प्रिय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो जाता, उसे अब खेल खिलौने प्रिय नहीं रहते । वही बालक जब १७-१८ वर्षका हो जाता तो उसे अब विद्या भी प्रिय नहीं रहती । बस किसी तरहसे परीक्षामें पास हो जाना चाहिए। यह ही उसके चित्तमें रहता । पास होनेके लिए अनेक प्रकारके नाजायज उपाय रचता । वही बालक जब २०-२१ वर्षका होता तो उसे अब डिग्री प्रिय हो गई बी. ए., एम. ए. आदिकी डिग्री चाहिए, चाहे कैसे भी मिले । कुछ और बड़ा हुआ, विवाह हो गया तो उसे अब स्त्री प्रिय हो गई, डिग्री भी प्रिय न रही । देखिये प्यारकी चीजें कैसा बदलती जा रही हैं । कुछ दिन बाद जब बच्चे हुए तो बच्चे प्रिय हो गए । उसे अब स्त्री भी प्रिय नहीं रही । फिर कुछ बड़ा हुआ, बच्चा बच्ची भी बड़े हो गए, अब कमाईकी चिन्ता बढ़ी । तो वहाँ उसे धन प्रिय हो गया । बाल बच्चे भी उसे प्रिय नहीं रहते । उसके यहाँ कोई आकस्मिक घटना घट गई । मान लो वह किसी दफ्तरमें काम कर रहा था, उसके पास टेलीफोन पहुंचा कि घरमें आग लग गई तो वहाँ दौड़ा दौड़ा घर पहुंचा, धन निकाला, बच्चे निकाला, पर जल्दी जल्दी में एक बच्चा घरके अन्दर रह गया, आग तेज बढ़ गई, अब वह लोगोंसे कहता है—भाइयो कोई मेरे बेटेको निकाल दो, हम १० हजार रुपये इनाम देंगे । अब यहाँ बताओ उसे धन प्रिय रहा क्या ? अरे धन भी नहीं प्रिय रहा । उसे प्रिय हो गए अपने प्राण । वही व्यक्ति कुछ ज्ञान जग जाय, उसी प्रसंगमें उसको वैराग्य जग जाय, विरक्त होकर (निर्ग्रन्थ होकर) चल दे, वनमें तपश्चरण करने लगे और कदाचित् उसके शरीरको स्यालनी चोंटने लगे, या सिंह भक्षण करने लगे, या कोई उसके सिरपर अंगीठी जलाने लगे या कोई कैसा ही उपसर्ग उसके ऊपर ढाने लगे तो अब वह अपने प्राणोंकी भी परवाह न करके अपने ज्ञानस्वरूपकी सम्हाल करता है । उस समय उसका ऐसा भाव रहता है कि ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि मेरी क्षण-भरको भी न बिगड़े । इतने उसे ज्ञानसे प्रेम हुआ । अब देखिये उसे सबसे प्रिय हो गया ज्ञान । यहाँ तक तो हम ले आये अब इसके बाद आप लोग बताइये कि कौनसी चीज ऐसी हो सकती जो कि ज्ञानसे भी अधिक प्रिय हो जाय ? तो इस ज्ञानसे बढ़कर प्रिय चीज अन्य कुछ नहीं है । अन्य सभी प्यार तो बदल जाते हैं क्योंकि वे वास्तविक प्रिय चीजें नहीं हैं, पर ज्ञानका प्यार कभी नहीं बदलता । एक बार ज्ञानकी प्रीति हो जाय तो फिर वह कभी नहीं छूटती । इस तरह जानें कि सर्वाधिक प्रिय वस्तु है तो मात्र ज्ञान है । और ऐसे ज्ञानस्वरूपको ग्रहण करना, ज्ञानमें रखना, ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, ऐसी स्थिति बनना, इसे कहते हैं धर्मका ग्रहण करना । तो सत्जन पुरुषोंकी बुद्धि धर्मको ग्रहण करनेमें बड़ी चतुर होती है ।

(३३९) **सत्पुरुषोंके वचनोंकी पीडाहारिता**—जिनका संग करना है, जिनसे लाभ होता उनका परिचय किया जा रहा है । सत्पुरुषोंके वचन पीड़ासे दूर रखते हैं । सत्जनोंका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यही भाव रहता है कि सर्व जीव सुखी हों। किसी भी जीवको दुःख न हो। किसीने आक्रमण भी किया हो, अपमान कर रहा हो, बैर रख रहा हो, कोई दुर्वचन बोल रहा हो उसपर भी क्षमाभाव रहता हैं और मीठी वाणी बोलते हैं। हितकारी वाणी बोलते हैं, उसका भी अहित नहीं चाहते। यह सब है ज्ञानकी महिमा। तो ऐसे ज्ञानी पुरुषोंका संग हो तो उसमें शान्ति, संतोष, धीरता ये सभी गुण आ जाते हैं। और फिर सत्संगका लाभ यह लेना चाहिए कि मुझमें भी वह ज्ञानदृष्टि जगे जिसके प्रसादसे धीरता और शान्ति उत्पन्न होती है। तो सज्जन पुरुषोंके वचन किसीका भी विघात करने वाले नहीं होते, इन्हीं गुणोंके कारण सत्पुरुषोंकी कीर्ति जगतमें छायी रहती है।.........

जातु स्थैर्याद्विचलति गिरिः शीततां याति
वह्निवर्यादीनाथः स्थितिविरहितो मारुतः स्तम्भमेति।
तीव्रश्चंद्रो भवति दिनपो जायते चाप्रतापः
कल्पांतेपि व्रजति विकृतिं सज्जनो न स्वभावात् ॥४६३॥

(३४०) **सभी स्थितियोंमें सज्जनोंके हितकर स्वभावकी अविचलता**—जीवकी भलाई सत्संगमें है कुसंगमें नहीं, इसलिए कुसंगसे बचना, सत्संगमें रहना यह लाभदायक है। इसी कारण सत्संग हमें प्राप्त हो, उनकी जानकारी मिले इसके लिए सज्जनोंका स्वरूप बताया जा रहा है। सज्जन पुरुष, श्रेष्ठ पुरुष, ज्ञानी पुरुष अपने हितकारी स्वभावको छोड़कर कभी भी दूसरोंके अहितकर नहीं बनते। वस्तुतः जिन पुरुषोंने अपने अंतस्तत्त्वका स्वरूप पहिचाना है, अपने सहज स्वरूपको अनुभवा है, जिसके बलपर यह निर्णय बना कि जगतमें अन्य कुछ भी मेरा शरण नहीं, कुछ भी मेरा हितकारी नहीं। यह मैं स्वयं आनन्दस्वरूप हूं यह जिनके अनुभव बना है वे पुरुष दूसरोंका अहित करें यह कभी हो ही नहीं सकता। न ऐसा उनका मन बनेगा न वाणी वैसी होगी न कायचेष्टा होगी। उसीकी सामर्थ्य है कि चाहे पर्वत अपनी स्थिरताको छोड़ दे याने असम्भव बात भी सम्भव हो जाय, पर सत्पुरुष कभी भी अपनी हितकारी प्रकृति नहीं छोड़ सकते। अग्नि चाहे ठंडी हो जाय याने असम्भव बात भी कभी सम्भव हो जाय तो भी सज्जन पुरुष अपने हितकारी स्वभावको नहीं तजते। समुद्र चाहे अपनी मर्यादाका उल्लंघन कर दे याने समुद्रमें से चाहे नदियाँ निकलने लगें, जैसा कि आज तक कभी हुआ नहीं, तो चाहे ऐसी कठिन बात भी बन जाय तब भी सज्जन पुरुष अपने हितकारी स्वभावको नहीं छोड़ते। इसी तरह अन्य भी दृष्टान्त दिया कि चाहे हवा बहना बंद कर दे मायने कहीं एक जगह ठहर जाय, यदि ठहरे तो हवा नहीं, जहाँ हवा है वहाँ ठहरे नहीं, हवाको ठहरनेका क्या काम ? हवाका काम है चलते रहना, बहते रहना। तो चाहे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हवा बहना बंद कर दे पर सज्जन पुरुष अपने हितकर स्वभावको कभी नहीं छोड़ सकते। ऐसी कला स्वभावतः सत्पुरुषोंमें रहती है और उसका मूल कारण यह ही है कि उन्होंने सहज परमात्मतत्त्वका परिचय पाया है और अपने ही समान सर्व जीवोंके स्वरूपको पहिचाना है। सर्व जीव एक समान हैं चित्स्वरूप।

(३४१) **अनुकूलता व प्रतिकूलताके भावका कारण विषयानुराग**—यदि किसीको कोई अनुकूल जचता तो कोई प्रतिकूल जचता, तो जाचने वालेका ही एक भाव है ऐसा कि यह मेरे अनुकूल है और यह मेरे प्रतिकूल है। वह तो अपनी कषायके अनुसार अपनी प्रवृत्ति कर रहा है और वह भी अपनी सुख शान्तिके लिए कर रहा है। जिसमें उसने सुख समझा है वह प्रवृत्ति कर रहा है। पर यह कल्पनायें करता, उसकी कषायकी अनुकूल काम नहीं बनता तो उसमें बाधा मालूम होती है और उसे प्रतिकूल समझता और यदि सहायता जंचती तो उसे अनुकूल समझता, पर ज्ञानीका दृढ़ निर्णय है कि मेरा जो कुछ है सो मुझमें है। भला हो बुरा हो, जो भी परिणति हो वह सब मेरी मेरेमें है। मैं कभी अपनेसे बाहर किसी भी जगह किसी परद्रव्यमें कुछ भी नहीं करता। मैं अपनेमें परिणमता रहता हूं। सभी सतों का यही स्वभाव है। कोई सत् किसी दूसरे रूप नहीं परिणाम सकता, यह अनादि अनन्त वस्तुमें स्वरूप है। तो मैं परका क्या कर सकूँगा, पर मेरा क्या कर सकेगा? वास्तविकता तो यह है पर यह मुग्ध होनेसे बाह्यमें ऐसी कल्पनायें करता है और उसका निमित्त कारण उस समय उस प्रकारका कर्मविपाक है।

(३४२) **जीवमें विकारोत्पादका विधान**—जीवमें जितने भी विकार प्रकट होते हैं वे जीवमें स्वभावतया तो नहीं होते, विकार स्वरूप नहीं है, स्वभाव नहीं है तो फिर ये औपाधिक हैं। निमित्त हैं याने कर्मविपाकका सान्निध्य पाकर होते हैं। जीवके विकारका निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध यहाँ है और दुनियामें जितने बाह्य पदार्थ पड़े हैं इन पदार्थोंके साथ विकार का निमित्तनैमित्तिक सम्बंध नहीं है, फिर दिख तो रहा ऐसा कि एक दूसरेका सहयोगी बन रहा, रागद्वेष पैदा करने वाला बन रहा। सो इसका समाधान सुनो—अन्य कोई सुख दुःख और रागद्वेषका उत्पन्न करने वाला नहीं है, किन्तु यह जीव अपने ही परिणामोंसे पूर्वमें बद्ध कर्मोंके विपाकका निमित्त पाकर जो उसकी फोटो, उसका प्रतिफलन उपयोगमें आया, जिससे अन्दरसे यह घबड़ाया विकृत हुआ, बेचैन हुआ और उस ही छायाको मानने लगता है अपना स्वरूप सो यही उसकी मोह परिणति हुई सो उस समय जो भी बाह्यमें विषयभूत पदार्थ उपयोगमें आते हैं, जिनकी कल्पना करके, जिनको विषयभूत बनाकर यह रागी द्वेषी बनता, व्यक्त राग, व्यक्त द्वेष करता है वह पदार्थ आश्रयभूत कहलाता है, जिसे नोकर्म भी कहते हैं। तो ये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विषयभूत पदार्थ नोकर्म हैं। अथवा आश्रयभूत हैं। इनका आश्रय करके हम विकार प्रकट किया करते हैं। कदाचित न भी आश्रय करें, किसी अन्य बातमें हम लग जायें, जैसे प्रभुके ध्यानमें लग गए, मंदिरमें पहुंचे, गुणस्मरण कर रहे, अन्य कार्योंमें लग गए, तो क्रोधादिक प्रकृतियोंका कर्मविपाक चल रहा है कहीं वह धारा नहीं टूटी, वह विपाक चल रहा है और उसका निमित्त पाकर प्रतिफलन भी हो रहा किन्तु विषयभूत कोई वास्तवमें नहीं है। सो वह विकार व्यक्त नहीं होता, अव्यक्त रहता। इसीको कहते हैं अबुद्धि पूर्वक। जैसे कहा है कि सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं इत्यादि याने बुद्धिपूर्वक रागादिकको तो यह त्याग देता है और जिस उपायसे यह त्याग रहा है बुद्धिपूर्वक रागादिकको उसी उपायसे जो अबुद्धिपूर्वक रागादिक है वे छूटेंगे। परतु जब तक कर्मोदय है निमित्त नैमित्तिक विकार बराबर वहाँ बनता रहता है, मगर आश्रयभूतका उपयोग न करनेसे ये अव्यक्त हो जाते हैं।

(३४३) **निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका लाभ**—निमित्तनैमित्तिक योग या किसी की भी चर्चासे हमको क्या शिक्षा लेना चाहिए? विकारसे हटना और स्वभावमें लगना। बस एक ही कदम, एक हो निर्णय है ज्ञानीका कि विकारसे मुझे हटना है, स्वभावमें मुझे लगना है। तब देखिये हमने यदि कर्मविपाक और विकारका निमित्तनैमित्तिक योग जाना मायने इन आश्रयभूत पदार्थोंके साथ कारण कार्यका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध नहीं समझा तो इससे उपेक्षा हो गई। ये मेरेको सुख दुःख नहीं देते। जिसे समयसारमें बंधाधिकारमें खूब प्रकट किया है, कोई भी जीव किसी दूसरेका सुख दुःख नहीं करता। वैसा ही वहाँ कर्मोदय है जिससे सुख दुःख होते रहते हैं। तो इन बाह्य पदार्थोंने मेरेको रागी नहीं किया, यह इसके ज्ञान बना कर्म विपाकसे विकारका निमित्त नैमित्तिक योगका संबंध जाननेपर। तो अब इसके चित्तमें कायरता नहीं आती। जब यह जान रहा था कि कोई भी परपदार्थ मेरेको सुखी कर देगा, दुःखी कर देगा तो इसको आशा और भय लगा रहा करता था, अब यह आशा और भयसे दूर हो गया, साथ ही निमित्त नैमित्तिक योगके परिचयसे इसकी स्वभावदृष्टि सुगम हो गई। उस ही के साथ स्वभावका बराबर विवेक बना हुआ है। जिनको स्वभावका निर्णय नहीं वे नैमित्तिक शब्द भी नहीं बोल सकते, विकारको नैमित्तिक नहीं जान सकते। जिन्होंने स्वभावको जाना कि मैं चित्स्वरूप इन औपाधिक भावोंसे निराला हूं ऐसा जो जानेगा वह ही समझेगा कि ये नैमित्तिक हैं औपाधिक हैं, हटाये जाने योग्य हैं ये मेरे स्वभावसे नहीं प्रकट हुए हैं। तो ज्ञान का प्रयोजन होता है विकारसे हटना और स्वभावमें लगना। यह ही बात मुमुक्षुको चाहिए। अब इसमें और भी सूक्ष्म निर्णय देखें तो भले ही कर्मदशाका और विकारका निमित्त नैमित्तिक योग है, अर्थात् कर्मोदय होनेपर ही विकार बनता है और कर्मोदय न रहने पर विकार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं बनता । ऐसा योग होनेपर कहीं उस कर्मने अपनी परिणति नहीं कर दी, यह जीव विकल्परूप, विकाररूप जो परिणमता है उस रूप जीव परिणमा है । कहीं उसरूप कर्म नहीं परिणमा, लेकिन इस अशुद्ध उपादानमें ऐसी ही कला और योग्यता है कि वह जैसे कर्मविपाक का सान्निध्य पाता है उस रूप परिणम जाता है । विवेक जग जानेपर ये आश्रयभूत विकार हटते हैं और अन्तस्तत्त्वमें उपयोग जमता है तो इस पुरुषार्थसे इन बद्ध कर्मोंमें भी संक्रमण होता है, उपशम होना आदिक इन सब कर्मोंमें कर्मकी परिणतियाँ ही चलती रहती हैं। उसको फिर आगे और विशुद्धिका मार्ग मिलेगा और विशुद्धि प्रकट हो जाती है ।

(३४४) **शास्त्रोंके अध्ययनसे प्राप्तव्य शिक्षा**—प्रयोजन यह है कि हमको विकारसे हटना है और स्वभावमें लगना है और इस ही की प्रेरणा मिले, ऐसा सब शास्त्रोंका तात्पर्य और मर्म है । प्रथमानुयोगमें जब कथन पढ़ते हैं और उन कथनोंमें घटाव, वृद्धि सब बातें जानी जाती हैं कि यह गृहस्थी पाया, यह मोहमें लगा, फिर कारण पाया, विरक्त हुआ, समाधिष्ट हुआ, मुक्त हुआ, उस चरित्रसे यह ही तो शिक्षा लेना है कि देखो जब तक वह जीव विकारके अभिमुख रहा तब तक कष्टमें रहा, और जब विकारसे उपेक्षा की, स्वभावकी अभिमुखता ली और स्वभावमें ही रमनेका पौरुष बना तब संकट मिटा । तो उस चरित्रसे यह ही तो प्रेरणा मिली—विकारसे हटना और स्वभावमें लगना । तो यों करणानुयोगमें जो वर्णन है, घटनायें हैं उनमें भी यह ही शिक्षा मिलती है—चरणानुयोगके आश्रयभूतका त्याग करना। उसमें भी यह ही प्रयोजन निकला— विकारसे हटना और स्वभावमें लगना । जब हम द्रव्यका स्वरूप जानते तब वहाँ यह शिक्षा मिलती ही है ।

(३४५) **आत्मोत्थानका प्रथमावसर**—अब यहाँ एक बात यह सोचना है कि कर्मोदय होनेपर हमको जागृति मिल सकती क्या ? तो एक बात पहले देखिये—इस जीवकी एक अनादि अवस्था जो भी गुजर रही निगोद स्थावर, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय आदिक होना, वे भी जीव हैं, वे जीव क्या करें ? कोई विवेक नहीं कर सकते, कोई प्रतिभा नहीं बना सकते, उनके भेदबुद्धि नहीं जग सकती । और जब जीवका स्वरूप है कि अपना पौरुष करें, स्वभाव में आयें, शक्ति प्रकट करें तो क्यों नहीं करता ? तो सिद्धान्तमें यह बताया गया कि इस जीव को सर्वप्रथम क्षयोपशमलब्धि प्राप्त होती है एक प्रगतिके सिलसिलामें ।क्षयोपशमलब्धिका यह अर्थ है जैसा कि प्रारम्भमें हो सकता है । जीव जब कर्म बाँधता है तो उस कर्मपुञ्जमें जितनी स्थिति बनी वे सब कर्म एक समयमें नहीं उदयमें आते । जैसे मानो कि १० हजार वर्ष वाली स्थिति बाँध ली—एक दृष्टान्त दे रहे हैं, ऐसी स्थिति श्रेणी वाले मुनीश्वरोंको छोड़कर कोई नहीं बाँध पाता । आयु कर्म आदिकी कोई हीन स्थिति बाँध लें यह बात अलग है, पर सामा-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

न्यतया कर्मोंकी जघन्य स्थिति श्रेणीमें रहने वाले मुनि बांधते हैं। यहाँ तो दृष्टान्त दे रहे, तो १० हजार वर्षके लिए कर्म बँधा तो थोड़े समय बाद मायने आबाधाकाल छोड़कर बाकी जितने समय हैं उन सब समयोंमें वे कर्म बँट जायेंगे। मानो १० अरब परमाणु बँधे तो उन समयोंमें यों बँट जायेंगे कि मानो ५०० परमाणु पहले समयमें उदयमें आयेंगे। तो उससे कम अगले समयमें उदयमें आयेंगे। यों बराबर १० हजार वर्ष तक बँध जायेंगे और उनमें फल देनेकी शक्ति अनुभाग जितना कम कम परमाणु बाँटमें मिलेंगे आगे आगे समयमें उतना उतना अनुभाग उनमें बढ़ता ही होगा। तो इस तरह कर्म मानो १० हजार वर्ष पहले बाँधा उसके बाद फिर बाँधा फिर बाँधा तो यों अगले समयके बाँधे हुए कर्म आज हमारे आपके उदयमें चलते हैं, सभी जीवोंके उदयमें चलते हैं किसी भी जीवके किसी एक समयका जो विपाक है, उदयमें, वह उदय, वह कर्म कितने भवों पूर्वके बंधे हुए कर्मोंमें से है? अरबों खरबों भव पहिले तकका हो सकता है। तो शक्तिका जब बटवारा हुआ तो किसी एक समयमें जो उदय होता है उसका जो अनुपात हो वैसा फल प्राप्त होता। एक जगह बताया—कई दवाकी गोली एक जगह मिला दो तो अब उनमें प्रभावकी बात अनुपातसे बँट गई। कितनी ठंडी कितनी गरम, तो यह उनके अनुपातके अनुसार फलका कार्य होता है। ऐसे ही जब उसका अनुपात बना, जिस समयहीन अवस्थामें आता है, जैसे नदी बहती है खूब तेज और जहाँ उसका वेग कम हुआ कि हम आप उस नदीको पार कर लेते हैं ऐसे ही यह कर्म बेग, यह कर्म अनुभाग जहाँ इस ढंगसे कम मिला अनुपातमें उस समय उसके परिणामोंमें कुछ विशुद्धि कुछ उसके अनुकूल बात हुई तो वहाँसे उसके उत्थानका प्रारम्भ होता है।

(३४६) **विशुद्धिबलसे प्रगतिके विशेष अवसरोंका लाभ**—क्षयोपशमलब्धिके बाद विशुद्धि बनी, देशना बनी। तो आज हम आप सब लोग अपने लिए यह सोचें कि क्षयोपशम लब्धि तो प्राप्त है अन्यथा मनुष्य कैसे बन गये। विशुद्धि भी मिल रही, देशना भी मिलती जा रही। कुछ तत्त्वाभ्यास भी करते हैं, ज्ञानाभ्यास भी करते हैं तो बात बनती है। यह निमित्त नैमित्तिक योग दोनो तरफसे है। जैसे बताया कि कर्मविपाकके सान्निध्यमें विकार जगता है तो ऐसे ही जब परिणामोंमें प्रगति बने और उस ओर अधिक उपयोग देने लगे तो उसका निमित्त पाकर कर्मोंमें भी हीनता आती है। जैसे जब कर्मका उपशम क्षयोपशम होता तो सम्यक्त्व होता। वहाँ उपशमादि उनको यों ही अचानक नहीं हो जाते। परिणामोंकी विशुद्धिका निमित्त पाकर कर्मोंमें हीनता होने लगती सो अपने पौरुष पूर्वक होता। और उसीको कहा गया करणलब्धि। करणलब्धिमें भी पौरुष जगता तो वहाँ क्या होता है कि अनन्तानुबंधी प्रकृतिमें हीनता आने लगती है। जिसका क्षय क्षयोपशम होता वहाँ हीनता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चलने लगती है। जब करणलब्धिका ओर प्रताप बढ़ता तो उनके उपशम क्षय, उपशम आदिक पूर्णतया हो जाते हैं। तो इस प्रकारसे जीवकी विशुद्धिका निमित्त पाकर कर्मोंमें बदल, कर्मोंका निमित्त पाकर जीवमें भी बदल इस तरह ये दोनों ओरसे निमित्त नैमित्तिक योगकी बातें हैं। अब चूंकि यहाँ इतना अवकाश है ज्ञान पानेसे कि हम अपना उपयोग अच्छी ओर लगायें और खोटे विषय, इनको आश्रयभूत न बनायें। भगवानका दर्शन, पूजन, वंदन, चर्चा, गुणस्मरण, सामायिक आदिक कार्योंमें उपयोग यदि लगायें तो यद्यपि कर्म-विपाक खाली न जायगा मगर अव्यक्त विकार रहेगा, व्यक्त विकार नहीं रह सकता और व्यक्त विकार न होने पर उस आश्रव, बंधमें भी मंदता आती है और वह भी एक पुरुषार्थका कार्य बन आता है। तो यहाँ हम जब अच्छी स्थितिमें है, अच्छी योग्यता पायी है तो उसका अच्छा उपयोग करें। अंतस्तत्त्वका ध्यान करें। इस ही के प्रतापसे कल्याण होगा। अब चूंकि यह बात ज्ञान द्वारा साध्य है और ज्ञान प्राप्त होता है सत्संगसे, इसलिए जीवनमें सत्संगमें रहने व कुसंगके त्यागनेका बड़ा ध्यान रखना चाहिये।

॥ सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन तृतीय भाग समाप्त ॥

श्री पार्श्वनाथ पुस्तकालय
(DR. N. C. JAIN'S HOME LIBRARY)
गली पार्श्वनाथ, मौ० ...
.... अनुयोग ... संख्या......

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वास्तविकता

१– १०४२ जगतमे अनन्त आत्मा हैं और उससे अनन्त गुणे जड़ परमाणु हैं।

२– १०४३ वे सभी आत्मा व सभी अणु अनादिकालसे हैं, अनन्तकाल तक रहेंगे।

३– १०४४ प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक अणु अपने आप सत् है, किसीकी कृपा या असर से नहीं।

४– १०४५ प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी परिणतिसे ही परिणमते हैं, दूसरोंकी परिणतिसे नहीं।

५– १०४६ आत्माकी दो अवस्थाएँ होती हैं; पहली अशुद्धावस्था, दूसरी शुद्धावस्था।

६– १०४७ जहाँ आत्माके परमें आत्मबुद्धि है, अपनी या परकी पर्यायमें चित्त है, वह उसकी अशुद्धावस्था है।

७– १०४८ जब आत्मा संकल्प विकल्पसे रहित हो जाता है ज्ञाता मात्र रहता है वह उसकी शुद्धावस्था है।

८– १०४९ प्रत्येक आत्मा व अणु परस्पर अत्यंत भिन्न हैं। किसीके स्वरूपमें किसी का प्रवेश नहीं है।

९– १०५० शरीर और आत्माका सम्पर्क होते हुये पशु, पक्षी, मनुष्यादिके रूपमें होना अज्ञान दशाका फल है।

१०– १०५१ अणुवोंका काठ, पत्थर, ईंट, लोहा, सोना, चांदी, शरीर आदि स्कंध रूपमें होना उनकी विकार परिणतिका फल है।

११– १०५२ आत्मा निर्विकार होकर फिर कभी विकारी नहीं होता। परन्तु अणु निर्विकार होकर भी विकृत हो सकता।

१२–१०५३ आत्माके विकारका कारण पूर्वविकार है, अणुके विकारका कारण अणु के स्निग्ध रूक्ष गुणका परिणमन है।

१३– १०५४ किसी भी आत्मा या स्कंधके साथ अपना समवाय समझना अज्ञान है, दुःखका कारण है।

१४– १०५५ आत्मामें उठने वाली राग द्वेषादि तरंगें स्वभावसे नहीं हैं, इसीलिये नाशवान हैं व दुःख स्वरूप हैं।

१५– १०५६ पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं, जिसमें सामान्य अंश तो ध्रुव है, विशेष अंश अध्रुव है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

१६– १०५७ द्रव्यके त्रैकालिक, एकाकार (अखण्ड) स्वभावको 'सामान्य' कहते हैं, और उसकी प्रतिसमयकी अवस्थाओंको विशेष कहते हैं।

१७– १०५८ "सामान्यकी दृष्टिमें विकल्प नहीं, विशेषकी दृष्टिमें नाना विकल्प हैं।"

१८– १०५९ जीवके गुणोंका सामान्य स्वभावके अनुकूल विशेष (अवस्था) होना मोक्ष है, मुक्तात्माओंमें इसी कारण परस्पर विलक्षणता नहीं होती।

१९– १०६० मुक्तात्मा पूर्ण समान हैं, पूर्ण सर्वज्ञ हैं; जिनकी सत्य उपासना होने पर उपासकके उपयोगमें कोई व्यक्ति नहीं रहता।

२०– १०६१ जिस भावमें व्यक्ति नहीं उस भावमें परमात्मा एक है, वह भाव है शुद्ध चैतन्य भाव।

२१– १०६२ कोई भी आत्मा परमात्मा होकर शुद्ध चैतन्य भावरूप ब्रह्ममें मग्न हो जाता, उससे विपरीत सत्ता वाला नहीं रहता।

२२– १०६३ यही एक सत्य है, यही कल्याण है, यही "ॐ तत् सत्" यही "सत् चित् आनन्द" यही 'सत्यं शिवं सुन्दरं" है।

श्री पार्श्वनाथ पुस्तकालय
(DR. N. C. JAIN'S HOME LIBRARY)
गली पार्श्वनाथ, मौ० ठठेरवाड़ा, शहर
.... अनुयोग पुस्तक ...

मुद्रक—सहजानन्द शास्त्रमाला प्रेस, सदर मेरठ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com